संस्कृति से संवाद...

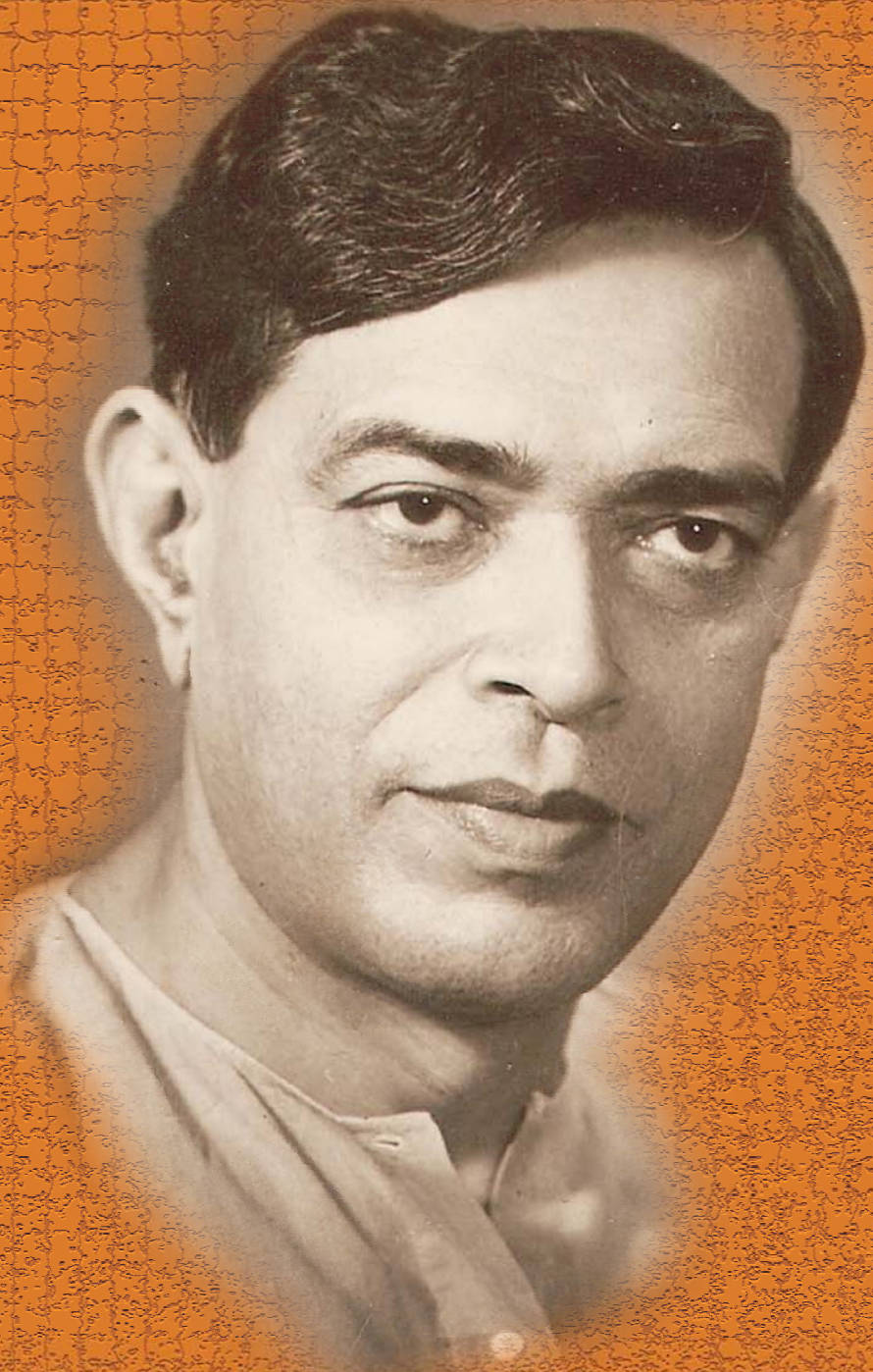

रामधारी सिंह दिनकर

संस्कृति से संवाद...

संपादक
नीरज कुमार

उप-संपादक
कविता नन्दन 'अमित'

प्रबंध-संपादक
अरुण कुमार ओझा

सलाहकार-संपादक
सुनील कुमार

संपादक मंडल
सत्येन्द्र सत्यार्थी
रामविलास
परीक्षित नारायण 'सुरेश'

संपादन सहयोग
राकेश रंजन
अरुण कुमार
कुमार पीयूष
राजू पाण्डेय
अमित पासवान

कला पक्ष
रविन्द्र रावत

सज्जा सहयोग
राम बाबू कुमार
योगेश कुमार

सहयोग राशि - रुपये 351/-

पर, इसे नहीं रोने का भी अवकाश मिला,
सारा जीवन कट गया आग सुलगाने में।
आखिर, वह भी सो गया जिंदगी ने जिसको,
था लगा रखा सोतो को छेड़ जगाने में॥

दिनकर

प्रकाशक
राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' स्मृति न्यास
द्वितीय तल, मुखर्जी टॉवर, डॉ० मुखर्जी नगर, दिल्ली-110009
फोन : 11-27654262, 47027661, टैलीफैक्स : 11-27654185
ई-मेल : dinkarsmriti@yahoo.co.in

अनुक्रम

संपादकीय

राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' स्मृति न्यास का सफरनामा

पंडित नेहरू के नजर में 'संस्कृति के चार अध्याय' 1

भारतीय संस्कृति का इतिहासकार 5
विजेन्द्र नारायण सिंह

उदासी: कभी ओज कभी खिलखिलाहट 11
भवानी प्रसाद मिश्र

दिनकर समय का सूर्य 15
डॉ. विवेकी राय

भारतीय संस्कृति का अख्यान : संस्कृति के चार अध्याय 17
डॉ. गोपाल राय

क्रोध करूणा सौन्दर्य के कवि 20
डॉ. नामवर सिंह

संस्कृति के चार अध्याय और दिनकर 22
डॉ. सत्यकेतु सांकृत

अक्षरों के वंश में दिनकर नहीं है गवाक्ष 26
शिवओम अम्बर

राष्ट्रकवि दिनकर 28
डा. कुमार विमल

साकार, दिव्य, गौरव विराट : दिनकर 30
प्रो. दिलीप सिंह

संस्कृति के चार अध्याय : कवि और चिंतक का द्वंद्व 35
सुखनन्दन

गद्य कृतियों के बहाने दिनकर का स्मरण 41
डॉ. ओमप्रकाश सिंह

मॉरीशस : हिन्द महासागर में छोटा हिन्दुस्तान 43
डॉ. रामधारी सिंह 'दिनकर'

दिनकर की कलम और तलवार में राष्ट्रीयता 45
डॉ. मो० जमील अहमद

संस्कृति के चार अध्याय एक विश्लेषण 46
डॉ सुनीला सूद

दिनकर की पाती मित्रों के नाम 51

दिनकर के काव्य में राष्ट्रीयता के विविध आयाम 81
एम. वेंकटेश्वर

रामधारी सिंह दिनकर का काव्य : राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना की सशक्त अभिव्यक्ति 85
प्रो. महावीर सरल जैन
संस्कृति के चार अध्याय - एक विशद पड़ताल भारतीय संस्कृति की 88
पंकज सुबीर
दिनकर : हिन्दी कविता का युवा हृदय सम्राट 94
प्रो. गोपेश्वर सिंह
चिन्तन एक मनीषी का 97
डॉ. मीनाक्षी जोशी
भारतीय संस्कृति और दिनकर 100
सविता असवाल 'दीपशिखा'
ओजस्वी विचारों के राष्ट्रीय कवि दिनकर 106
प्रो. बी. मोहिनी
दिनकर विषयक अध्ययन और अनुसंधान की दिशाएँ 108
डॉ. बालेन्दु शेखर तिवारी
जो तटस्थ हैं समय लिखेगा उनका भी अपराध 111
डॉ० रंजना जायसवाल
दिनकर का सांस्कृतिक बोध 114
ज्योत्सना सिंह
कलम के सिपाही दिनकर के प्रति 118
डॉ. महाश्वेता चौधरी
कर्मठ वेदान्त : स्वामी विवेकानन्द 119
रामधारी सिंह 'दिनकर'
दिनकर और भारतीय संस्कृति 131
प्रो० के० पी० शर्मा
संस्कृति के चार अध्याय : अतीत से मुलाकात 134
राजेश मंझवेकर
दिनकर की इतिहास दृष्टि और सांस्कृतिक सरोकार 136
नारायण कुमार
संस्कृति के चार अध्याय : दिनकर का दायित्व बोध 142
कविता नन्दन 'अमित'
संस्कृति के चार अध्याय - मनीषियों के विचार 151
स्मृतियों में...

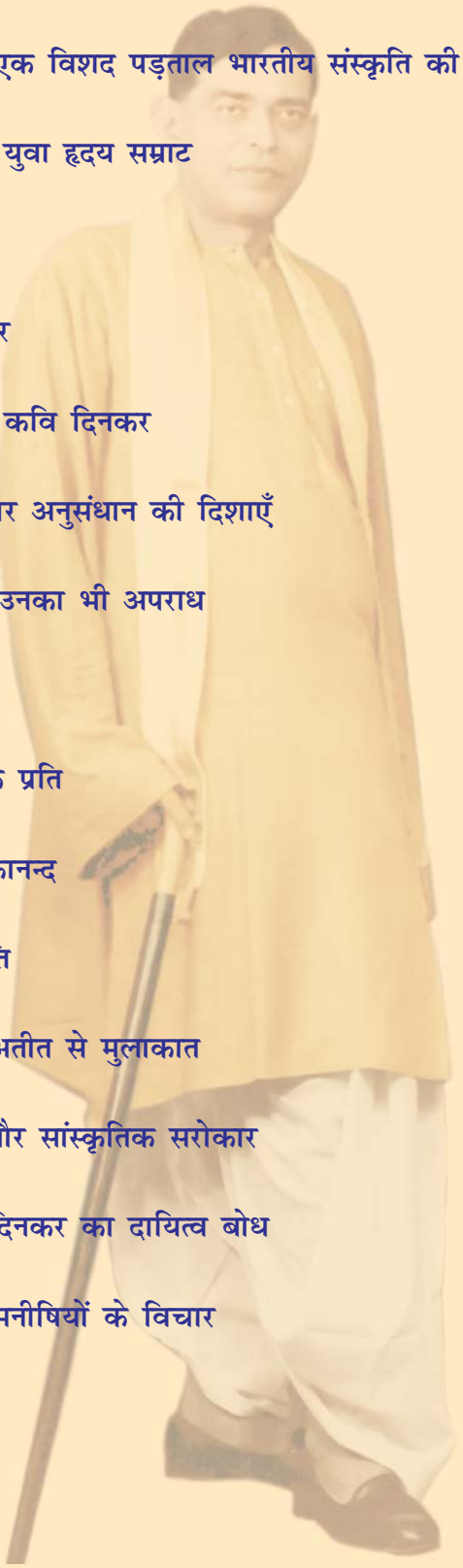

संपादकीय

राष्ट्रकवि दिनकर राष्ट्रीयधारा के उन कवियों में है जिन्होंने स्वतंत्रता आन्दोलन में साहित्य को माध्यम बनाकर महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। दिनकर का साहित्य संसार उनके व्यक्तित्व की छाया है, जहाँ राष्ट्रप्रेम की प्रवाहमयी धारा का उद्वेग है, जहाँ अपनी संस्कृति के प्रति सम्मान की भावना का विस्तार है। उनकी रचनाओं में, जहाँ विशेष रूप से कविताओं ने राष्ट्रीय एकता का बिगुल बजाया वहीं उनके गद्य साहित्य ने सांस्कृतिक एकता को कायम रखने का संदेश भी दिया है। उनकी रचनाओं में कुरुक्षेत्र, रश्मिरथी, रेणुका, बापू, दिल्ली, मिट्टी की ओर, शुद्ध कविता की खोज, संस्कृति के चार अध्याय की मूल चेतना सामाजिक-न्याय और सहभागिता की दिशा में, हमारे लिए मार्गदर्शक का काम करती है।

'संस्कृति के चार अध्याय' दिनकर की कालजयी रचना है। यह रचना अपनी संस्कृति सभ्यता और दायित्व बोध के प्रति प्रतिबद्धता को समर्पित है। भारतीय संस्कृति और सभ्यता की अपनी अलग ही विशेषता रही है। इसकी सामासिकता इन्द्रधनुषी रंगो की तरह है। संस्कृति के चार अध्याय की मूल चेतना में यही भाव है कि हमारी सामासिक-सांस्कृतिक सभ्यता आरम्भ से लेकर आज तक सभी को और सभी का सब कुछ अपने आप में समाहित करके चलती रही है। इसीलिए यह बहुरंगी है; आस्तिकता- नास्तिकता, योग-प्रयोग, आर्य-द्रविड़, हिन्दू-मुस्लिम, सिख-ईसाई न जाने कितने आयाम है : जो इसके साथ जुड़ा, जुड़कर एकाकार हो गया।

संस्कृति के चार अध्याय के माध्यम से वे हमारे अतीत में इसीलिए जाते है कि हम अपने उद्भव और विकास को भली-भांति समझ सकें। शिवालिक की पहाड़ियों के बीच जहाँ भारतीयता जन्म लेती दिखाई देती है वहीं उत्तर-दक्षिण के मेल से आर्य-द्रविड़ संस्कृति का विकास होता है। यह मेल ही एक सभ्यता और संस्कृति का निर्माण करता है जिसकी तुलना न किसी सभ्यता से हो सकती और न ही किसी संस्कृति से। यह सभ्यता और संस्कृति ही भारतीयता है।

'संस्कृति के चार अध्याय' के सामाजिक-सांस्कृतिक महत्व को देखते हुए देश के साहित्यकारों, विचारकों, शोधार्थियों से उनके वैचारिक सहयोग से स्मारिका 'संस्कृति से संवाद' का प्रकाशन किया गया है।

दिनकर के जन्मशताब्दी वर्ष के समापन पर न्यास ने 'संस्कृति से संवाद' के संपादन का दायित्व मुझे दिया, जिसे पूरा करने का हर संभव प्रयास किया है, फिर भी मानवोचित्त भूलें अवश्य हुई होगी। पूरे देश से बुद्धिजीवियों के पर्याप्त मात्रा में लेख और सुझाव आए। राष्ट्रकवि दिनकर अपने काव्य-साहित्य के माध्यम से देश की जनता के हृदय में रचे-बसे हैं, सो काफी लेख तो उनकी राष्ट्रीय कविताओं पर ही केन्द्रित थे, लेकिन 'संस्कृति से संवाद' को 'संस्कृति के चार अध्याय' पर ही केन्द्रित करने के विचार से हम उन्हें इसमें शामिल नहीं कर सके। संस्कृति के चार अध्याय की प्रस्तावना देश के प्रथम प्रधानमंत्री और दिनकर के मित्र पंडित जवाहरलाल नेहरू ने लिखा था। उसके महत्व को देखते हुए इस ऐतिहासिक प्रस्तावना को 'संस्कृति के संवाद' में शामिल करना अनिवार्य लगता है।

देश भर से न्यास ने राष्ट्रकवि दिनकर के जीवन की कुछ अनमोल स्मृतियाँ संग्रहित किया है, जो दिनकर प्रेमियों के लिए धरोहर की तरह होगी। दिनकर के अनमोल पत्र, चित्र जो पाठक तक जो सहजता से नहीं पहुंच पाते, उन्हें प्रमुखता प्रदान की गई है। स्मारिका के आकार को देखते हुए, स्थानाभाव के कारण कई लेखों को प्रकाशित कर पाने में हम असमर्थ रहे, जिसके लिए क्षमा प्रार्थी हूँ। इस आशा के साथ कि 'संस्कृति से संवाद' आप सभी विद्वजनों को पसंद आएगी और आपका वैचारिक सहयोग हमे यथावत मिलता रहेगा।

संपादक

नीरज कुमार

राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' स्मृति न्यास का सफरनामा...

विगत तेरह वर्षों में न्यास ने दिनकर के साहित्यिक आन्दोलन को प्रतिबद्धता के साथ स्वीकार करते हुए क्रियान्वित किया है। उसी प्रयास के तहत दिनकर की कालजयी कृति 'सस्कृति के चार अध्याय' के सामाजिक, सांस्कृतिक महत्व को देखते हुए स्मारिका 'संस्कृति से संवाद' का प्रकाशन किया गया है।

राष्ट्रकवि रामधारी सिंह दिनकर स्मृति न्यास के प्रयासों के तहत पूरे देश में अब तक 90 सरकारी और कस्बों, शहरों में कुल मिलाकर 3200 स्थानों पर साहित्यिक संगोष्ठियों और पुस्तक प्रदर्शनी के माध्यम से दिनकर साहित्य

का वितरण किया जा चुका है। बिहार राज्य में दिनकर जयंती दिवस के रूप में मनाए जाने को लेकर आन्दोलन हुआ और उसमें हमने सफलता भी पाई। दिनकर हमारी संसद के सम्मानित सांसद रह चुके हैं लेकिन उनके जाने के 33 वर्षों बाद भी संसद भवन में उनका कहीं कोई चित्र नहीं था। 'न्यास ने अपने आन्दोलन को लक्षित करते हुए निरंतर प्रयास किया और यहाँ भी सफलता पाई। आज संसद के केन्द्रीय कक्ष में दिनकर का 'तैल चित्र' लगा हुआ है, जो आने वालों को याद दिलाता रहेगा कि सही मायने में राजनीति लोकतंत्र के विकास के लिए होनी

चाहिए, जहाँ कोई भूखा-नंगा, अशिक्षित बेरोजगार, दीन-दु:खी न रहे। न्यास ने दिनकर के साहित्य, राजनैतिक योगदान और उपलब्धियों को जन-जन तक प्रेरणा-रूप में, पहुँचाने -समझाने के लिए एक वृत्त चित्र भी बनाया है। न्यास निरन्तर प्रयासरत है कि पूरे देश में दिनकर साहित्य के आदर्शों को साहित्य, राजनीति और सामाजिक- जीवन का महत्वपूर्ण अंग बनाया जाए ताकि एक स्वाभिमानी राष्ट्र की स्थापना हो सके। इसी आन्दोलन के तहत न्यास प्रतिवर्ष दिनकर की जयंती पर एक स्मारिका का प्रकाशन करता है। जिसमें पूरे देश के बुद्धिजीवियों, साहित्यकारों, राजनीतिज्ञों और दिनकर साहित्य पर शोध करने वाले शोधार्थियों से रचनात्मक सहयोग और सुझाव का आह्वान करता है। जन्मशताब्दी वर्ष 2008 में 'रामधारी सिंह दिनकर जन्मशताब्दी समारोह' के सुअवसर दिनकर की राष्ट्रीय कविताओं को केन्द्रित करते हुए ''हुँकार हूँ मैं'' के नाम से स्मारिका प्रकाशित की गई थी। जन्मशताब्दी वर्ष के समापन पर न्यास ने दिनकर की स्मारिका 'संस्कृति से संवाद' का प्रकाशन किया है, जिसका विमोचन 'रामधारी सिंह दिनकर जन्मशताब्दी समारोह' के सुअवसर पर 20 सितम्बर 2009 को मावलंकर सभागार, रफी मार्ग, नई दिल्ली में हो रहा है।

पंडित नेहरू की नज़र में 'संस्कृति के चार अध्याय'

मेरे मित्र और साथी दिनकर ने अपनी पुस्तक के लिए जो विषय चुना है, वह बहुत ही मोहक और दिलचस्प है। यह ऐसा विषय है, जिससे, अक्सर, मेरा अपना मन भी ओतप्रोत रहा है और मैंने जो कुछ लिखा है, उस पर इस विषय की छाप, आप-से-आप, पड़ गयी है। अक्सर मैं अपने आप से सवाल करता हूँ, भारत है क्या? उसका तत्त्व या सार क्या है? वे शक्तियाँ कौन-सी हैं, जिनसे भारत का निर्माण हुआ है तथा अतीत और वर्त्तमान विश्व को प्रभावित करनेवाली प्रमुख प्रवृत्तियों के साथ उनका क्या सम्बन्ध है? यह विषय अत्यन्त विशाल है, और उसके दायरे में भारत से बाहर के तमाम मानवीय व्यापार आ जाते हैं। और मेरा ख्याल है कि किसी भी व्यक्ति के लिए यह सम्भव नहीं है कि वह इस सम्पूर्ण विषय के साथ अकेला ही न्याय कर सके। फिर भी, इसके कुछ खास पहलुओं को लेकर उन्हें समझने की कोशिश की जा सकती है। कम-से-कम, यह तो सम्भव है ही कि हम अपने भारत को समझने का प्रयास करें, यद्यपि, सारे संसार को अपने सामने न रखने पर भारत-विषयक जो ज्ञान हम प्राप्त करेंगे, वह अधूरा होगा।

संस्कृति है क्या? शब्दकोश उलटने पर इसकी अनेक परिभाषाएँ मिलती हैं। एक बड़े लेखक का कहना है कि "संसार भर में जो भी सर्वोत्तम बातें जानी या कही गयी हैं, उनसे अपने आप को परिचित करना संस्कृति है।" एक दूसरी परिभाषा में यह कहा गया है कि "संस्कृति शारीरिक या मानसिक शक्तियों का प्रशिक्षण, दृढ़ीकरण या विकास अथवा उससे उत्पन्न अवस्था है।" यह "मन, आचार अथवा रुचियों की परिष्कृति या शुद्धि" है। यह "सभ्यता का भीतर से प्रकाशित हो उठना है।" इस अर्थ में, संस्कृति कुछ ऐसी चीज का नाम हो जाता है, जो बुनियादी और अन्तर्राष्ट्रीय है। फिर, संस्कृति के कुछ राष्ट्रीय पहलू भी होते हैं। और इसमें कोई सन्देह नहीं कि अनेक राष्ट्रों ने अपना कुछ विशिष्ट व्यक्तित्त्व तथा अपने भीतर कुछ खास ढंग के मौलिक गुण विकसित कर लिये हैं।

इस नक्शे में भारत का स्थान कहाँ पर है? कुछ लोगों ने हिन्दू-संस्कृति, मुस्लिम-संस्कृति और ईसाई-संस्कृति की चर्चा की है। ये नाम मेरी समझ में नहीं आते, यद्यपि यह सच है कि जातियों और राष्ट्रों की संस्कृतियों पर बड़े-बड़े धार्मिक आन्दोलनों का असर पड़ा है। भारत की ओर देखने पर मुझे लगता है, जैसा कि दिनकर ने भी जोर देकर दिखलाया है, कि भारतीय जनता की संस्कृति का रूप सामासिक है और उसका विकास धीरे-धीरे हुआ है। एक ओर तो इस संस्कृति का मूल आर्यों से पूर्व, मोहनजोदड़ो आदि की सभ्यता तथा द्रविड़ों की महान् सभ्यता तक पहुँचता है। दूसरी ओर, इस संस्कृति पर आर्यों की बहुत ही गहरी छाप है, जो भारत में मध्य एशिया से आये थे। पीछे चलकर, यह संस्कृति उत्तर-पश्चिम से आनेवाले तथा फिर समुद्र की राह से पश्चिम से आनेवाले लोगों से बार-बार प्रभावित हुई। इस प्रकार, हमारी राष्ट्रीय संस्कृति ने धीरे-धीरे बढ़कर अपना आकार ग्रहण किया। इस संस्कृति में समन्वयन तथा नये उपकरणों को पचा कर आत्मसात् करने की अद्‌भुत योग्यता थी। जब तक इसका यह गुण शेष रहा, यह संस्कृति जीवित और गतिशील रही। लेकिन, बाद में आकर इसकी गतिशीता जाती रही, जिससे यह संस्कृति जड़ हो गयी और उसके सारे पहलू कमजोर पड़ गये। भारत के समग्र इतिहास में हम दो परस्पर-विरोधी और प्रतिद्वन्द्वी शक्तियों को काम करते देखते हैं। एक तो वह शक्ति है जो बाहरी उपकरणों को पचाकर समन्वय और सामंजस्य पैदा करने की कोशिश करती है, और दूसरी वह जो विभाजन को प्रोत्साहन देती है; जो एक बात को दूसरी से अलग करने की प्रवृत्ति को बढ़ाती है। इसी समस्या का, एक भिन्न प्रसंग में, हम आज भी मुकाबला कर रहे हैं। आज भी कितनी ही बलिष्ठ शक्तियाँ हैं, जो केवल राजनैतिक ही नहीं, सांस्कृतिक एकता के लिए भी प्रयास कर रही हैं। लेकिन, ऐसी ताकतें भी हैं, जो जीवन में विच्छेद डालती हैं, जो मनुष्य-मनुष्य के बीच भेद-भाव बढ़ावा देती हैं।

अतएव, आज हमारे सामने जो प्रश्न है, वह केवल सैद्धान्तिक नहीं है, उसका सम्बन्ध हमारे जीवन की सारी प्रक्रिया से है और उसके समुचित निदान और समाधान पर ही हमारा भविष्य निर्भर करता है। साधारणतः, ऐसी समस्याओं

को सुलझाने में नेतृत्व देने का काम मनीषी करते हैं। किन्तु, वे हमारे काम नहीं आये। उनमें से कुछ तो ऐसे हैं, जो इस समस्या के स्वरूप को ही नहीं समझते। बाकी लोग हार मान बैठे हैं। वे विफलता-बोध से पीड़ित तथा आत्मा के संकट से ग्रस्त हैं और वे जानते ही नहीं कि जिन्दगी को किस दिशा की ओर मोड़ना ठीक होगा।

बहुत-से मनीषी मार्क्सवाद और उसकी शाखाओं की ओर आकृष्ट हुए और इसमें कोई सन्देह नहीं कि मार्क्सवाद ने ऐतिहासिक विकास का विश्लेषण उपस्थित करके समस्याओं पर सोचने और उन्हें समझने के काम में हमारी सहायता की। लेकिन, आखिर को, वह भी संकीर्ण मतवाद बन गया और जीवन की आर्थिक पद्धति के रूप में उसका चाहे जो भी महत्त्व हो, हमारी बुनियादी शंकाओं का समाधान निकालने में वह भी नाकामयाब है। यह मानना तो ठीक है कि आर्थिक उन्नति जीवन और प्रगति का बुनियादी आधार है, लेकिन जिन्दगी वहीं तक खत्म नहीं होती। वह आर्थिक विकास से कहीं ऊँची चीज है। इतिहास के अन्दर हम दो सिद्धान्तों का काम करते देखते हैं। एक तो सातत्य का सिद्धान्त है और दूसरा परिवर्तन का। ये दोनों सिद्धान्त परस्पर-विरोधी से लगते हैं, परन्तु, ये विरोधी हैं नहीं। सातत्य के भीतर भी परिवर्तन का अंश है। इसी प्रकार पवित्तन भी अपने भीतर सातत्य का कुछ अंश लिये रहता है। असल में, हमारा ध्यान उन्हीं परिवर्तनों पर जाता है, जो हिंसक क्रान्तियों या भूकम्प के रूप में अचानक फट पड़ते हैं। फिर भी, प्रत्येक भूगर्भ-शास्त्री यह जानता है कि धरती की सतह में जो बड़े-बड़े परिवर्तन होते हैं, उनकी चाल बहुत धीमी होती है और भूकम्प में हानेवाले परिवर्तन उनकी तुलना में अत्यन्त तुच्छ समझे जाते हैं। इसी तरह, क्रान्तियाँ भी धीरे-धीरे होने वाले परिवर्तन और सूक्ष्म रूपान्तरण की बहुत लम्बी प्रक्रिया का बाहरी प्रमाण मात्र होती हैं। इस दृष्टि से देखने पर, स्वयं परिवर्तन एक ऐसी प्रक्रिया है, जो परम्परा के आवरण में लगातार चलती रहती है। बाहर से अचल दीखनेवाली परम्परा भी, यदि जड़ता और मृत्यु का पूरा शिकार नहीं बन गयी है, तो धीरे-धीरे वह भी परिवर्तित हो जाती है।

इतिहास में कभी-कभी ऐसा भी समय आता है जब परिवर्तन की प्रक्रिया और उसकी तेजी कुछ अधिक प्रत्यक्ष हो जाती है। लेकिन, साधारणतः, बाहर से उसकी गति दिखायी नहीं देती। परिवर्तन का बाहरी रूप, प्रायः, निस्पन्द ही दीखता है। जातियाँ जब अगति की अवस्था में रहती हैं, तब उनकी शक्ति दिनोंदिन छीजती जाती है, उनकी कमजोरियाँ बढ़ती जाती हैं। परिणाम यह होता है कि उनकी रचनात्मक कलाओं और प्रवृत्तियों का क्षय हो जाता है। तथा अक्सर, वे राजनैतिक दृष्टि से गुलाम भी हो जाती हैं।

सम्भावना यह है कि भारत में संस्कृति के सबसे प्रबल उपकरण आर्यों और आर्यों से पहले के भारतवासियों, खासकर, द्रविड़ों के मिलन से उत्पन्न हुए। इस मिलन, मिश्रण या समन्वय से एक बहुत बड़ी संस्कृति उत्पन्न हुई, जिसका प्रतिनिधित्व हमारी प्राचीन भाषा संस्कृति करती है।, संस्कृत और प्राचीन पहलवी, ये दोनों भाषाएँ एक ही माँ से मध्य एशिया में जनमी थीं, किन्तु, भारत में आकर संस्कृत ही यहाँ की राष्ट्रभाषा हो गयी। यहाँ संस्कृत के विकास में उत्तर और दक्षिण, दोनो ने योगदान दिया। सच तो यह है कि आगे चलकर संस्कृत के उत्थान में दक्षिणवालों का अंशदान अत्यन्त प्रमुख रहा। संस्कृत हमारी जनता के विचार और धर्म का ही प्रतीक नहीं बनी, वरन्, भारत की सांस्कृतिक एकता भी उसी भाषा में साकार हुई। बुद्ध के समय से लेकर अब तक संस्कृत यहाँ की जनता की बोली जानेवाली भाषा कभी नहीं रही है, फिर भी, सारे भारतवर्ष पर वह अपना प्रचुर प्रभाव डालती ही आयी है। कुछ दूसरे प्रभाव भी भारत पहुँचे और उनसे भी विचारों और अभिव्यक्तियों की नयी दिशाएँ प्राप्त हुईं।

काफी लम्बे इतिहास के अन्दर, भूगोल ने भारत को जो रूप दिया, उससे वह एक ऐसा देश बन गया, जिसके दरवाजे बाहर की ओर से बन्द थे। समुद्र और महाशैल हिमालय से घिरा होने के कारण, बाहर से किसी का इस देश में आना आसान नहीं था। कई सहस्त्राब्दियों के भीतर, बाहर से लोगों के बड़े-बड़े झुण्ड भारत में आये, किन्तु, आर्यों के आगमन के बाद से कभी भी ऐसा नहीं हुआ, जब बाहरी लोग बहुत बड़ी संख्या में भारत आये हों। ठीक इसके विपरीत, एशिया और यूरोप के आर-पार मनुष्यों के अपार आगमन और निष्क्रमण होते रहे; एक जाति दूसरी जाति को खदेड़ कर वहाँ खुद बसती रही और, इस प्रकार, जनसंख्या की बुनवावट में बहुत बड़ा परिवर्तन होता रहा। भारत में, आर्यों के आगमन के बाद, बाहरी लोगों के जो आगमन हुए, उनके दायरे बहुत ही सीमित थे। उनका कुछ-न-कुछ प्रभाव तो पड़ा, किन्तु उससे यहाँ की बुनियादी जनसंख्या के स्वरूप में कोई बड़ा परिवर्तन नहीं आया। लेकिन, फिरभी, याद रखना चाहिए कि ऐसे कुछ परिवर्तन भारत में भी हुए हैं। सीथियन और हूण लोग तथा उनके बाद भारत आनेवाली कुछ अन्य जातियों के लोग यहाँ आकर राजपूतों की शाखाओं में शामिल हो गये और यह दावा करने लगे कि हम भी प्राचीन भारतवासियों की सन्तान हैं। बहुत दिनों तक बाहरी दुनिया से अलग रहने के कारण, भारत का स्वभाव भी और देशों से भिन्न हो गया। हम ऐसी जाति बन गये, जो अपने आप से घिरी रहती है। हमारे भीतर कुछ ऐसे रिवाजों का चलन हो गया, जिन्हें बाहर के लोग न जानते हैं, न समझ ही

पाते हैं। जाति-प्रथा के असंख्या रूप भारत के इसी विचित्र स्वभाव के उदाहरण हैं। किसी भी दूसरे देश के लोग यह नहीं जानते कि छुआछूत क्या चीज है तथा दूसरों के साथ खाने-पीने या विवाह करने में, जाति को लेकर, किसी को क्या उज्र होना चाहिए। इन सब बातों को लेकर हमारी दृष्टि संकुचित हो गयी। आज भारतवासियों को दूसरे लोगों से खुल कर मिलने में कठिनाई महसूस होती है। यही नहीं, जब भारतवासी भारत से बाहर जाते हैं, तब वहाँ भी एक जाति के लोग दूसरी जाति के लोगों से अलग रहना चाहते हैं। इममें से बहुत लोग इन सारी बातों को स्वयंसिद्ध मानते हैं और हम यह समझ ही नहीं पाते कि इन बातों से दूसरे देशवालों को कितना आश्चर्य होता है, उनकी भावना को कैसी ठेस पहुँचती है।

भारत में दोनों बातें एक साथ बढ़ीं। एक ओर तो विचारों और सिद्धान्तों में हमने अधिक-से-अधिक उदार और सहिष्णु होने का दावा किया। दूसरी ओर, हमारे सामाजिक आचार अत्यन्त संकीर्ण होते गये। यह फटा हुआ व्यक्तित्व, सिद्धान्त और आचरण का यह विरोध, आज तक हमारे साथ है और आज भी हम उसके विरुद्ध संघर्ष कर रहे हैं। कितनी विचित्र बात है कि अपनी दृष्टि की संकीर्णता, आदतों और रिवाजों की कमजोरियों को हम यह कह कर नजर-अन्दाज कर देना चाहते हैं कि हमारे पूर्वज बड़े लोग थे और उनके बड़े-बड़े विचार हमें विरासत में मिले हैं। लेकिन, पूर्वजों से मिले हुए ज्ञान एवं हमारे आचरण में भारी विरोध हैं और जब तक हम इस विरोध की स्थिति को दूर नहीं करते, हमारा व्यक्तित्व फटा का फटा रह जायेगा।

जिन दिनों जीवन अपेक्षाकृत अधिक गतिहीन था, उन दिनों सिद्धान्त और आचरण का यह विरोध उतना उग्र नहीं दिखायी देता था। लेकिन, ज्यों-ज्यों राजनैतिक और आर्थिक परिवर्तनों की रफ्तार तेज होती गयी, इस विरोध की उग्रता भी अधिक-से-अधिक प्रत्यक्ष होती आयी है। आज तो हम आणविक युग के दरवाजे पर खड़े हैं। इस युग की परिस्थितियाँ इतनी प्रबल हैं कि हमें अपने इस आन्तरिक विरोध का शमन करना ही पड़ेगा। और इस काम में हम कहीं असफल हो गये तो यह असफलता सारे राष्ट्र की पराजय होगी और हम उन अच्छाइयों को भी खो बैठेंगे, जिन पर हम आज तक अभिमान करते आये है।

जैसे हम बड़ी-बड़ी राजनैतिक और आर्थिक समस्याओं का मुकाबला कर रहे हैं, वैसे ही, हमें भारत के इस आध्यात्मिक संकट का भी सामना करना चाहिए। भारत में औद्योगिक क्रान्ति बड़ी तेजी से आ रही है और हम नाना रूपों में बदलते जा रहे हैं। राजनैतिक और आर्थिक परिवर्तनों का यह अनिवार्य परिणाम है कि उनसे सामाजिक परिवर्तन उत्पन्न होते हैं, अन्यथा समन्वय न तो हमारे वैयक्तिक जीवन में रह सकता है, न राष्ट्रीय जीवन में। ऐसा नहीं हो सकता कि राजनैतिक परिवर्तन और औद्योगिक प्रगति तो हो, किन्तु हम यह मान कर बैठे रह जायँ कि सामाजिक क्षेत्र में हमें कोई परिवर्तन लाने की आवश्यकता नहीं है। राजनैतिक और आर्थिक परिवर्तनों के अनुसार समाज को परिवर्तित नहीं करने से हम पर जो बोझ पड़ेगा, उसे हम बर्दाश्त नहीं कर पायँगे, उसके नीचे हम टूट जायँगे।

ईसा के जन्म के बाद पहली सहस्त्राब्दी और उससे पहले के भारत की जो तस्वीर हमारे सामने आती है, वह उस तस्वीर से भिन्न है, जो बाद में मिलती है। उन दिनों के भारतवासी बड़े मस्त, बड़े जीवन्त, बड़े साहसी और जीवन के प्रति अद्‌भुत उत्साह से युक्त थे तथा अपना सन्देश वे विदेशों में दूर-दूर तक ले जाते थे। विचारों के क्षेत्र में तो उन्होंने ऊँची-से-ऊँची चोटियों पर अपने कदम रखे और आकाश को चीर डाला। उन्होंने अत्यन्त गौरवमयी भाषा की रचना की और कला के क्षेत्र में उन्होंने अत्यन्त उच्चकोटि की कारयित्री प्रतिभा का परिचय दिया। उन दिनों का भारतीय जीवन घेरों में बन्द नहीं था, न तत्कालीन समाज में ही जड़ता या गतिहीनता की कोई बात थी। उस समय एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक, समग्र भारतवर्ष में सांस्कृतिक उत्साह भी लहरें ले रहा था। इसी समय, दक्षिण भारतवर्ष के लोग दक्षिण-पूर्व एशिया की ओर गये और वहाँ उन्होंने अपना उपनिवेश स्थापित किया। दक्षिण से ही बौद्ध मत का सन्देश लेकर बोधि-धर्म चीन पहुँचा। इस साहसिक जीवन की अभिव्यक्ति में उत्तर और दक्षिण, दोनों एक थे और वे परस्पर एक दूसरे का पोषण भी करते थे।

इसके बाद, पिछली शताब्दियों का समय आता है, जब पतन की प्रक्रिया शुरू हो जाती है। भाषा में कृत्रिमता और स्थापत्य में सजावट की भरमार इसी पतनशीलता के प्रमाण हैं। यहाँ आकर हमारे विचार पुराने विचारों की आवृत्ति बन जाते हैं और कारयित्री शक्ति दिनोंदिन क्षीण होने लगलती है। शरीर और मन दोनों की साहसिकता से हम भय खाने लगते हैं तथा जाति-प्रथा का और भी विकास होता है एवं समाज के दरवाजे चारों ओर से बन्द हो जाते हैं। पहले की तरह बातें तो हम अब भी ऊँची-ऊँची करते हैं, लेकिन, हमारा आचरण हमारे विश्वास से भिन्न हो जाता है।

हमारे आचरण की तुलना में हमारे विचार और उद्‌गार इतने ऊँचे हैं कि उन्हें देख कर आश्चर्य होता है। बातें तो हम शान्ति और अहिंसा की करते हैं, मगर, काम हमारे कुछ और होते हैं। सिद्धान्त तो हम सहिष्णुता का बघारते हैं, लेकिन भाव हमारा यह होता है कि सब लोग वैसे ही सोचें, जैसे हम सोचते हैं, और जब भी कोई हमसे भिन्न प्रकार से

सोचता है, तब हम उसे बर्दाश्त नहीं कर सकते। घोषणा तो हमारी यह है कि स्थितप्रज्ञ बनना अर्थात् कर्मों के प्रति अनासक्त रहना हमारा आदर्श है, लेकिन काम हमारे बहुत नीचे के धरातल पर चलते हैं और बढ़ती हुई अनुशासनहीनता हमें वैयक्तिक और सामाजिक, दोनों ही क्षेत्रों में नीचे ले जाती है।

जब पश्चिम के लोग समुद्र पास से यहाँ आये, तब भारत के दरवाजे एक खास दिशा की ओर खुल गये। आधुनिक औद्योगिक सभ्यता बिना किसी शोर-गुल के धीरे-धीरे, इस देश में प्रविष्ट हो गयी। नये भावों और नये विचारों ने हम पर हमला किया और हमारे बुद्धिजीवी अँगरेज-बुद्धिजीवियों की तरह सोचने का अभ्यास करने लगे। यह मानसिक, आन्दोलन, बाहर की ओर वातायन खोलने का यह भाव, अपने ढंग पर अच्छा रहा, क्योंकि इससे हम आधुनिक जगत् को थोड़ा-बहुत समझने लगे। मगर, इससे एक दोष भी निकला कि हमारे ये बुद्धिजीवी जनता से विच्छिन्न हो गये, क्योंकि जनता विचारों की इस नयी लहर से अप्रभावित थी। परम्परा से भारत में चिन्तन की जो पद्धति चली आ रही थी, वह टूट गयी। फिर भी, कुछ लोग इससे इस ढंग से चिपके रहे, जिसमें न तो प्रगति थी, न रचना की नयी उद्भावना और जो पूर्ण रूप से नयी परिस्थितियों से असम्बद्ध थी।

पाश्चात्य विचारों में भारत का जो विश्वास जगा था, अब तो वह भी हिल रहा है। नतीजा यह है कि हमारे पास न तो पुराने आदर्श हैं, न नवीन; और हम बिना यह जाने हुए बहते जा रहे हैं कि हम किधर को या कहाँ जा रहे हैं? नयी पीढ़ी के पास न तो कोई मानदण्ड है, न कोई दूसरी ऐसी चीज, जिससे वह अपने चिन्तन या कर्म को नियन्त्रित कर सके।

यह खतरे की स्थिति है। अगर इसका अवरोध और सुधार नहीं हुआ तो इससे भयानक परिणाम निकल सकते हैं। हम आर्थिक, राजनैतिक और सामाजिक क्षेत्रों में संक्रान्ति की अवस्था से गुजर रहे हैं। सम्भव है, यह उसी स्थिति का अनिवार्य परिणाम हो। लेकिन, आणविक युग में किसी देश को अपना सुधार करने के लिए ज्यादा मौके नहीं दिये जायेंगे। और इस युग में मौका चूकने का अर्थ सर्वनाश भी हो सकता है।

यह सम्भव है कि संसार में जो बड़ी-बड़ी ताकतें काम कर रही हैं, उन्हें हम पूरी तरह न समझ सकें, लेकिन, इतना तो हमें समझना ही चाहिए कि भारत क्या है और कैसे इस राष्ट्र ने अपने सामासिक व्यक्तित्व का विकास किया है; उसके व्यक्तित्व के विभिन्न पहलू कौन-से हैं और उसकी सुदृढ़ एकता कहाँ छिपी हुई है। भारत में बसनेवाली कोई भी जाति यह दावा नहीं कर सकती कि भारत के समस्त मन और विचारों पर उसी का एकाधिकार है। भारत आज जो कुछ है, उसकी रचना में भारतीय जनता के प्रत्येक भाग का योगदान है। यदि हम इस बुनियादी बात को नहीं समझ पाते तो फिर हम भारत को भी समझने में असमर्थ रहेंगे। और यदि भारत को हम नहीं समझ सके तो हमारे भाव, विचार और काम, सब-के-सब अधूरे रह जायेंगे और हम देश की ऐसी कोई सेवा नहीं कर सकेंगे, जो ठोस और प्रभावपूर्ण हो।

मेरा विचार है कि दिनकर की पुस्तक इन बातों के समझने में, एक हद तक, सहायक होगी। इसलिए, मैं इसकी सराहना करता हूँ और आशा करता हूँ कि इसे पढ़कर अनेक लोग लाभान्वित होंगे।

नयी दिल्ली -जवाहरलाल नेहरू
३० सितम्बर, १९५५

साभार- 'संस्कृति के चार अध्याय' से

दिनकर जी को संस्कृति के चार अध्याय के लिए साहित्य अकादमी पुरस्कार प्रदान करते हुए देश के प्रथम प्रधानमंत्री पं० जवाहर लाल नेहरू

भारतीय संस्कृति का इतिहासकार

विजेन्द्र नारायण सिंह

इतिहास तथ्यों का संकलन मात्र नहीं होता है। इतिहास का लेखन किसी वैचारिक परिप्रेक्ष्य से होता है। कवि दिनकर ने संस्कृति के चार अध्याय ग्रंथ की रचना स्वाधीनता आंदोलन के संदर्भ में उभरनेवाले मूल्यों के संदर्भ में की है। वे संस्कृति के राष्ट्रवादी इतिहासकार हैं। जिस राष्ट्रवादी इतिहास-दर्शन का प्रवर्तन रमेशचंद्र दत्त, आर. सी. मजूमदार तथा यदुनाथ सरकार जैसे इतिहासकारों ने इतिहास के क्षेत्र में किया है, उसी इतिहास-दर्शन का विनियोग दिनकर ने संस्कृति के क्षेत्र में किया है। स्वाधीनता आंदोलन के प्रसंग में विकसित होने वाले मूल्य ही इस ग्रंथ के परिप्रेक्ष्य में निर्धारित करते हैं। वे मूल्य हैं उपनिवेशवाद विरोधी दृष्टि, धर्म-निरपेक्षता और सामासिक संस्कृति की अवधारणा। इन मूल्यों के इर्द-गिर्द ही यह ग्रंथ लिखा गया है। दिनकर भारतीय संस्कृति के राष्ट्रवादी इतिहासकार हैं।

चार बृहद् अध्यायों में विभक्त इस ग्रंथ में प्राक्-वैदिक से लेकर लगभग बीसवीं सदी के मध्य तक भारत की संस्कृति के स्वरूप और विकास का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। द्वितीय अध्याय में प्राचीन हिन्दुत्व से विद्रोह करनेवाले बौद्ध और जैन धर्मों का विश्लेषण किया गया है। इस अध्याय में बौद्ध आंदोलन के क्रांतिकारी सामाजिक प्रसंगों का भी विवेचन किया गया है। तृतीय अध्याय में इस्लाम के आगमन के बाद हिन्दू संस्कृति पर उसका क्या प्रभाव पड़ा, हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्ध, साहित्य, भाषा कला और संस्कृति पर इस्लाम के प्रभाव का अध्ययन किया गया है। इसी अध्याय में भक्ति आंदोलन और इस्लाम के परस्पर सम्बन्ध की बहुत ही प्रामाणिक मीमांसा प्रस्तुत की गई है कि भारत की संस्कृति किस प्रकार सामासिक रूप ग्रहण करती है। चतुर्थ अध्याय में भारत में यूरोप के आगमन से शिक्षा का उपनिवेशीकरण और हिन्दुत्व से ईसाइयत की टकराहट आदि का सविस्तार वर्णन किया गया है। इसी अध्याय में उन्नीसवीं सदी के नवजागरण की मीमांसा करते हुए नवजागरण के प्रमुख नेताओं के योगदान पर विस्तार से विचार किया गया है। इस अध्याय की एक प्रमुख विशेषता यह भी है कि हिन्दू नवजागरण के साथ मुस्लिम नवजागरण और उसकी सीमाओं का भरा-पूरा विवरण पेश किया गया है।

इस ग्रंथ के लेखक का पहला उपगम है उपनिवेशवाद विरोधी इतिहास-दृष्टि। उपनिवेशवादी इतिहास दृष्टि ने द्रविड़ लोगों को भारत का मूल निवासी माना और यह माना कि मध्य एशिया से आने वाले आर्यों ने उस पर आक्रमण कर उनको भगा दिया और अपना अधिपत्य स्थापित किया। यह इतिहास दृष्टि मूलतः तुलनात्मक भाषा-विज्ञान में उभरी थी और बाद में इतिहास विज्ञान ने इसे सम्पूर्णतः स्वीकार कर स्थापित कर दिया। इस इतिहास-दृष्टि को अस्वीकार करते हुए दिनकर लिखते हैं-'आर्य और द्रविड़, दोनों प्रकार के लोग, इस देश में अनंत काल से रहते आए हैं और हमारे प्राचीनतम साहित्य में इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिलता है कि ये दोनों जातियाँ बाहर से आईं अथवा इन दोनों के बीच कभी लड़ाईयाँ भी हुई थीं। आर्यों का संघर्ष दास और असुर जाति के लोगों से हुआ था, इसका थोड़ा बहुत प्रमाण है, किन्तु ये दास और असुर कौन थे, इस विषय में हमारे पास सुनिश्चित प्रमाण नहीं हैं। आर्यों ने अपने शत्रु को अनास भी कहा है, किन्तु अनास से कौन जाति संकेतित होती है, इसका निर्धारण सरल नहीं है। प्रजाति या

रेस के सिद्धांत हमारे देश में अंग्रेजों के आगमन के बाद प्रचलित हुए, अन्यथा इस बात का कोई भी प्रमाण नहीं है कि आर्य और द्रविड़ जातियों के लोग एक-दूसरे को विजातीय समझते थे। मैथिल, गौड़ और कान्यकुब्ज की तरह द्रविड़ शब्द भी यहाँ भौगोलिक अर्थ देनेवाला था। अतएव जाति के अर्थ में आर्य और द्रविड़ शब्दों के चलन को बिलकुल अर्वाचीन मानना चाहिए।' इस स्थापना को पुष्ट करते हुए वे लिखते हैं -'पीछे की ओर दृष्टि डालकर इतिहास की अतल गहराइयों में जाने पर भी हम यही देखते हैं कि आर्य और द्रविड़ नाम से अभिहित किये जाने वाले भारतवासियों का धर्म एक है, संस्कार एक है, भाव और विचार एक है तथा जीवन के विषय में उनका दृष्टिकोण भी एक ही है। शैव, शाक्त, वैष्णव, जैन और बौद्ध ये आर्य भी थे और द्रविड़ भी।. .. इसके सिवा उत्तर और दक्षिण में प्राचीन विशेषताएँ तो हैं, किन्तु जाति या संस्कारगत भेद बिल्कुल नहीं है। भेद है तो सिर्फ़ यह कि द्रविड़ों की अपेक्षा आर्यों में गौर वर्ण वाले लोग कुछ अधिक हैं तथा जो लोग द्रविड़ भाषाएँ बोलते हैं, वे दक्षिण में रहते हैं। बिहार में ओराँव जाति की भाषा और बलूचिस्तान में ब्रहुई जाति की बोली, उत्तर भारत में ये दो ही बोलियाँ हैं, जिनका द्रविड़ भाषा समूह से कुछ साम्य बताया जाता है। यदि इस बात पर विचार करें कि आर्यों के साहित्य में धर्म का जो रूप वर्णित है, संस्कृति की जो व्याख्या विद्यमान है, उसका वास्तविक प्रमाण कहाँ है, तब तो उसके सर्वश्रेष्ठ उदाहरण अब द्रविड़ो में ही मिलेंगे और इस अनुमान के लिए बहुत बड़ा आधार निकल जाएगा कि यदि द्रविड़ भारत के आर्य पूर्व निवासी हैं, तो हिन्दू संस्कृति भी, अधिकांश में, आर्यों के पूर्व की वस्तु है। आर्य संस्कृति की दीक्षा द्रविड़ों को आर्यों से मिली, किन्तु गुरू तो उसे पूरी पवित्रता से जुगा नहीं सका। हाँ, शिष्य उसे भली-भाँति जुगाए हुए हैं। यह अनुमान उतना प्रबल नहीं होगा, जितना यह अनुमान कि द्रविड़ों के बीच प्रचलित धर्म को आर्यों ने अपने भीतर पचा लिया।''

अंग्रेजी राज और उपनिवेशवादी दृष्टि

दिनकर जी ने अंगरेजी राज के समर्थन में उभरी उपनिवेशवादी इतिहास दृष्टि का निरूपण इन शब्दों में किया है -''जब तक भारत गुलाम रहा, अंगरेज यही कहते रहे कि हम भारत में अपने लिए नहीं है। असल में हम सभ्यता का विस्तार कर रहे हैं, वहाँ के लोगों को आपसी मारकाट में पड़ने से बचा रहे हैं।'' दिनकर ने इस उपनिवेशवादी इतिहास दृष्टि के खण्डन के लिए अमरीका के प्रसिद्ध इतिहासकार बिल ड्यूराँ की यह पंक्ति उद्धृत की है ''भारत-विजय का काम धर्म और सभ्यता के सिद्धांत से नहीं डार्विन और नीत्शे के सिद्धांत से जायज था।'' यूरोपीय विजेता कभी भी भारत की जनता और उसकी मनोभावना के साथ एकाकार न हो सके। दिनकर के अनुसार '' एकाकार होने की बात तो दूर रही, अंग्रेज भारत में जहाँ भी रहे, इंग्लैंड में रहे। उन्होंने कभी यह सोचा ही नहीं कि जिस देश में बस रहे हैं, वहाँ के लोगों से हिलना-मिलना भी उचित है।''

बनियाँ राज

दिनकर अंग्रेजी राज को बनियाँ राज कहते हैं। उन्होंने लिखा है ''वे (अंग्रेज) राजा नहीं, व्यापारी थे और समुद्र के किनारे राजधानी रखने से उनके व्यापार को लाभ था, किन्तु धीरे-धीरे जब उनमें राजमद उभरा, उन्होंने मुगलों की नकल करनी चाही। ताजमहल का जवाब लिखने को अंग्रेजों ने कलकत्ते में विक्टोरिया मेमोरियल बनवाया और सन् 1912 ई. में वे राजधानी को कलकत्ते से उठाकर दिल्ली ले गए। उस समय महाकवि अकबर इलाहाबादी ने एक शेर लिखा था जो बड़ा ही अर्थपूर्ण था:

कदम अंग्रेज कलकत्ते से अब दिल्ली में धरते हैं
तिजारत देख ली, देखें हुकूमत कैसी करते हैं।

मगर, हुकूमत अंग्रेजों का उद्देश्य नहीं थी, हुकूमत वे इसलिए कर रहे थे कि इससे उनकी तिजारत को फायदा था। तिजारत को फायदा नहीं रहा, वे हुकूमत छोड़कर चले गए।'' दिनकर के अनुसार अंग्रेजी राज के भारत में दो ही प्रधान काम थे। ''व्यापार की वृद्धि और करों की वसूली, ये दो ही उद्देश्य थे जिनके लिए कंपनी इस देश पर राज्य कर रही थी। यह कार्य इतना महत्त्वपूर्ण रहा कि अंग्रेजी राज्य के सबसे क्रियाशील और शक्तिशाली अफसर का नाम ही कलक्टर (तहसीलदार) पड़ गया।'' ब्रिटिश संसद में थेरिडॉन के भाषण का उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा है कि हैंडनोट की

वसूली के लिए हिन्दुस्तान के नगरों पर घेरा डाला जाता है और बादशाह गद्दी से इसलिए उतार दिए जाते हैं कि उनके पास अंग्रेजों के कुछ पैसे बाकी हैं।

अंग्रेजी राज और ईसाइयत का प्रभाव

यूरोप के आगमन और अंग्रेजी राज की स्थापना के साथ देश में ईसाइयत का प्रभाव आया और यह प्रभाव अधिकतर विकृत और भ्रष्ट रूप में ही दिखलाई पड़ा। पहली बात तो यह हुई कि इस देश के लोग अंग्रेजों की नकल में शराब पीने लगे। दिनकर ने लिखा–'' पहले इस देश के लोग शराब नहीं पीते थे। जब सरकार ने आबकारी विभाग चलाया, तब उस विभाग की कृपा से शराब की लत बहुतों को लग गई। फिर तो लोग शराब के इतने प्रेमी हो उठे कि अब टैक्स के भार को भी कुछ नहीं समझते और शराब बंदी की बात करने वालों को अपना शत्रु समझते हैं।'' बात शराब पीने तक नहीं रह गई। ''हिन्दू कॉलेज से निकला हुआ युवकों का पूरा-का-पूरा दल एकदम बहक गया और वह बड़ी ही निर्ममता के साथ ठीक उसी प्रकार, हिन्दुत्व की निंदा करने लगा, जिस प्रकार से ईसाई मिशनरी कर रहे थे। ये नौजवान प्रतिमा-भंजक क्रांतिकारी थे। घर-घर में यह विवाद छिड़ गया कि ईश्वर को मानना ठीक है या नहीं। मंदिरों में जाना अंधविश्वास और मूर्ति की पूजा रूढ़ि की आराधना क्यों नहीं है।.. उनका निश्चित मत हो गया कि पुराण की कथाएँ गप्पों के अंबार हैं। और यज्ञोपवीत, चन्दन, कंठी, माला और शिखा ये फालतु चीजें हैं।'' बात केवल बहस तक सीमित नहीं रही। ये नौजवान पूरी तरह उच्छृंखल हो उठे। ईसाईयत का प्रभाव उन पर यह पड़ा कि उन्होंने सारी मर्यादाओं का त्याग कर दिया। उस स्थिति का विवरण देते हुए उन्होंने लिखा है- ''उन्होंने कस कर मदिरापान करना आरंभ कर दिया और अपने पिता, चाचा और बांधवों को वे यह दिखलाने लगे कि हम तुमसे सर्वथा भिन्न हैं। इनसे भी अधिक उन्मत्त नवयुवक बीसियों प्रकार से अपने बाप-दादों को चिढ़ाने लगे और मंदिरों मे गो-मांस अथवा गाय की हड्डी फेंक देना आम बात हो गई। इस स्थिति पर विलाप करते हुए स्वामी विवेकानन्द ने कहा था कि बच्चा जब भी पढ़ने को स्कूल भेजा जाता है, पहली बात वह यह सीखता है कि उसका बाप बेवकूफ है। दूसरी बात यह है कि उसका दादा दीवाना है, तीसरी बात यह कि उसके सभी गुरू पाखंडी हैं और चौथी यह कि सारे के सारे धर्मग्रंथ झूठे और बेकार हैं।''

ईसाईयत का ऐसा ही प्रभाव इन नवयुवकों पर उस समय पड़ रहा था। यह स्वाभाविक था कि ऐसे बहके हुए नौजवानों का भारतीय जनता पर कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता। प्रसंगात् दिनकर ने लिखा है-''भारत के नवशिक्षित युवक हिन्दू धर्म की निन्दा और ईसाईयत की प्रशंसा चाहे जितनी भी करते हों, किन्तु स्वयं उनके भीतर धार्मिकता का कोई चिह्न नहीं था। हैट-बूट से सुसज्जित ये घोर रूप से संसारी मनुष्य थे, जिनके आमिष-भोजन और मदिरा-पान की कहानियाँ सर्वत्र प्रचलित थीं। अतएव, इन बकवासी युवकों का भारतीय जनता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। उल्टे, वह उनसे घृणा करने लगी।'' यह ईसाइयत का भारत पर एक दुष्प्रभाव था लेकिन उपनिवेशवादी इतिहासकारों ने इसे पूरी तरह ढँकने की कोशिश की है। दिनकर ने अपने विश्लेषण में इन तथ्यों को सामने रखकर भारतीय जीवन-पद्धति को नष्ट करने में अंग्रेजी राज के योगदान को उधेड़ कर रख दिया है।

नई शिक्षा और अंग्रेजी भाषा

भारत में जब अंग्रेज आए, तब धीरे-धीरे अंग्रेजी भाषा भी फैलने लगी। भारत में अंग्रेजी के प्रसार के तीन लक्ष्य थे। पहला यह था कि भारतवासियों को अंग्रेजी सिखाकर कंपनी का शासन आसानी से चलाया जा सके, दूसरा लक्ष्य यह था कि अंग्रेजी पढ़ा व्यक्ति आसानी से क्रिस्तान बनाया जा सकता था और तीसरा लक्ष्य यह था कि भारतीयों को अंग्रेजी संस्कृति में दीक्षित कर मन से भी अंग्रेज बनाया जा सके। लंबी बहस के बाद ईस्ट इंडिया कम्पनी ने 1835 ई. में भारतीयों की शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी को बनाया। इस हेतु 1835 ई. में कम्पनी ने मैकॉले की मिनिट्स को स्वीकार किया। यहीं से भारत में विधिवत अंग्रेज़ी शिक्षा लागू हुई और इसी को नई शिक्षा कहा गया। अंग्रेजों ने चाहे जिस किसी उद्देश्य से भारत में अंग्रेजी शिक्षा लागू की, लेकिन उनका यह उद्देश्य पूरा नहीं हो सका। मैकाले ने यह कहा था कि अंग्रेजी पढ़कर यहाँ अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग तन से भारतीय, किन्तु मन से अंग्रेज हो जाएँगे। किन्तु ऐसा कुछ

नहीं हुआ। दिनकर ने लिखा है- '' अंग्रेजी के सम्पर्क से हिन्दू धर्म में जागृति की एक ऐसी लहर उठी कि हिन्दुत्व का रोग ही दूर हो गया और अंग्रेजी पढ़ने के कारण ही भारतीयों में राष्ट्रीयता की उमंग उठी, जिससे वे अपने अधिकारों की माँग करने लगे। अंग्रेजी भाषा और भारत में चलने वाले अंग्रेजी शासन में कभी सामंजस्य उत्पन्न नहीं हुआ। अंग्रेजी भाषा के द्वारा भारतीय छात्रों को विचार सिखाए जाते थे जो स्वतंत्रता के विचार थे, जो क्रांति के विचार थे, जो गौरव, वीरता और बलिदान के विचार थे। किन्तु, इन विचारों से प्रेरित भारतीय जब अपने मस्तक को ऊपर उठाना चाहते थे, तब उन पर दमन की लाठी चलाई जाती थी।.... इन विचारकों की पुस्तकें भारत भर में उपलब्ध थीं और अंग्रेजी जानने वाला कोई भी व्यक्ति उन्हें कहीं से भी पढ़ सकता था। वास्तव में, पाश्चात्य विचारों को इस देश में फैलाकर अंग्रेज शासक उनके प्रभावों को रोक नहीं सकते थ।''[1] इस प्रकार उपनिवेशवादी इतिहासकार अंग्रेजी शिक्षा से प्रसारित होने वाले जिन तथ्यों का बखान करते हैं, दिनकर उसी का तिरस्कार कर देते हैं। इस देश में स्वाधीनता की लड़ाई का नेतृत्व मुख्यतया अंग्रेज़ीदाँ नेताओं ने किया और अंग्रेजी पढ़ कर अंग्रेजी राज को उखाड़ फेंका।

तब भी अंग्रेजी शिक्षा का एक दुष्परिणाम तो इस देश पर पड़ा ही। मैकॉले को एक सफलता तो मिली ही कि यहाँ के अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों का मन उपनिवेशवादी संस्कृति और सभ्यता पर रीझ गया। इस पर खेद प्रकट करते हुए दिनकर ने लिखा है- ''दु:ख इस बात का है कि मैकॉले ने एलफ़िंस्टन का पीछा आज भी नहीं छोड़ा है। मैकॉले के अनुयायी आज भी प्रबल और एलफिंस्टन के समर्थक आज भी लाचार हैं।'' मैकॉले ने जिस नकली इंग्लिस्तान की रचना की थी, वह असली इंग्लिस्तान को आज भी दबाए हुए है। यह है दिनकर की अंग्रेजी शिक्षा के सम्बन्ध में उपनिवेशवादी विरोधी इतिहास दृष्टि का आकलन।

सामासिक संस्कृति

दिनकर की इतिहास दृष्टि की दूसरी प्रमुख विशेषता है भारत की बहुलतावादी राष्ट्रीयता में सामासिक संस्कृति की रचना। उनके अनुसार हिन्दू धर्म की विशेषता यह है कि वह बाहर से आई हुई संस्कृतियों से मिलकर जागृत और नवीन हो उठती है। ऐसी बात नहीं है कि इस सामासिक संस्कृति की रचना हिन्दुत्व के साथ इस्लाम की टकराहट और सामंजस्य से ही हुई है। और यह केवल एक बात है, और महत्वपूर्ण बात है। लेकिन इस सामासिक संस्कृति की रचना की प्रक्रिया प्रागैतिहासिक काल से ही आरंभ हो गयी थी। इस प्रक्रिया का आरंभ कम-से-कम आर्य और द्रविड़ के मिश्रण से ही हो गया था। दिनकर लिखते हैं-''इतिहास की अतल गहराइयों में जाने पर भी हम यही देखते हैं कि आर्य और द्रविड़ नाम से ही अभिहित किए जाने वाले भारतवासियों का धर्म एक है, संस्कार एक है, भाव और विचार एक हैं तथा जीवन के विषय में उनका दृष्टिकोण भी एक ही है। शैव, शाक्त, वैष्णव, जैन, और बौद्ध, ये आर्य भी थे और द्रविड़ भी। इसी प्रकार साहित्य रचना में भी, शैली और भाव में, इन दोनों प्रकार के लोगों में पूरी समानता मिलती है। इसके सिवा, उत्तर और दक्षिण में जो प्राचीन मंदिर और मूर्तियाँ, संगीत और बाजे मिलते हैं, उनमें स्थानीय विशेषताएँ तो हैं, किन्तु जाति या संस्कारगत भेद बिल्कुल नहीं है।'' उसी प्रकार सिन्धु सभ्यता का विवरण देते हुए दिनकर लिखते हैं कि ''टूटी कड़ियों को जोड़ने और खाली जगहों को अनुमानों द्वारा पूर्ण करने से जो चित्र सामने आता है, वह यह है कि सिन्धु सभ्यता वेद पूर्व सभ्यता थी और उसके भीतर की वेदपूर्ण संस्कृति के असंख्य उपकरण समहित थे। आर्यों का संघर्ष इसी सभ्यता वालों के साथ हुआ था और आर्य जब कश्मीर के नीचे उतर कर उत्तर भारत में फैले, तब उन्होंने इसी वेदपूर्व सभ्यता को भारतीय सभ्यता का आधार बनाया।'' दिनकरजी ने इस पर विस्तार से लिखा है और निष्कर्ष स्वरूप उन्होंने कहा है-''हिन्दू धर्म और हिन्दू संस्कृति का आज जो रूप है, उसके भीतर प्रधानता उन बातों की नहीं है, जो ऋग्वेद में लिखी मिलती हैं, बल्कि हमारे समाज की बहुत-सी रीतियाँ और हमारे धर्म के बहुत से अनुष्ठान ऐसे हैं; जिनका उल्लेख वेदों में नहीं मिलता। और जिन बातों का उल्लेख वेदों में नहीं मिलता, उनके बारे में विद्वानों का मत है कि या तो वे आर्येतर सभ्यता की देन हैं अथवा उनका विकास आर्यों के आने के बाद आर्य और आर्येतर, दोनों संस्कृतियों के मेल से हुआ है। डॉ. सुनीति

कुमार चटर्जी का तो यहाँ तक कहना है कि हिन्दू संस्कृति के आधे से अधिक उपादान आर्येतर संस्कृतियों से आए।''

हिन्दुत्व और इस्लाम : सामासिक संस्कृति के रूप

इस देश में शताब्दियों तक हिन्दू और मुसलमान झगड़ते रहे। यह साफ है कि भारत में मुसलमानों का अत्याचार इतना भयानक रहा कि अन्यत्र उसके दृष्टांत नहीं मिलते। किंतु धीरे-धीरे मुसलमान और हिन्दू ये दो जातियाँ फिर कहीं-न-कहीं मिलने लगीं और उनके मिलने से बहुत से रीति-रिवाज, बहुत तरह की तहजीब एक ढंग से विकसित हुए। हालाँकि इस देश में हिन्दू और मुसलमानों का दिल कभी एक नहीं हुआ फिर भी दोनों की संस्कृतियों के मिलने से एक सामासिक संस्कृति की रचना जरूर हुई। हिन्दुओं और मुसलमानों को परस्पर समीप लाने की भूमिका सूफी आंदोलन ने तैयार की।

दिनकर ने अपने ग्रंथ के तीसरे अध्याय में हिन्दू और मुसलमानों के बीच एक सामासिक संस्कृति की रचना के अनेक दृष्टांत दिए। यथा:

1. ''हिन्दुओं के बीच अंधविश्वास और रूढ़ियाँ बहुत अधिक प्रचलित थीं। इनके प्रभाव से मुस्लिम समाज में भी कुछ रूढ़ियाँ उत्पन्न हो गई और हिन्दुओं की देखा देखी मुसलमान जनता भी गाजी मियाँ, पाँच पीर, पीर बदर, ख़्वाजा ख़िजिर आदि कल्पित देवताओं की पूजा करने लगी। मुसलमानों के ये पीर, अक्सर ग्राम-देवता बन बैठे और हिन्दू-मुस्लिम सब दरगाह पर माथा टेकने लगे। दशहरा और रथ-यात्रा उत्सवों के अनुकरण पर मुहर्रम में ताजिये निकाले जाने लगे एवं ताजिया में हिन्दू और मुसलमान, बिना किसी भेद-भाव के सम्मिलित होने लगे। ताजिया के पीछे चूँकि हजरत अली बल के आगार थे, इसलिए ताजियों की संरक्षण गाँवों की नामी पलवान करते थे जिनमें बहुधा हिन्दू पहलवानों की भी गिनती होती थी।''

2.''हिन्दुओं के बहुत से रिवाज ऊँचे तबक़ों के मुसलमानों में आप से आप चल पड़े। नज़र लगने से बचने के लिए न्योछावर उतारने की परिपाटी बादशाहों की भी हवेलियों में थी। शाहज़ादे भी यात्रा पर निकलने से पहले बाँहो पर मंत्र-सिद्ध यंत्र बंधवाते थे। मुहम्मद तुगलक लड़ाईयों पर जाने से पहले हिन्दू योगियों से आशीर्वाद माँगा करता था। बहुत से शेख और मुस्लिम पीर, हिन्दू मठों की नकल पर, गद्दियाँ भी स्थापित करते थे।''

3. ''चीरा और पाग मुसलमानों ने हिन्दुस्तानियों से लिया और बदले में, कसे चुस्त पायजामें राजपूतानियों ने मुस्लिम नारियों से लिए। इस्लाम की परंपरा रेशम, मलमल और कीमती जेवरों के विरूद्ध थी, लेकिन भारत में बस जाने पर मुसलमानों ने इन्हें भी अपना लिया।''

4. मुगलकाल आते-आते शब-ए-बरात का पर्व सारे भारत के मुसलमानों में मनाया जाने लगा। यह शायद, शिवरात्रि का अनुकरण था क्योंकि शिवरात्रि उस समय बड़ी ही धूम-धाम से मनाई जाती थी। ताजिये का रिवाज भी भारत छोड़कर और किसी देश में नहीं है। यह कदाचित् रथ-यात्रा के अनुकरण पर निकला था।''

संस्कृति के एक इतिहासकार के रूप में दिनकर यह मानते हैं कि सामासिक संस्कृति के इस रूप के विकास में सबसे बड़ा बाधक औरंगजेब बना। उन्होंने लिखा है-''बाबर से लेकर शाहजहाँ तक मुगलों ने भारत की जिस सामासिक संस्कृति को पालपोस कर खड़ा किया था, उसे औरंगजेब ने एक ही झटके में तोड़ डाला और स्वयं ही उसने अपने साम्राज्य की कमर भी तोड़ दी।'' औरंगजेब की धर्मान्धता की निन्दा करते हुए दिनकर ने लिखा है-''अकबर का जो काम अधूरा रह गया था, लगता है उसी को पूरा करने के लिए उसने दारा बनकर जन्म लिया था, यह काम पूरा तो क्या आधा भी सम्पन्न नहीं हुआ। वह शाहजहाँ का ज्येष्ठ पुत्र था। यदि भारत का सम्राट हुआ होता तो भारत का इतिहास आज कुछ और होता... औरंगजेब ने खदेड़ कर दारा को मार डाला और बाप को कैद करके वह खुद सिंहासन पर बैठ गया। जिस दिन दारा मारा गया और औरंगजेब गद्दीनशीन हुआ, सामासिक संस्कृति का कलेजा, असल में, उसी रोज फटा और तब से, यद्यपि हम इस फटन को बार-बार सीने की कोशिश करते रहे हैं, किन्तु वह ठीक से सिल नहीं पाती।''

इस प्रकार दिनकर सामासिक संस्कृति की रचना में कठिनाईयों का उल्लेख करते हैं और इसका निष्कर्ष यह निकलता है कि भारत में सामासिक संस्कृति की रचना जो

प्राक्-वैदिककाल से होती आ रही थी, उसमें बाधा मध्य काल में आई। हिन्दुओं और मुसलमानों ने लड़ते-झगड़ते भी एक-दूसरे के रीति-रिवाज, आचार-विचार, अनुष्ठान और खान-पान आदि अपनाए लेकिन फिर भी इन दोनों कौमों के बीच की खाई पटी नहीं। यह सम्मिश्रण एक तरह से ऊपरी ही रहा। इसका विवेचन करते हुए उन्होंने लिखा है-'' हिन्दुत्व और इस्लाम ने एक-दूसरे को प्रभावित तो किया, किन्तु यह प्रभाव सतह के नीचे नहीं पहुँच सका। औसत हिन्दू का लक्षण यह है कि मानसिक धरातल पर वह अत्यंत उदार होता है, किन्तु आचरण के स्तर पर उसकी संकीर्णता भी भयानक होती है। इसके प्रतिकूल, समाजिक आचारों में मुसलमानों की उदारता उदाहरणीय है; किन्तु मानसिक धरातल पर मुसलमान कट्टर होते हैं। अन्य धर्मों को अपने ही धर्म के समान पवित्र मानने में हिन्दुओं को कोई कठिनाई नहीं होती। किन्तु औसत मुसलमान यह सोच ही नहीं सकता कि अन्य धर्म भी इस्लाम के ही समान पवित्र हैं। दुर्भाग्य की बात यह हुई कि हिन्दुओं ने सामाजिक आचरण में मुसलमानों की उदारता का अनुकरण नहीं किया, न मुसलमानों ने हिन्दुओं से यह सीखने का प्रयास किया कि हमें दूसरे धर्मों का भी उतना ही सम्मान करना चाहिए, जितना सम्मान हम अपने धर्म का करते हैं। यदि मुसलमानों ने यह शिक्षा ली होती तो अकबर का वे विरोध नहीं करते, न औरंगजेब के समय में मंदिरों का फिर से नाश हुआ होता।'' दिनकर ने ग्रंथ के उपसंहार में यह विश्लेषण दिया है कि सामासिक संस्कृति की रचना में यह विफलता ही वह प्रमुख कारण है जिससे भारत का विभाजन हुआ और मुसलमानों ने पाकिस्तान नाम से एक नया देश बना लिया।

भारत की महान संस्कृति मध्यकाल में संकुचित हो गई। जाति-प्रथा के दोष बढ़ते गए। भारतीय समाज छोटे-छोटे कुनबों में बँट गया और कोई ऐसी जाति नहीं थी जो अपने को किसी दूसरी जाति से श्रेष्ठ न समझती हो। जाति के बाहर शादी-ब्याह और किसी अन्य सामाजिक सम्बन्ध की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। राष्ट्रीय चेतना नाम की कोई चीज़ नहीं थी। समुद्र पार जाने को पूरी तरह वर्जित कर दिया गया था और इसे महापाप माना जाता था। इस कारण भारतीय वाणिज्य का विकास पूरी तरह अवरूद्ध हो गया और नगरों का ह्रास होने लगा। लोग सामाजिक आचार और व्यवहार में अत्यंत संकीर्ण हो गए। ईसा के बाद की दूसरी सहस्त्राब्दी का पतन अशेष रहा। कला, शिल्प, भाषा, स्थापत्य-सब में नकली सजावट और पच्चीकारी मिलती है। कोई बड़ा दार्शनिक, कोई बड़ा वैज्ञानिक, कोई बड़ा समुद्र यात्री या कोई बड़ा साहसी नहीं हुआ।

तब भी दिनकर यह मानते हैं कि समग्र रूप से भारत की संस्कृति की निरंतरता बनी रही। उन्होंने लिखा है-'' आज से तीन हजार वर्ष पूर्व भारतीय संस्कृति का जो रूप था, आज भी मूलत: वैसा ही है। मिस्र, बेबीलोन और यूनान में भी प्राचीन सभ्यताएँ उठी थीं, किन्तु काल ने उन्हें ध्वस्त कर दिया। केवल भारत ही एक ऐसा देश है, जिसका अतीत कभी मरा नहीं। वह बराबर वर्तमान के रथ पर चढ़कर भविष्य की ओर चलता रहा है। भारत का अतीत कल भी जीवित था, आज भी जीवित है और कदाचित् आगे भी जीवित रहेगा।''

इस ग्रंथ में दिनकर का निष्कर्ष यह है कि भारत की संस्कृति ने धीरे-धीरे आकार ग्रहण किया। इसका मूल मोहनजोदड़ो तथा द्रविड़ लोगों की आर्य पूर्व सभ्यता तक गया है। फिर आर्य आए और उन्होंने इस संस्कृति पर अपनी छाप छोड़ी। बाद में इस संस्कृति पर इस्लाम का प्रभाव पड़ा और इसे गढ़ने में इस्लाम का भी महत्वपूर्ण योगदान है। फिर भी पश्चिम से आने वाले उपनिवेशवादियों जिनमें मुख्य अंग्रेज हैं, का भी प्रभाव पड़ा। खान-पान और कपड़ों पर भी अंग्रेजी जीवन पद्धति का असर पड़ा तथा अंग्रेजी भाषा यहाँ के बुद्धिजीवी वर्ग की भाषा बन गई। अत: आज हम जिसे भारत की संस्कृति कहते हैं, वह इन संस्कृतियों का सामासिक रूप है। अत: भारत की संस्कृति केवल आर्यों और केवल हिन्दुओं की रचना नहीं है, हालांकि इस संस्कृति पर उनकी छाप गहरी है।

उदासी : कभी ओज कभी खिलखिलाहट

भवानी प्रसाद मिश्र

दिनकर का जाना साधारण घटना नहीं है, कम से कम पचास वर्षों से दिनकर देश के हृदय की वाणी को गुँजाते रहे हैं, ऐसे ठीक दर्द और रोष के साथ कि ब्रितानी सरकार भी उन पर तमकी और जवाहरलाल ने भी चीन के हमले के साथ दिनकर को 'परशुराम की प्रतीक्षा' काव्य लिखने पर माफ नहीं किया। वह उन दिनों भारत सरकार के हिन्दी सलाहकार थे। गाँठ बाँध ली गयी कि यह कवि विद्रोही है और सदा गलत बात का विद्रोह करेगा। गलत बात सरकारों के हाथों से होती ही रहती है, इस लिए ऐसे कवि को आस्तीन में पालना तो गलत ही होगा। दिनकर 'हिन्दी सलाहकार' नहीं रहे। उसके बाद सरकार ने उन्हें किसी प्रकार का कोई सम्मान नहीं दिया।

यों तब तक सरकारी और अर्द्धसरकारी तमाम सम्मान उन्हें प्राप्त हो चुके थे, किन्तु दिनकर ऐसे सहज सम्माननीय और सहज सम्मानित व्यक्तित्व का नाम था सम्मान जिसके चरणों की ओर चारों ओर से उमड़ कर आता था। राष्ट्रकवि की उपाधि उस को कब किसने दी? किन्तु जो सचमुच और सहज राष्ट्रकवि था जैसे किसी एक ही निमेष में राष्ट्रकवि कहा जाने लगा। जिस प्रकार इस बात का पता नहीं चलता कि सबसे पहले गांधी को महात्मा किस ने कहा, उसी प्रकार इस बात का भी कोई पता नहीं चलता कि सबसे पहले दिनकर को राष्ट्रकवि किस ने कहा। दिनकर एक जादू था, जो सिर चढ़ कर बोलता था। 'उर्वशी' पढ़ते-पढ़ते जब मैंने यह पंक्ति पढ़ी कि ''उर्वशी अपने समय का सूर्य हूँ मैं'' तो एकदम लगा कि दिनकर ने पुरुरवा के मुख से जो यह पंक्ति कहलायी है वह पुरुरवा पर चाहे लागू होती हो या न होती हो, दिनकर पर लागू होती है। और समय का अर्थ यहाँ अखिल समय मानना चाहिए। दिनकर अपने देश के ही नहीं, अपने समय के सूर्य कवि थे। यह तो हमारा दुर्भाग्य है कि हमारी भाषा एक अभिशप्त भाषा है। इस में लिखने वाला अंतर्राष्ट्रीय कदाचित ही हो पायेगा। इसे दुनिया भर की भाषाओं के अनुवाद करने पड़ते है। इस की बड़ी से बड़ी वाणी भी दूसरी जगह कदाचित ही अनुवादित होती है। इस महान भाषा को देश ही स्वीकार नहीं कर रहा है, फिर विदेश कैसे स्वीकार करेंगे। दूसरा कारण यह है कि हिन्दी कई अर्थो में एक अत्यंत विचित्र और सम्पन्न भाषा है। अंग्रेजी वगैरह से अनुवाद कर लेना शायद अपेक्षाकृत आसान है, किन्तु हिन्दी का अनुवाद बहुत ही कठिन चीज है। खासकर कविता का और उस में भी दिनकर जैसे कवि का, जिस का मीर के शब्दों में ''हर सुखन मुकाम से है,'' कौन उस के सुखन के मुकाम को पकड़ेगा ? सो भी किसी अंतर्राष्ट्रीय विदेशी भाषा में। हिन्दी का हर पाठक अपने मन में जानता है कि अगर दिनकर ठीक अनुवादित हो कर देश-विदेश में पेश किये जा सके तो पिछले पचास साल में उत्पन्न किसी भी विश्वकवि कहे जाने वाले कवि के मुकाबले में ऐसे छोटे तो नहीं पड़ेंगे।

मैंने दिनकर को सब से पहले बिहार प्रांतीय हिंदी साहित्य सम्मेलन झरिया में देखा था। मैं उन दिनों वर्धा में था और 'गीत फरोश' कविता कोई महीने भर पहले 'प्रतीक' में प्रकाशित हुई थी। उसी को पढ़ कर शायद झरिया प्रांतीय सम्मेलन के संयोजकों ने मुझे निमंत्रित कर लिया। मेरे मन में कहीं यह लकीर पड़ी थी कि शायद वहाँ दिनकर मिल जायें।

आकर्षित तो उन की ओर कितने दिनों से ही था। शायद कालेज के तीसरे बरस से था। तब उन की एक कविता पढ़ी जिस की एक पंक्ति थी ''नाचो अग्निखण्ड भर स्वर

में।'' मैंने उसे थोड़ी तरमीम के साथ गुरूमंत्र की तरह मन में रख लिया। तभी कुछ दिनों बाद एक समालोचक का वाक्य पढ़ा- वाक्य बनारस से निकलने वाले 'जागरण' में छपा था कि 'यह अग्निखण्ड क्या बला है'? मैंने तत्काल एक कविता लिखी, ''ये अग्निखण्ड अंगारे हैं, दिनकर की पुंजीभूत आग इन में चमकी है, रही जाग। यदि कोई इसे नहीं समझे तो उसके फूटे हुए भाग। ये बहुत दिनों से दबी ज्वाल के उड़ते हुए शरारे हैं। ये अग्निखंड अंगारे हैं।'' उस दिन पहली बार मैंने जाना कि मैं दिनकर का कितना बड़ा गुलाम हूँ और फिर देखा अपने मन के स्वामी को झरिया में।

उद्घाटन भाषण के बाद जब दिनकर मंच से उठ कर चले तो उन के पीछे जवानों का झुंड लपक कर चल पड़ा। दिनकर की चाल ठीक शेर की चाल थी। मैं पीछे रह गया। जवान उन्हें घेर कर खड़े हो गये और मैं सोचता रहा कि चरण कैसे छुऊँगा। मेरा ख्याल है कि तब दिनकर कोई 38, 39 साल के रहे होंगे। तारूण्य और शौर्य का ऐसा रूप मैंने पहले नहीं देखा था। मेरी उम्र उनसे बहुत छोटी नहीं थी, मैं भी उन दिनों 34, 35 साल का रहा होऊँगा। काफी देर प्रतीक्षा करने के बाद जब मुझे लगा कि जवान अपना घेरा नहीं तोड़ेंगे तो मैं ज़रा ताकत लगा कर घेरे के भीतर घुस गया और मैंने दिनकर के पाँव छूए और उस के बाद कहा - मैं भवानी हूँ। उन्होंने स्नेह से लिपटाते हुए आश्चर्य मिश्रित स्वर में कहा - ''गीत फरोश।'' मैंने अपनी उस कविता को कितना धन्यवाद दिया। तब से दिनकर का ऐसा छपा या बेछपा कुछ नहीं है जिसे मैंने उन्ही के मुँह से न सुना हो। अपने सौभाग्य की कल्पना और आज के दुख का सत्य दोनों मिल कर मुझे व्याकुल कर देते हैं।

दिनकर चले जायें और हम और आप स्थित प्रज्ञ बने रहें- यह प्रशंसनीय हो सकता है, किंतु है बहुत कठिन काम। उसने हिंदी साहित्य को अपनी पचास रचनाओं में से कम से कम पाँच सौ साल टिकने वाली कुछ नहीं तो पाँच सात रचनाएँ दे ही दी होंगी, संभव है एकाध रचना ऐसी हो जो कालजयी ठहरे। उसने जब से होश सँभाला तब से अपने जीवन को खुद एक खुली किताब की तरह जोर-जोर से बाँच कर लोगों को सुनाया, जिसने कभी अपना कुछ नहीं छिपाया, न दर्द, न प्रेम, न क्रोध। उस ने जब पुकार सुनी दौड़ कर पहुँचा और जिसके पहुँचते ही दुखी का दुख इस तरह विलीन हो गया जैसे दिन चढ़े घास की पत्ती पर चमकने वाली ओस की बूँद। उस सचमुच के आदमी को खो कर हम अगर स्थिर बने रहे तो मेरी समझ में उस 'असली' का कुछ नहीं बिगड़ेगा, हम ही झूठ-मूठ के सिद्ध होंगे।

दिनकर ने विपुल साहित्य दिया है। उन की वह 'अक्षर देह' हमारे बीच में है, मगर उस क्षर देह का महत्व भी कम नहीं था। मैं तो आज बहुत व्याकुल हूँ और चाहता हूँ कि यह व्याकुलता मुझे मथती रहे और उस पथ पर ले जाये जिस पर दिनकर जिंदगी भर चले हैं, अर्थात काँटो से भरा पथ। दिनकर कितने खुश दिखते थे, मगर उन के भीतर से भीतर की परत तक वह व्यक्ति से ले कर समाज और जड़ प्रकृति के भी कष्ट की उदासी को अनुभव करते रहते थे। वह उदासी कविता में ओज बनकर और रोजमर्रा के जीवन में खिलखिलाहट बनकर निकलती थी। उदासी का ऐसा उदात्तीकरण हिंदी के किसी अन्य कवि में नि:संदेह मैंने नहीं देखा। अपने जमाने में दिनकर की कविता और व्यक्तित्व दोनों को ले कर सब लोग असंदिग्ध नहीं रहे, किन्तु ऐसा कोई आदमी मुझे नहीं मिला जो उनके खुलेपन से इनकार कर सकता हो। व्यक्तित्व का खुलापन दिनकर की लाचारी थी या शक्ति यह कहना कठिन है। सोचता हूँ तो लगता है कि वह उन का स्वभाव था। पसोपेश में मैंने उन्हें कभी नहीं देखा। हर बात पर उनका निश्चित मत था और आप किसी भी परिस्थिति में भविष्यवाणी कर सकते थे कि दिनकर क्या करेंगे। कच्चे-पक्के आदमियों से भरी हुई इस दुनिया में एक ऐसा पक्का आदमी उठ जाये और हम टस से मस न हों -यह कैसे हो सकता है।

दिनकर जी पक्के आदमी थे, इस का एक अकाट्य प्रमाण मुझे उन से अपनी अंतिम बातचीत में मिला। 19 अप्रैल को 'स्टार पब्लिकेशंस' के द्वारा कुछ साहित्यकारों का सम्मान हुआ। उस दिन सम्मान होने के पहले मैं दिनकर जी के साथ कोई आधा घंटा था। विविध बातचीतों के बीच देश की परिस्थिति की चर्चा भी निकल आयी और दिनकर जी ने जयप्रकाश जी के आंदोलन की बात करते हुए मुझसे कहा,

'भवानी मुझे लगता है कि शरीर खटिया पर पड़े-पड़े न छूटे। जयप्रकाश ने आवाज लगायी है, मैं उनकी आवाज पर उन के साथ हो जाऊँ और अगर अंतिम दिन जेल में बीते तो सार्थकता लगे।' दिनकर का यह वाक्य मन में गहरा बैठ गया।

जीवनवृत्त

रामधारी सिंह 'दिनकर' का जन्म सिमरिया, जिला मुंगेर (बिहार) में 23, सिंतबर 1908 को हुआ था। उन्होंने पटना विश्वविद्यालय से इतिहास में बी.ए. ऑनर्स किया और हेडमास्टर के रूप में अपना जीवन-यापन शुरू किया। उस के बाद सीतामढ़ी में सब-रजिस्ट्रार के पद पर काम करने लगे। बाद में बिहार सरकार के सार्वजनिक संपर्क विभाग में उप निदेशक हुए फिर मुजफ्फरपुर के एल.एस. कॉलेज में हिन्दी विभागाध्यक्ष। 1952 से 1963 तक वह राजसभा के सदस्य थे। राजसभा से मुक्त हो कर वह भागलपुर विश्वविद्यालय के उपकुलपति नियुक्त हुए। 1965 से वह केन्द्रीय सरकार के हिन्दी सलाहकार थे।

दिनकर ने हिन्दी, संस्कृत, अंग्रेजी और उर्दू के अच्छे ज्ञाता थे और संसद् में तथा संसद् के बाहर दो टूक, खरी बात कहने के लिए प्रसिद्ध थे। सरकार का शायद ही कोई ऐसा विभाग रहा होगा जहाँ हिन्दी लेखक सलाहकार के रूप में दिनकर की बात न सुनी जाती हो। हिन्दी की हर योजना में किसी न किसी रूप में उनको शामिल किया जाता था और हर बार सरकारी तंत्र में ऊपर से गरिमापूर्ण पर भीतर से अंगूठा लगाने वाला अपनी स्थिति पर उन्हें दुखी होते देखा जाता था: 'ये सब न कुछ करना चाहते न करने देते है।' फिर भी उनका विश्वास था कि वह 'सरकारी तंत्र के भीतर रह कर कुछ उन्नीस बीस कर भी सकते हैं। बाहर से तो कोई आवाज भी वहाँ नहीं सुनायी देगी।' साहित्य अकादेमी, शिक्षा विभाग से उन का काफी अर्से तक घनिष्ठ संबंध रहा और इनके तथा सरकारी भाषा आयोग, भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्, केन्द्रीय फिल्म सेंसर बोर्ड और आकाशवाणी की केन्द्रीय सलाहकार समिति के सदस्य के रूप में उन्होंने पर्याप्त लोकप्रियता प्राप्त की। 1962 में भागलपुर विश्वविद्यालय ने उन्हें डी. लिट्. की मानद उपाधि से विभूषित किया। 1959 में उन्हें पद्मभूषण प्रदान किया गया। 1960 में 'संस्कृति के चार अध्याय' पर उन्होंने साहित्य अकादमी पुरस्कार और 1973 में उन्हें 'उर्वशी' पर भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार प्राप्त हुआ।

साहित्यकार से अधिक वह साहित्य जगत् के नेता थे। हिन्दी की कोई भी संस्था, कोई भी बड़ी सभा, कवि सम्मेलन बिना 'दिनकर' के वरद्हस्त या उपस्थिति के फीका रहता था। ऊपर से उनका डील-डौल व्यक्तित्व जितना ही आतंककारी था भीतर से उतना ही कोमल। उनका खुलापन आकर्षित करता था। ये ही गुण उनकी कविता में भी हैं। हिन्दी काव्य जगत् पर छायावादी कुहासे को काटने वाली शक्तियों में दिनकर की प्रवाहमयी, ओजस्विनी कविता का स्थान विशिष्ट महत्व का है। दिनकर की कविता में जीवंत समाज, परिचित परिवेश का संस्पर्श है। अतीत के गौरव से जुड़ कर भी वह समसामयिकता के धनी रहे हैं और अपनी कविताओं में वह सभी प्रसंग जो राष्ट्र के जीवन से जुड़े हैं सदैव पूरी शक्ति से उठाते रहे हैं।

दिनकर ने स्वयं अपनी कविता के बारे में काफी लिखा है। हर साहित्यिक आंदोलन तथा हर महत्वपूर्ण विचार जगत् पर उनकी लिखित प्रतिक्रिया और उस में निहित उनका चिंतन मौजूद है। अपने कविकर्म और अपने मानव कर्म का बोध उनमें किसी भी रचनाकार से अधिक था। इसी लिए गांधी, अरविन्द, मार्क्स से लेकर, छायावाद और नयी कविता तक पर उन्होंने गंभीरता से लिखा है।

चालीस से अधिक पुस्तकें उनकी उपलब्ध हैं। 'रेणुका (1935), 'हुंकार' (1940), 'रसवंती' (1940), 'सामधेनी' (1947), 'नीलकुसुम' (1955) जैसे मुक्तक काव्य, 'कुरुक्षेत्र' (1946), 'रश्मिरथी' (1952) और उर्वशी (1961) जैसे प्रबंध काव्य उन के काव्य जगत की पताकाएँ हैं। अन्य कृतियों में 'सीपी और शंख', 'परशुराम की प्रतीक्षा', 'कोयला और कवित्व', 'मृत्ति तिलक', 'आत्मा की आँखे', 'हारे को हरिनाम' (कविता) तथा 'दिनकर की डायरी' 'संस्कृति के चार अध्याय', 'शुद्ध कविता की खोज', 'काव्य की भूमिका', 'पंत प्रसाद और मैथिलीशरण', 'मिट्टी की ओर', 'अर्द्धनारीश्वर', 'मेरी यात्राएँ', 'हे राम', 'लोकदेव नेहरू' और 'उजली आग' (गद्य कृतियाँ) शामिल हैं। अभी

उनकी तीन पुस्तकें, 'आधुनिक बोध' (निबंध), 'विवाह की मुसीबतें' (ललित निबंध) तथा 'दिनकर के गीत' (गीत संचयन) प्रकाशित हुए हैं। इसी वर्ष 'रश्मि लोक' नाम से प्रकाशित उनकी प्रतिनिधि कविताओं के संकलन, की भूमिका में (जो 6 जनवरी 1974 को लिखी गयी और जो अपनी कविता के बारे में उनका अंतिम कथ्य है) उन्होंने लिखा है: ''जिन घटनाओं से कवि का जीवन-दर्शन बदलता है, जो दर्द आदमी की देखने की दिशा बदल देता है उसे कविता बनने के पूर्व कवि के रक्त में घुलने के लिए समय चाहिए। जब यह दर्द मेरे अणु-अणु में फैल गया, मैं एक विचित्र प्रकार की कविताएँ लिखने लगा। 'हारे को हरिनाम' में इन्हीं कविताओं का संग्रह है। इन कविताओं से और विशेषत: इस नाम से मेरे अनेक मित्रों और प्रशंसकों को निराशा हुई है और मुझे उन की निराशा पर आश्चर्य हुआ है, क्यों कि वे सभी मित्र जानते हैं मैं हारा हुआ आदमी हूँ, टूटा हुआ आदमी हूँ। वह आदमी हूँ किस्मत ने जिसके शीराजे बिखेर दिए हैं। ऐसे व्यक्ति के सामने इसे छोड़ कर और कौन उपाय है कि वह 'गरीब नेवाज श्री रामचंद्र' के चरणों पर गिर जाये और आर्त्त स्वर में पुकारे कि प्रभो! मुझे क्षमा करो और जो भी मुसीबतें मेरे ऊपर आने वाली हैं वे आज ही एक साथ हमला बोल दें। 'हारे को हरिनाम' लिख कर मैंने आशा की थी कि मेरी विनय पत्रिका पूरी हो गयी। किन्तु लगता है अभी मेरी रामायण ही अधूरी है और उस का उत्तरकाण्ड अब प्रारम्भ हुआ है। उत्तरकाण्ड यानी राम का राज्यारोहण, उत्तरकाण्ड यानी सीता का पाताल प्रवेश, उत्तरकाण्ड यानी राम का प्राण विसर्जन।''

दिनकर ने मद्रास में तिरुपति के दर्शन के बाद अपने उत्तरकांड की भी अंतिम अभिलाषा जैसे पूरी कर ली।

भूमिका के अंत में उन्होंने लिखा है: ''कविता ने मुझे मित्र दिए, कीर्ति दी, सम्मान दिया, बड़े लोगों की संगति, जनता का आशीर्वाद और एक बड़ा पुरस्कार भी प्रदान किया। बदले में जीवन भर मैंने भी उसे अपने जीवन का रक्त पिलाने में कोताही नहीं की। किन्तु लगता है मैंने सरस्वती के लिए उतना त्याग नहीं किया जितना मुझे करना चाहिए था। यह बकाया सरस्वती मुझ से वसूल करने पर अब तुली हुई है।''

पता नहीं सरस्वती वह वसूल कर सकी या नहीं, पर दिनकर ने अपने पाठकों के लिए कुछ बकाया नहीं छोड़ा, सब चुकता कर दिया और उन सब को क्षमा कर गए जो पारिवारिक, साहित्यिक तथा जीवन के अन्य प्रसंगों में कहीं उनके कष्ट के कारण थे। उन के अंतिम काव्य संकलन 'हारे को हरिनाम' और अंतिम प्रतिनिधि काव्य संकलन 'रश्मि लोक' की अंतिम कविता की कुछ पंक्तियाँ हैं:-

सब शोकों का एक नाम है क्षमा
हृदय आकुल मत होना।
दहक उठे जो अंगारे बन गये
कुसुम कोमल सपने थे।
अंतर में जो गाँस मार गये
अधिक सब से अपने थे।
अब चल उसके द्वार, सहज जिस की करूणा है
और कहाँ, किस का आँसू कब थमा?
हृदय आकुल मत होना

(अंक- 5 मई, 1974, दिनमान पत्रिका से साभार)

दिनकर : समय का सूर्य

डॉ. विवेकी राय

हिन्दी-उर्दू के जिन चुने हुऐ कवियों के चरणों में बैठने पर अथवा जिनका स्मरण करने पर भारत राष्ट्र, राष्ट्रीयता और अपनी संपूर्ण सांस्कृतिक अस्मिता का गौरव-बोध स्मृति पटल को उद्वेलित करने लगता है उनमें कवि दिनकर का स्थान अप्रतिम है। वह वास्तविक अर्थ में 'अपने समय का सूर्य' है परंतु उसकी चमक-दमक, उसका ओज-तेज और उसकी ऊर्जा अपने समय तक सीमित नहीं है। उसकी प्रखर शब्दावली में आज भी भारत बोलता है। उसने समसामयिक राष्ट्रीय आकांक्षाओं के साथ जीवन के जिन मूल्यों को अन्वेषित और प्रतिष्ठित किया है, वे शाश्वत हैं। कवि के मानसिक परिवेश को नालंदा, वैशाली, हिमालय, अशोक, चंद्रगुप्त, भीष्म, कर्ण, परशुराम और पुरुरवा आदि जिस रूप में अपनी समग्र आस्था के साथ निर्मित करते हैं तथा जिस रूप में उसकी सांस्कृतिक काव्य-भूमि में राष्ट्रीयता का आह्वान, उद्वेलन, हुंकार और स्वाभिमान भरा बिरवा विकसित होकर राष्ट्रव्यापी प्रसार पाता है उसे देखते हुए उसकी कालजयी वाणी का बोध सहज रूप में हो जाता है। मात्र कान और मन को झनझनाने वाली वीर रस की पुरानी रूग्ण-चारण परंपरा से सर्वथा पृथक, शुद्ध-सात्विक, वीर रस की ऐसी परंपरा जिसमें राष्ट्रीयता और राष्ट्रीय आकांक्षा कवि की आत्मा के स्वर के रूप में झंकृत होती है, दिनकर की अपनी निजी पहचान है। इस पहचान में विद्रोह, विप्लव और विध्वंस है। ललकार, युद्धोत्साह, पौरुष और बलिदानी चेतना है। यह चेतना मनुष्य को मनुष्य बनाने, अपने स्वत्व के लिये लड़ने और समस्त प्रकार की भीरुता, किंकर्तव्यविमूढ़ता और कायरता को हटाकर उसके सात्विक तेज़ को उभारने के संदर्भ में जितनी प्रासंगिक गांधी और नेहरू-युग में थी उतनी ही प्रासंगिक तब तक रहेगी जब तक इस धरती पर दैन्य, दासता, अन्याय, अत्याचार, शोषण, वैषम्य और अमानवता रहेगी।

मनुष्य की दैन्य-दासता आदि को हटाने के लिए जिस अहिंसक मार्ग का नेतृत्व महात्मा गांधी ने किया उसका सात्विक विरोध दिनकर के काव्य में दृष्टिगोचर होता है। अपने दुर्द्धष चरण-चाप से भूगोल को दबा देने वाली 'विपथगा' क्रांति में कवि का अटूट विश्वास है। उसे युधिष्ठिर की सत्यनिष्ठा पर नहीं गांडीव-गदा सहित अर्जुन-भीम की वीरता पर आस्था है। इसीलिये जब वह देश की सोयी अस्मिता के प्रतीक-रूप में हिमालय को जगाता है तो उक्त वीरों को और उनके अस्त्र-शस्त्र को लौटा देने की मांग करता है। अत्यंत बेलाग भाषा और दो टूक शब्दावली में वह धर्मराज को नकारते हुए कहता है--

''क्षमा, दया, तप, तेज, मनोबल की दे वृथा दुहाई,
धर्मराज व्यंजित करते तुम मानव की कदराई।''

इस प्रकार दिनकर में जो क्रांति का शंखनाद और शौर्य का उद्घोष है उसकी प्रक्रिया अत्यंत स्पष्ट है। उनकी दृष्टि में उच्च विजित शृंगों पर चढ़कर वही झंडा उड़ाते हैं जो अपनी ही उंगली पर खंजर की जंग छुड़ाते हैं। कवि दिनकर ऐसे ही क्रांतिकारी दीवानों का पक्षधर है। इनका उसने निकट से साक्षात्कार किया है। उसने देखा है कि 'जिन्हें देखकर दिलेर मर्दानों की हिम्मत डोल जाती है उन मौजों पर कुछ दीवानों की किश्ती चली जा रही है।' इन लोगों की रस से भरी जवानी नेत्रों पर चढ़ कर खेलती है। इनके पैरों में जब छाले पड़ जाते हैं तो इनकी गति की तृषा और बढ़ जाती है। इन्हें भाग्य या नियति का नहीं, अपने पौरुष का, भुजबल का भरोसा होता है --

''ब्रह्मा से लिखा भाग्य में मनुज नहीं लाया है।
अपना सुख उसने अपने ही भुजबल से पाया है॥''

एसे पौरुष के काव्य का प्रणेता तेजोद्दीप्त कवि दिनकर जिसकी पांच फीट ग्यारह इंच लंबाई में सचमुच ही सूरज की भाँति दमकता एक गोरा चिट्टा, भारी भरकम, बड़ी-बड़ी आँखे, तेजस्वी और गुरु गंभीर वाणी से परिपूर्ण शरीर एक युगों तक उसकी उस घोषणा को सत्यापित करता रहेगा, जिसमें कहा गया है कि 'सुनूँ मैं सिंधु ! क्या गर्जन तुम्हारा? स्वयं युग-धर्म का हुंकार हूँ मैं।'' लोकमानस में कवि का यह हुंकार आज भी गूंजता है और बीतते समय के साथ इसकी प्रखरता और भी बढ़ती जायेगी। कवि दिनकर में यदि अद्वितीय संप्रेषणीयता है तो वह कुल मिलाकर उसकी प्रखरता को ही पाठकीय चित्त में संप्रेषित करती है। जैनेंद्र कुमार ठीक ही कहते हैं कि ''प्रखर शब्द दिनकर के व्यक्तित्व को अपने पुर्णता के साथ व्यक्त करता है।'' दिनकर की यह प्रखरता केवल उसी समय विद्यमान नहीं रहती है जब वह 'परशुराम की प्रतीक्षा' जैसे क्रोध और रोष के काव्य का सृजन करता है अथवा 'हुंकार', 'कुरूक्षेत्र', 'रश्मिरथी' आदि में गरजता है

अपितु उसकी व्याप्ति वहाँ भी होती है जहाँ वह 'उर्वशी' जैसा काम का काव्य-शिखर प्रस्तुत करता है अथवा 'रसवंती' आदि में प्राणों के आग्रह के साथ सहज मन की प्रवृत्तिमूलकता को अभिव्यक्त करता है। सांस्कृतिक और राष्ट्रीय चेतना के साथ उसकी यह वैयक्तिक चेतना जो 'आदमी' होने की ईमानदारी के साथ देह की पुकार वाले भोग और देश की पुकार वाले त्याग के अन्तर्द्वन्द्व के साथ अभिव्यक्त होती है, बहुत ही प्रभावशाली होने के साथ कवि-व्यक्तित्व की संपूर्णता और संतुलन-चारुता को प्रमाणित करती है। लचीली कोमला और फौलादी कठोरता का यह समन्वय सर्वत्र पाठकों को विभोर कर देता है। गरजन-तड़पन और ललकार-फुफकार के बीच जब कभी 'बन तुलसी की गंध लिये शीतल पुरवइया आती है' और कवि को उसका ग्रामांचल पुकारता है तो वह अपने को रोक नहीं पाता है। वह तड़प उठता है -

''कवि असाढ़ की इस रिमझिम में, घन-खेतों में जाने दे।
कृषक बघूटी के स्वर में, अटपटे गीत कुछ गाने दे!''

ऐसा लगता है कि गाँव, खेत, धरती, किसान और किसानों का शोषित-पीड़ित देश बीज रूप में दिनकर के काव्य में पड़ा है और इसीलिये उसमें अचूक शक्ति आ गयी है। अपने इस उजड़े ग्रामांचल को देखते वह दिल्ली को फटकरता हुआ दृष्टिगोचर हो रहा है, 'मरघट में तू सज रही दिल्ली ऐसी शृंगार?' समय और स्थितियों के बदल जाने पर भी ऐसा लगता है कि दिनकर की वह 'दिल्ली' शीर्षक कविता अभी शत-प्रतिशत ताज़ी है। अपने गाँवो को देखते आज भी लगता है कि स्वराज्य कहीं अटक गया है और कानों में दिनकर के स्वर गूँजते हैं। वह सीधे दिल्ली से पूछ रहे हैं, ''बोल दिल्ली तू क्या कहती है? तू रानी बन गयी, वेदना जनता क्यों सहती है?'' यह राष्ट्रकवि दिनकर ही है जो रानी दिल्ली को सीधे हुक्म दे सकता है, ''सिंहासन खाली करो कि जनता आती है।''

यह जनता के स्वत्व, न्याय, सुख और स्वाभिमान का प्रबल अधिवक्ता दिनकर क्या है? जो बेनीपुरी जी के शब्दों में ''इंद्रधनुष की अठखेलियों से आच्छादित धधकता अंगारा है, जो एक स्कूल के प्रधानाध्यापक से उठकर सब-रजिस्ट्रार, युद्ध-प्रचार विभाग का सेवक, जनसम्पर्क विभाग का डिप्टी डायरेक्टर, हिन्दी प्रोफेसर, विश्वविद्यालय-कुलपति, सदस्य राज्य सभा और हिन्दी सलाहकार, भारत सरकार तक पहुँचता है, जिसे पद्म भूषण की उपाधि के साथ साहित्य अकादमी पुरस्कार, ज्ञानपीठ पुरस्कार, उत्तर प्रदेश और बिहार की सरकारों के अनेक पुरस्कार और साहित्य चूड़ामणि, विद्यावाचस्पति तथा डी.लिट्. की उपाधियाँ उछल कर चूमती हैं, जिसने ' बारदोली विजय' (1928) से शुरू कर बत्तीस काव्य-ग्रंथ और सत्ताईस गद्य पुस्तकें हिन्दी साहित्य को भेंट कीं, जिसकी यूरोप, चीन, रूस, मारीशस, जर्मनी, और इंग्लैंड की यात्राओं में भारत के साथ हिन्दी भाषा का सिर ऊँचा उठा। सन् 1952 से मनोनीत होकर जिसका राज्य सभा के सदस्य वाला बारह वर्षीय जीवन कुल मिलाकर हिन्दी के लिए घनघोर लड़ाई का जीवन रहा और जिसके राज्य सभा में किये गये महत्वपूर्ण पंद्रह भाषण हिन्दी भाषा और हिन्दी साहित्य के न्याय संगत प्रामाणिक पक्ष को विरोधियों के प्रहारों को मुहँतोड़ उत्तर के साथ प्रस्तुत करने वाले मूल्यवान दस्तावेज़ हैं। जिसके जीवनकाल में ही उसके साहित्य का अंग्रेजी, रूसी, स्पेनिश, दक्षिणी अमेरिका की भाषा, कन्नड़, तेलगु और उड़िया अनुवाद हो गया और सौ से ऊपर शोध और समालोचनात्मक ग्रंथ प्रकाशित हो गये, जो एक साथ उच्च कोटि का कवि, गद्यकार, इतिहासकार, संस्कृति-विश्लेषक, निबन्धकार, भाषणकर्ता और कवि सम्मेलन का आकर्षक शृंगार है, जो नर-वीरों और तलवार वालों की धरती को जीत कर अंत में हरिनाम की ओट वाली अपनी हार को भी ईमानदारी से प्रकाशित कर देता है, जिसकी शब्दावली में सामर्थ्य, शक्ति, समृद्धि, जीवंतता, गूँज, ध्वनि, रस, बिंब, प्रवाह, वक्रता, विदग्धता, द्वंद्व, आवेग, उत्तेजना, और अकुलाहट आदि विलक्षण सहजता के साथ विद्यमान हैं, वह सिमरियाघाट का जन्मा कवि रामधारी सिंह दिनकर वास्तव में क्या है? इस प्रश्न का उत्तर अच्छा हो कवि के शब्दों में ही प्रस्तुत किया जाय। वह पुरुरवा से तादात्म्य स्थापित कर उर्वशी से कहता है --

''मर्त्यमानव की विजय का तूर्य हूँ मैं,
उर्वशी! अपने समय का सूर्य हूँ मैं।
अंध तम के भाल पर पावक जलाता हूँ,
बादलों के सीस पर स्यन्दन चलाता हूँ।

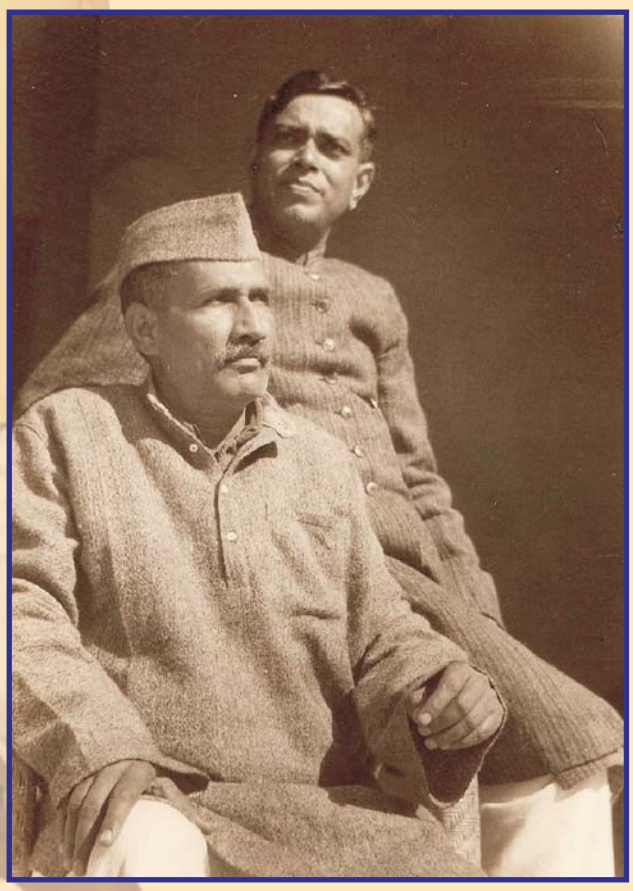

भारतीय संस्कृति का आख्यान : संस्कृति के चार अध्याय

डॉ० गोपाल राय

भारत दुनिया का एक अनोखा देश है। शायद ही कोई दूसरा देश हो जहाँ संस्कृतियों की इतनी विविधरंगी धाराएँ समानान्तर रूप से विकसित, प्रवाहित, मिश्रित और नवीन होती दिखाई दें। इनमें से कौन सी धारा कितनी प्राचीन है, इसका निर्धारण करना कठिन है। कौन सी धारा किससे और किस मात्रा में प्रभावित है, इसका हिसाब लगाना भी मुश्किल है। सबसे प्राचीन सांस्कृतिक धाराओं में वैदिक, द्रविड़ और कदाचित् चीनी-मंगोल भी, मानी जाती हैं। वैदिक और द्रविड़ धाराओं में द्वन्द्वात्मक सम्बन्धी तो हजारों साल पहले ही हो गया और उसके परिणामस्वरूप एक समृद्ध सांस्कृतिक परम्परा विकसित हुई जो आज भारत की प्रमुख सांस्कृतिक धारा है। ई.पू. पाँचवी-छठी शताब्दी में बौद्ध और जैन चिन्तन भी अस्तित्व में आया और उसका प्रभाव भी केन्द्रीय भारतीय संस्कृति पर पड़ा। चीनी-मंगोल और वैदिक-द्रविड़ परम्परा में शायद सबसे कम सम्बन्धा स्थापित हुआ जिसके कारण चीनी-मंगोल परम्परा आज भी भारत के पूर्वी भागों में अपने मूल रूप के बहुत निकट बनी हुई है। चीनी-मंगोल संस्कृति बौद्ध चिन्तन से अनुकूलित हुई जिसके फलस्वरूप भारत के कुछ भागों में इनके सम्पर्क से निर्मित संस्कृति का कुछ नया स्वरूप भी दिखाई पड़ता है।

भारत की मुख्य सांस्कृतिक धारा को झकझोरने वाली इस्लामी सांस्कृतिक धारा थी जो पहुँची तो इस्लाम के उदय के प्रायः साथ ही, पर बारहवीं सदी के लगभग अन्त में मुस्लिम शासन की स्थापना के साथ उसका वेग अप्रत्याशित हो गया। यो उसके पहले से ही एशिया के उत्तरी-पश्चिमी भागों से कट्टरपन्थी इस्लाम द्वारा प्रताड़ित सूफी सन्त भारत आने लगे थे, पर मुस्लिम शासन की स्थापना के बाद भारत में सूफी मत का प्रसार और भी तेज हो गया। उसके बाद लगभग छह सौ साल तक, प्राचीन काल से सतत प्रवाहमान भारतीय संस्कृति की मुख्य धारा के साथ इस्लामी संस्कृति का घर्षण होता रहा जिसके परिणामस्वरूप भारतीय संस्कृति का एक नया रूप अस्तित्व में आया जिसे आज 'गंगा-जमुनी' संस्कृति के रूप में देखा जाता है। अठारहवीं शताब्दी में अँगरेजों के आने के बाद इस गंगा-जमुनी संस्कृति में यूरोपीय संस्कृति का रंग भी मिल गया। यदि हम आज के सन्दर्भ में देखें तो यही सांस्कृतिक धारा भारत की मुख्य सांस्कृतिक धारा प्रतीत होती है, यद्यपि वैदिक, द्रविड़ी, चीनी-मंगोली, बौद्ध, जैनी, इस्लामी आदि सांस्कृतिक धाराएँ भी अपना अस्तित्व बनाये हुए हैं और उनके बीच घर्षण और समन्वय की प्रक्रिया जारी है।

रामधारी सिंह दिनकर ने अपने संस्कृति के चार अध्याय नामक पुस्तक में मुख्यतः द्रविड़, वैदिक और इस्लामी संस्कृति के अन्तः सम्बन्धों का आख्यान प्रस्तुत किया है। जैसा हम जानते हैं, दिनकर मुख्यतः कवि हैं, पर 1950-55 का काल उनका चिन्तन-काल कहा जा सकता है। इसी अवधि में वे एल. एस. कॉलेज, मुजफ्फरपुर में हिन्दी के प्रोफेसर नियुक्त हुए थे और स्नातकोत्तर वर्गों में अध्ययन और शोध का दायित्व उन पर आया था। इस दायित्व की पूर्ति हेतु उन्होंने जो गम्भीर अध्ययन किया उसी का परिणाम थी यह पुस्तक। इस तथ्य को उन्होंने अपनी किताब की भूमिका में भी स्वीकार किया है। भारत के प्रथम प्रधानमंत्री ने इसकी भूमिका लिखकर इसके महत्व को द्विगुणित कर दिया था। इसी पुस्तक पर दिनकर को साहित्य अकादमी का पुरस्कार भी मिला।

इस पुस्तक में दिनकर ने चार अध्यायों में क्रमशः हिन्दू संस्कृति के आविर्भाव, प्राचीन हिन्दुत्व से विद्रोह, हिन्दू संस्कृति और इस्लाम तथा भारतीय संस्कृति पर यूरोप के प्रभाव का विवेचन किया है। जैसा दिनकर ने स्वीकार किया है, पाँच वर्षों का अध्ययन ऐसे व्यापक और उलझे हुए विषय के लिए बहुत अपर्याप्त होता है, पर दिनकर ने हिन्दी पाठकों, अध्यापकों और उच्चवर्ग के छात्रों को यह चिन्तन-सामग्री तब उपलब्ध करायी

थी, जब हिन्दी में भारतीय संस्कृति को उसकी समग्रता में प्रस्तुत करने वाली एक भी सन्तोषजनक पुस्तक उपलब्ध नहीं थी। दिनकर एक बड़े कवि होने के साथ साथ एक बड़े अध्यापक भी थे। बड़ा अध्यापक वह होता है जो किसी विषय पर उपलब्ध पुस्तकों से सामग्री संचयन करने के साथ साथ उसमें अपने चिन्तन का स्वर भी मिला देता है। दिनकर ने इस किताब में यही किया है, जिससे पुस्तक चमक गयी है और आज भी इसकी चमक मद्धिम नहीं हुई है।

भारतीय समाज के बारे में दिनकर जी ने लिखा है कि ''संसार में कुल मिलाकर गोरे, गेहुएँ, काले और पीले, ये चार रंग के लोग हैं और इन चारों रंगों का भरपूर मिश्रण भारतीय जनता में हुआ है। भाषा की दृष्टि से देखें, तब भी, सभी भाषा-परिवारों की सन्ततियाँ इस देश में एक साथ जी रही हैं। और धर्म की दृष्टि से तो सारा भारत, आरम्भ से ही, संसार के सभी धर्मों की सम्मिलित भूमि रहा है।'' अपने एक निष्कर्ष में दिनकर जी ने बताया है कि ''मुसलमानों के आगमन से पूर्व तक इस देश में जितनी भी जातियों के लोग आये, सब हिन्दू हो गये, सब के सब भारतीय हो गये। भारतीय जनता न तो शुद्ध आर्य वंश की है और न द्रविड़ वंश की। वह उन सभी जातियों की सन्ततियों का समुदाय है, जो समय समय पर इस देश में आयीं और यहीं बस गयीं।'' दिनकर ने बहुत स्पष्टता के साथ लिखा है कि ''भारत में जितनी जनताएँ मिलीं, वे एक मत की नहीं थीं। भारत में जितने भी धर्म मिले, वे एक ही प्रकार के धर्म नहीं थे। भारत में जितने विचारों के बीच समन्वय हुआ, वे सभी विचार परस्पर समान ही नहीं थे और भारत में जितनी संस्कृतियों के मिश्रण से राष्टीय या सामासिक संस्कृति उद्‌भूत हुई, वे संस्कृतियाँ भी परस्पर अविरोधिनी नहीं थीं। किन्तु, फिर भी भारत ने इन विभिन्न विचारों, मतों, धर्मों और संस्कृतियों के बीच पूरा सामंजस्य बिठा दिया और इन्हीं विभिन्नताओं का समन्वित रूप हमारा सबसे बड़ा उत्तराधिकार है।'' यदि हिन्दू संस्कृति मुस्लिम संस्कृति को पचाने में समर्थ नहीं हो सकी तो इसका कारण इस्लाम की युवा ताकत और वृद्ध हिन्दू धर्म के सांस्कृतिक अन्तर्विरोध थे। फिर भी दोनो संस्कृतियों में आवाजाही तो हुई ही, जिसका प्रमाण हम साहित्य, कला और आज के रहनसहन तथा रीतिरिवाजों में देख सकते हैं। इसके बावजूद यदि धर्म के नाम पर देश का विभाजन हो गया और बहुत सारे उदार दृष्टिकोण के नेता, साहित्यकार और चिन्तक इसके कारण बने तो यह सोचने की बात तो है ही। महत्त्व की बात यह है कि भारत में हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति के तार टूटे नहीं और अलगाववादी शक्तियों की जोर आजमाइश के बावजूद सांस्कृतिक समन्वय की प्रक्रिया आज भी जारी है। दिनकर ने इसका बहुत अधिक श्रेय 'अनेकान्तवाद' को दिया है, जो जैन चिन्तन की देन है। उनका कहना है : ''अनेकान्तवादी वह है जो दुराग्रह नहीं करता। अनेकान्तवादी वह है जो दूसरों के मतों को भी आदर से देखना और समझना चाहता है। अनेकान्तवादी वह है जो अपने पर भी सन्देह करने की निष्पक्षता रखता है। अनेकान्तवादी वह है जो समझौतों को अपमान की वस्तु नहीं मानता। अशोक और हर्ष अनेकान्तवादी थे, जिन्होंने एक धर्म में दीक्षित होते हुए भी सभी धर्मों की सेवा की। अकबर अनेकान्तवादी था, क्योंकि सत्य के सारे रूप उसे किसी एक धर्म में दिखाई नहीं दिये और सम्पूर्ण सत्य की खोज में वह आजीवन सभी धर्मों को टटोलता रहा। परमहंस रामकृष्ण अनेकान्तवादी थे, क्योंकि हिन्दू होते हुए भी उन्होंने इस्लाम और ईसाइयत की साधना की थी। और गाँधी जी का तो सारा जीवन ही अनेकान्तवाद का मुक्त अध्याय था।'' दिनकर ने आगे लिखा है : ''यदि भारत की सामासिक संस्कृति सत्य है तो एक दिन विश्व संस्कृति एवं विश्व मानवता की कल्पना भी सत्य होगी। भारत ने मार्ग बता दिया है। वह सत्य और अहिंसा का मार्ग है।'' कहना नहीं होगा कि आज दुनिया के बहुत सारे चिन्तक इससे सहमत हैं।

इस किताब में दिनकर की पूरी कोशिश यह समझने की रही है कि यह सामासिक संस्कृति किस प्रकार जन्मी और किस प्रक्रिया से बढ़ती आयी है। मैं यहाँ उसका सारांश देकर अपने लेख के कलेवर को बढ़ाना नहीं चाहता। संस्कृति विषयक मेरा अध्ययन भी इतना समृद्ध नहीं है कि मैं इस किताब में प्रदत्त तथ्यों का विश्लेषण कर सकूँ। पर अपने संस्कृति सम्बन्धी सामान्य ज्ञान से अनुभव करता हूँ कि दिनकर ने भारत के हिमालय और उत्तरी-पूर्वी क्षेत्र में चीनी-मंगोल और बौद्ध संस्कृति के मिश्रण से उपजी संस्कृति के विवेचन पर ध्यान नहीं दिया है। दिनकर ने ही नहीं, भारतीय संस्कृति का विवेचन करने वाले अन्य विद्वानों ने भी इस पक्ष की उपेक्षा की है। इस प्रकार की उदासीनता का एक परिणाम यह हुआ है कि इन क्षेत्रों की जनता अपने को भारत की सांस्कृतिक विरासत का अनिवार्य हिस्सा नहीं समझती। अब समय आ गया है कि भारतीय विद्वान भारतीय संस्कृति के इस पक्ष को भी अपने चिन्तन का अंग

बनाएँ।

यह जाहिर है कि दिनकर ने यह पुस्तक हिन्दी साहित्य के इतिहास के अध्ययन के सन्दर्भ में लिखी थी। हिन्दी साहित्य के इतिहास को समझने के लिए भारतीय संस्कृति के इतिहास का बोध जरूरी था। भक्ति साहित्य के अध्ययन के लिए तो यह अपरिहार्य ही था। रामचन्द्र शुक्ल और हजारी प्रसाद द्विवेदी के इतिहास इस अपेक्षा को पूरा करने में समर्थ नहीं थे। यह काम दिनकर ने अद्‌भुत अध्ययन और प्रांजल अभिव्यक्ति के साथ किया है। रामचन्द्र शुक्ल, और हजारी प्रसाद द्विवेदी, दोनो ने चौदहवीं-पन्द्रहवीं सदी में दक्षिण भारत में रचे गये हिन्दवी-हिन्दी काव्य को हिन्दी साहित्य से बाहर रखा। यह भूल, जाने अनजाने, दिनकर जी से भी हुई है। दक्षिण भारत में रचित हिन्दवी-हिन्दी काव्य कथ्य की दृष्टि से सूफी भावना और चिन्तन से सम्बद्ध है। यह भाषा दिल्ली के आसपास की भाषा थी, जिसे अमीर खुसरो ने 'देहलवी और उसके इतराफ की जबान' कहा था, और जिसमें ब्रजभाषा, हरियाणवी, पंजाबी, कौरवी आदि का मिश्रण था। यही भाषा अमीर खुसरो की कविता के रूप में काव्यभाषा के रूप में प्रतिष्ठित हुई, दकनी कवियों की काव्य-रचनाओं में फली-फूली, कुछ शताब्दियों तक उर्दू काव्य के साथ साथ यात्रा करने के बाद उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में उसका पुनर्जागरण हुआ और बीसवीं शताब्दी के प्रथम दो दशकों में उसका काव्यभाषा के रूप में मानकीकरण हुआ। जहाँ तक गद्य की बात है ख्वाजा बन्दानवाज गेसूदराज ने अपने धर्मिक उपदेशों के लिए उस भाषा का प्रयोग आरम्भ किया, जो दकनी लेखकों की रचनाओं में मँजती हुई, उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम तीन चरणों में कथा लेखकों की मौलिक-अनूदित रचनाओं, ईसाई पादरियों के धर्मग्रन्थों और स्कूली पाठ्यपुस्तकों में अपने रूप की तलाश करती रही और शताब्दी के अन्तिम चरण में भारतेन्दु और उनके सहयोगी लेखकों द्वारा साहित्य की सर्जनात्मक भाषा के रूप में ढली। बीसवीं शताब्दी के प्रथम दो दशकों में महावीर प्रसाद द्विवेदी, प्रेमचन्द, जयशंकर प्रसाद, रामचन्द्र शुक्ल और अन्य गद्यलेखकों की रचनाओं में उसके गद्यरूप का भी मानकीकरण हुआ। वही 'हिन्दी' आज भारत की राजभाषा साहित्य की भाषा शिक्षा के माध्यम की भाषा तथा व्यवहार के अन्य रूपों की भाषा के रूप में मान्य है।

दिनकर जी द्वारा दक्षिण भारत में साहित्य और शासन की भाषा बनी हिन्दवी-हिन्दी या 'दकनी' को उर्दू मान लेना संगत नहीं है। किसी भी 'दकनी' के कवि या गद्यलेखक ने उसे 'उर्दू' नहीं कहा है। 'हिन्दी' या 'हिन्दवी' का ही नाम अठारहवीं सदी के लगभग मध्य में 'उर्दू' पड़ा। उसके पहले कोई 'हिन्दी' या 'हिन्दवी' को 'उर्दू' नहीं कहता था। यहाँ तक कि मीर जैसे कवि भी अपनी भाषा को 'हिन्दी' ही कहते थे। उनका एक शेर है :

क्या जानूँ लोग कहते हैं किसको सरूरे कल्ब
आया नहीं है ल"ज ये हिन्दी जबाँ के बीच

मीर केवल अपनी भाषा को 'हिन्दी' ही नहीं कहते, बल्कि 'सरूरे कल्ब' जैसे शब्द को भी 'हिन्दी' का नहीं मानते। यहाँ इस तथ्य का उल्लेख भी जरूरी है कि अठारहवीं सदी के उत्तरार्ध में उर्दू को विशिष्ट रूप देने के लिए 'मतरूकात' नाम से जाना जाने वाला एक अभियान चला था जिसके तहत बहुत सारे देसी, तद्‌भव और संस्कृत शब्दों को उर्दू से जिलावतनी दे दी गयी थी। इसके साथ ही भारतीय काव्य-परम्परा के उपमानों, प्रतीकों और मिथकों से भी परहेज करने का विधान किया गया था। इस 'शुद्धीकरण' के अभियान में दर्द, सौदा, मजहर, हातिम आदि शायर शामिल थे। जहरुद्दीन हातिम ने तो 1757 में (जिस वर्ष औपनिवेशिक गुलामी का तौक भारतीयों के गले पड़ा) 'दीवानजादा' नाम का शब्द-संग्रह ही तैयार कर डाला था, जिसमें उन हिन्दी शब्दों की सूची दी गयी थी जिनका प्रयोग नहीं करना है और जिनके स्थान पर फारसी शब्दों का प्रयोग करना है। इस प्रकार भारतीय काव्य-परम्परा से परहेज और फारसी काव्य-परम्परा के प्रति झुकाव ने 'उर्दू' को नयी पहचान दी। कहा जा सकता है कि यहाँ से 'उर्दू' की मूल परम्परा पर फारसी परम्परा हावी हो गयी, जबकि 'हिन्दी' अपनी मूल परम्परा से कभी अलग नहीं हुई। दिनकर जी ने भी इस तथ्य का उल्लेख किया है, पर दक्षिण में साहित्य और शासन की भाषा के रूप में पनपी हिन्दवी-हिन्दी को 'उर्दू' मानने से उनके कथन में अन्तर्विरोध पैदा हो गया है। पर एक ऐसे व्यक्ति के लिए, जो अपने शुरुआती दौर में हिन्दी साहित्य का विद्यार्थी न रहा हो, जिसकी सारी जिन्दगी काव्य-साधना में व्यतीत हुई हो और जो हिन्दी साहित्य के इतिहास के अध्यापन से न जुड़ा रहा हो, यह विचलन कोई बहुत आश्चर्य की बात नहीं है। आश्चर्य की बात यह है कि उसने केवल पाँच वर्षों में हिन्दी साहित्य के इतिहास के आधारभूत ग्रन्थ के रूप में ऐसी श्रेष्ठ पुस्तक की रचना कैसे कर डाली।

संपर्क करे : सत्यकाम, एच-2, यमूना आवासीय परिसर, इग्नु, मैदानगढ़ी, नई दिल्ली-110067

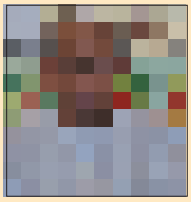

क्रोध, करुणा और सौन्दर्य के कवि

डॉ. नामवर सिंह

दिनकर की वाणी में ही दिनकर के बारे में कहा जा सकता है। विद्यापति के बाद छह सौ वर्षों तक यह भूमि किसी महाकवि की प्रतीक्षा करती रही और वह दूसरा महाकवि दिनकर के रूप में इसे मिला। दिनकर निराला के समान ओज और ऊर्जा के शायद भारतवर्ष में सबसे बड़े कवि थे। दिनकर में सात्विक, क्रोध, कोमल करुणा और सौंदर्य की अनूठी पहचान थी। 'हारे को हरिनाम' में दिनकर तुलसी की तरह शायद बीसवीं सदी की विनय-पात्रिका लिखते हैं।

दिनकर जी की अनेक छवियाँ हैं। एक छवि प्रतिमा के रूप में स्थापित हुई है। उसके कलाकार के विषय में अवश्य कहना चाहूँगा और दिनकर जी की एक कविता के साथ कहूँगा। उनकी एक कविता है- शबनम की जंजीर/और उस कविता की चार पंक्तियाँ- भर सको अगर तो प्रतिमा में चेतना भरो/ यदि नहीं निमंत्रण दो जीवन के दानी को/ विभ्राट, महाबल जहाँ थके से दीख रहे/ आगे आने दो वहाँ क्षीण बल प्राणी को। विभ्राट महाबल से आतंकित होने वाले दिनकर जी नहीं थे। इस प्रतिमा में चेतना कौन भरेगा? और उन्होंने कहा आने दो उसे जो क्षीण बल प्राणी हैं और क्षीण बल प्राणी कौन? दिनकर जी की नजर में सपनों के तो सारथी क्षीणबल होते हैं। जो सपनों का सारथी होता है वही क्षीणबल हुआ करता है। कलाकार और कवि उसी जाति के हैं जो सपनों के सारथी हुआ करते हैं। मुझे देखकर खुशी हुई, उस क्षीणबल कलाकार ने जिसे मैं दिनकर के सपनों के सारथियों में से एक मानता हूँ। उसने प्रतिमा बनायी जो महाकवि के गौरव एवं आकांक्षा के अनुरूप ही हुआ है। दिनकर के संदर्भ में निराला का नाम कई बार लिया गया है। नाम सुनते ही निराला के गीत की पंक्ति याद आयी-बादलों में घिर अपर दिनकर रहे। यह श्रृंगार का गीत है जिस संदर्भ में बात आयी। मुझे लगा दिनकर के बारे में जितना लिखा गया है और आज जितनी चर्चा हुई है ओज का, ऊर्जा का हुंकार का। गर्जन-तर्जन के कवि के रूप में दिनकर को लोग अधिक जानते हैं। और दिनकर ने जितना गर्जन-तर्जन किया उससे ज्यादा उनके बारे में गर्जन-तर्जन हुआ है। मुझे लगता है कि वह जो दूसरा दिनकर है छिप गया है- बादलों में घिर अपर दिनकर रहे। दिनकर जी को सूर्य कहते समय हम भूल जाते हैं कि सूर्य का एक ही रंग नहीं होता है। रोशनी भी होती है। उस प्रकाश के, उस आलोक के अनेक रंग होते हैं। बल्कि धरती पर जितने रंग दिखाई पड़ते हैं वे सारे के सारे रंग, रंग बिरंगे पुष्प सूरज की रोशनी से ही हैं। सूरज न हो तो उतने रंग धरती पर नहीं होंगे।

इसलिए दिनकर का केवल एक रंग है, एक रस है, एक स्वर है- ये कहके अच्छा तो लगता है। शायद नौजवान लोगों को, उत्साही लोगों को और नेता लोगों को बहुत काम आते हैं। जनता को भड़काने के लिए। लेकिन कई सत्य है। दिनकर की कविता याद दिलाता हूँ- नेता, नेता, नेता। बहुत पहले लिखी गयी कविता, जब घोटाले वगैरह नहीं हुआ करते थे इतने। कम-कम हुआ करते थे। मैं जानना चाहता हूँ व्यंग्य के बारे में जो आज के दौर में बहुत सार्थिक है और गर्जन का युग नहीं है यह। कविता है- *नेता नेता नेता/ नेता का अब नाम नहीं ले/ अंधेपन से काम नहीं ले/ हवा देश की बदल गयी है/ चाँद और सूरज/ ये भी अब/ छिपकर नोट जमा करते हैं/ और जानता नहीं अभागे/ मंदिर का देवता चोरबाजारी में पकड़ा जाता है/ अपना हाथ घिनायेगा तू/ उठ मंदिर के दरवाजों से/ जोर लगा खेतों में अपने/ नेता नहीं भुजा करती है/ सत्य सदा जीवन के सपने/ पूजे अगर खेत के ढेले/ तो सचमुच कुछ पा जायेगा/ भीख या कि वरदान माँगता/ पड़ा रहा तो पछतायेगा/ इन ढेलों को तोड़/ भाग्य इनसे तेरा जागने वाला है/ नेताओं का मोह मूढ़/ केवल तुझको ठगने वाला है।*

इसलिए दिनकर को जब हम याद करें तो देखें और इसलिए जरूरी है कि वीर रस का काव्य रचने वाला आदमी कभी-कभी एक सुपरमैन या महामानव के इंतजार में रहता है। ब्रेख्त के नाटक में एक कविता है। चेला गाता है-*अभागा है वह देश/ जहाँ हीरो नहीं/* गैलीलियों चुपके से कहता है- *अभागा है वह देश/ जिसे हीरो की तलाश है।* इसलिए देश में अगर एक नेता हो जाए तो सब ठीक हो जायेगा, यह वो मनोवृत्ति है जो देखने पर निरामिष मालूम होती है, निरापद मालूम होती है, जिसके शिकार साधारण आदमी होते हैं जो अनुशासन में सबसे पहले मारे जाते हैं। ऐसे दौर में दिनकर जी बड़ी अच्छी तरह से इस सच्चाई को पहचानने लगे थे।

लेकिन मित्रों, मैं फिर, मेरी रुचि में जो अपर दिनकर हैं वो ये हैं। दिनकर ने बड़े दुख के साथ एक कविता लिखी है जिस पर आप लोगों का ध्यान गया होगा। उनकी कविता है- *भूले भी न मेरी विपदाएँ थाहते हैं दोस्त/ केवल पुरानी कविताएँ चाहते हैं दोस्त/* दोस्त और खासकर औरतें।

ज्यादातर मैं देखता हूँ दिनकर जी पर चर्चा करते हुए हुंकार से, कुरुक्षेत्र से, दिल्ली वगैरह से कविताएँ कोट की जाती हैं। अंतिम दिनों में भी लोग दिनकर जी से यही कविताएं चाहते थे। और बहुत दुखी होकर लिखा होगा- मेरी पुरानी कविताएँ ही चाहते हैं दोस्त। दोस्त और खासकर औरतें। क्षमा कीजियेगा। औरतों के प्रति इतना बुरा भाव था नहीं दिनकर का। लेकिन पहली पंक्ति महत्वपूर्ण है- भले से भी मेरी विपदाएं न थाहते हैं दोस्त। दिनकर की उन विपदाओं को थाह कर देखें तो देखें कि दिनकर कहाँ से जाकर बोलते हैं। इस कविता में लगभग सत्तर के आसपास जहाँ स्वयं दिनकर पहले के काव्यशास्त्र को खारिज करते हैं, तिरस्कृत करते हैं-कविता न गर्जन न सूक्ति है/ वी का न घोष/ न तो वाणी स्वर चिंतकों की/ चौके हुए आदमी की उक्ति है/ कविता न पूर्ति है/ न माँग है/ सीढ़ियाँ नहीं है कि हरेक पाँव सीधा करे/ लॉजिक नहीं है/ ये छलाँग है/ अर्थ नहीं, काव्य शब्द योग है/ वासना का कीर्तन नहीं है खुद वासना है/ रागों का वह कागजी बखान नहीं, भोग है/ तंतुओं के जाल शब्द को जो कहीं बांधते हों/ सारे बंधनों के तार तोड़ दो/ अर्थ से बचो कि अर्थ बेड़ी है परंपरा की/ अर्थ को दबाने से ही शब्द बड़ा होता है/ निश्चित अनिश्चित का संगम जहाँ है शून्य/ कविता का सद्म निरावलंब खड़ा होता है। ये दिनकर एक नया काव्यशास्त्र लिख रहे थे।

दिनकर के बाद में जिंदगी के अनुभवों तजुर्बों से सिमरिया की जिंदगी और रेशमी शहर दिल्ली की जिंदगी देखी। उस परिपक्व कौम में पहुँचकर वे सोच रहे हैं। मुझे याद है दिनकर जी ने सबसे पहले जो पुस्तक छियासठ-सरसठ में पहली बार मुझे दी थी वह 'शुद्ध कविता की खोज' नाम की पुस्तक थी। दिनकर जी ने दूसरी पुस्तक देहावसान से कुछ ही महीने पूर्व 'हारे को हरिनाम' मुझे दी। अपने हस्ताक्षर से मुझे दो ही पुस्तकें दीं। क्यों महाकवि ने किया ऐसा मुझे नहीं मालूम। वह दिनकर मुझे कहीं अधिक गहरे और महत्वपूर्ण लगते हैं।

दिनकर जिस मंजिल पर पहुँचे थे, जहाँ पहुँचे थे वहाँ तक लोग आज भी याद नहीं करते। इसलिए कहा कि दिनकर को तब मैं बड़े कवियों में नाम लेता हूँ। मैंने विद्यापति के बाद यूँ ही उनका नाम नहीं लिया। विद्यापति रूपरस के कवि नहीं थे खाली। विद्यापति में 'हारे को हरिनाम' वाली जो स्त्रोत की भक्ति की भूमि होती है उस पर पहुँचे हैं कवि दिनकर। और नचारियाँ उनकी कम महत्वपूर्ण नहीं है। इसलिए मैं आज उस दिनकर को ही याद दिलाना चाहता हूँ। मैं ये नहीं कहता कि वही दिनकर दिनकर हैं लेकिन पूर्ववर्ती इलियट से परवर्ती इलियट अधिक बड़ा कवि है।

दिनकर जी के प्रसंग में दिनकर जी की एक कविता है। स्वयं अपने बारे में हर महाकवि लिखता है। जैसे निराला का संपूर्ण काव्य उनकी आत्मकथा है। निराला ने 'तुलसीदास' नाम का खंडकाव्य लिखा। तुलसीदास काव्य के नायक तुलसीदास नहीं हैं, वे निराला हैं। 'राम की शक्ति पूजा' के राम राम नहीं है। वे निराला हैं। सरोज स्मृति तो स्वयं हैं ही। अनेक गीतों में दिनकर हैं। दिनकर बाहरी जीवन में क्या थे, राज्य सभा के सदस्य थे, सरकारी नौकरी की, प्रोफेसर रहे। वाइस चांसलर रहे। सद्गृहस्थ रहे। पारिवारिक जिंदगी की उनकी बहुत बड़ी दुनिया थी। लेकिन दिनकर का जो आत्मस्वरूप था वो व्यक्तित्व दिनकर के काव्य में है। और उतनी ही गहराई से दिनकर आत्मविश्लेषण करते हैं और निर्ममता से भी।

अब एक बात पर विचार कर समाप्त करना चाहूँगा। उर्वशी दिनकर की प्रतिभा का शीर्ष है। जैसे प्रसाद ने अपनी सारी प्रतिभा 'कामायनी' में निचोड़कर रखी थी, दिनकर ने अपनी संपूर्ण प्रतिभा एवं काव्यशक्ति 'उर्वशी' में प्रदर्शित की। उर्वशी की छवि गढ़ते वक्त पुरूरवा की व्यथा कथा और पुरूरवा की कामनाओं की अपार लालसा को एक कविता में दिनकर ने कहा वह्नि का रसकोष बोलो कौन लेगा? आग का रसकोष और बेचैन रसकोष। आग के बदले मुझे संतोष बोलो कौन देगा। उर्वशी को पढ़ने के लिए केवल शृंगार की, संभोग की छवियों और चित्रों में भटकने की जरूरत नहीं। जो भटक गया वह भटक गया। इसलिए अग्नि का जो बेचैन रसकोष है उसके पीछे एक गहरा चिंतन है। बड़ा कवि गंभीर दर्शन के बिना नहीं हो सकता। तुलसी इसलिए बड़े थे। कबीर इसलिए बड़े थे। छायावादियों में प्रसाद और निराला इसलिए बड़े थे क्योंकि बड़े चिंतक थे। उसी 'उर्वशी' में वह पंक्ति है जिसकी ओर ध्यान पहली बार प्रगतिशील आलोचक डॉ॰ रामविलास शर्मा का गया। उर्वशी की पंक्ति है- चिंतन कर यह जान कि तेरी क्षण क्षण की चिंता से/ दूर-दूर तक के भविष्य का मनुज जन्म लेता है। इससे चिंतन के भीतर से भविष्य की सभ्यता, भविष्य के मनुष्य के बारे में दिनकर सोचते हैं। चाहे वह उर्वशी ही क्यों न हो उसमें आगामी युग की प्रतिमा, आगामी मनुष्य की प्रतिमा एवं छवियां गढ़ी गयी हैं। और यह प्रतिमा गहन चिंतन के बिना नहीं गढ़ी जाती है। शब्दों के आडम्बर और वाग्जाल से नहीं गढ़ी जा सकती।

बाद के दिनों की कविताएँ आप देखें। विज्ञान और टेक्नॉलाजी की सीमाएँ क्या हैं। और पर्यावरण पर आजकल बड़ी चर्चा हो रही है और देखता हूँ कि इस चिंता में मेधा पाटेकर, बाबा आम्टे और सुंदर लाल बहुगुणा जैसे लोग डूबे हैं। दिनकर की परवर्ती काव्य। 'लोहे के पेड़ हरे होंगे' इस भावी सभ्यता पर है जो विज्ञान और टेक्नॉलॉजी की है। जिसके लिए हम लोग मरे जा रहे हैं। नयी सभ्यता और नये इंसान का निर्माण करेंगे। दिनकर जी इस भारत का सपना उस दौर में देख रहे थे।

मित्रो! उस सबके अपने-अपने दिनकर थे और दिनकर महासागर के समान थे। यहाँ उनके सुपुत्र केदारनाथ सिंह मौजूद हैं। उनसे निवेदन करूँगा कुछ ऐसी व्यवस्था करें। सबकी रचनावलियाँ छप गयी। और प्रकाशक तैयार हैं। दिनकर समग्र एक बार छपकर आ जायें तब पता चलेगा दिनकर सचमुच क्या हैं। दिनकर अतीत के देवता नहीं हैं। भविष्य के निर्माता हैं।

(दिनकर पुण्यतिथि 24 अप्रैल 1998 को दिनकर भवन बेगूसराय में दिए गए व्याख्यान का टेप से लिया गया मुख्य अंश)

संस्कृति के चार अध्याय और दिनकर

डॉ. सत्यकेतु सांकृत

रामधारी सिंह 'दिनकर' पर दृष्टिपात करने के दरमियान 'दिनकर' के प्रभावशाली कवि रूप की चकाचौंध से हमारी आँखें इस तरह चुंधिया जाती हैं कि हम उनके गद्य साहित्य का प्राय: दीदार ही नहीं कर पाते। दिनकर निश्चित ही एक बड़े कवि थे पर उनका गद्य साहित्य किसी भी दृष्टि से कम महत्वपूर्ण नहीं है। अगर यह कहा जाए कि दिनकर जी का संपूर्ण व्यक्तित्व उनके गद्य और पद्य के समागम से ही निर्मित हुआ था तो इसमें कोई अतिश्योक्ति न होगी। दिनकर जी एक सजग साहित्यकार थे और भारतीय संस्कृति से उनका अनन्य लगाव था।अपने देश और अपनी संस्कृति के प्रति यह दुलार उन्होंने अपनी एक अत्यंत महत्वपूर्ण कृति ''संस्कृति के चार अध्याय'' में उड़ेल दिया है।यही कारण है कि इस बेमिसाल कलाकार ने भारतीय जनमानस से अपनी कलाकृति के प्रथम संस्करण में ही 'लेखक का निवेदन' के माध्यम से यह निहोरा किया है कि ''मेरा अपना क्षेत्र तो काव्य है एवं मेरे साहित्यिक जीवन का यश और अपयश मेरे काव्य पर ही निर्भर करता है। किन्तु, जिस परिश्रम से मैंने यह पुस्तक लिखी है, उस परिश्रम से मैंने और कुछ नहीं लिखा। मैंने पाठकों से कभी यह अनुरोध नहीं किया कि वे मेरी किसी कृति को पढ़ें। किन्तु, इस ग्रन्थ को एक बार देख जाने का अनुरोध मैं सब से करता हूँ।'' भारतीय जन मानस ने दिनकर के इस अनुरोध को सहर्ष स्वीकार किया और पूरी गम्भीरता के साथ इस रचना पर चिन्तन मनन प्रारम्भ किया। इसके लेखन काल में ही इसे लेकर एक बहस छिड़ गयी थी और इसके विरोध एवं समर्थन से सम्बन्धित स्वर एकसाथ उठने लगे थे। स्वयं दिनकर जी के शब्दों में ''संस्कृति के चार अध्याय'' का जितना प्रबल समर्थन और जैसा कठिन विरोध हुआ, उससे भी हिन्दी-भाषियों की जागरूकता का बहुत अच्छा प्रमाण मिलता है। लगभग छह वर्षों के भीतर इस ग्रन्थ के लेखक को कोई तीन सौ पत्र प्राप्त हुए, जिनमें से अधिकांश पत्रों में ग्रन्थ-परिमार्जन के सुझाव थे। कुछ ऐसे पत्र भी थे, जिनमें ग्रन्थ की भूरी-भूरी प्रशंसा की गयी थी अन्यथा यह कहा गया था कि लेखक अज्ञानी और मूर्ख है।'' दिनकर आगे कहते हैं कि ''लेकिन, तमाम कोलाहलों के बीच यह बात बिलकुल स्पष्ट हो गयी कि जिन लोगों के लिए यह पुस्तक लिखी गयी थी,उन्हें यह खूब पसन्द आयी है (नापसन्द यह उन्हें हुई, जिनके लिए, शायद, यह है ही नहीं। खास दिलचस्पी की बात तो यह है कि सांस्कृतिक एकता की बातें जनसाधारण ही सुनना चाहता है) पण्डित और विशेषज्ञ ऐसी बातों से बिदक जाते हैं।'' दिनकर को अपने लेखन कर्म पर पूरा विश्वास था और वे अपनी इस रचना की सफलता को लेकर पूरी तरह से आश्वस्त थे। प्रस्तुत पुस्तक के तृतीय संस्करण की भूमिका में उन्होंने लिखा है ''मेरा विश्वास है कि यद्यपि, मेरी कुछ मान्यताएँ गलत साबित हो सकती हैं,लेकिन, इस ग्रन्थ को उपयोगी मानने वाले लोग दिनोदिन अधिक होते जाएँगे। यह ग्रन्थ भारतीय एकता का सैनिक है। सारे विरोधों के बीच यह अपना काम करता जाएगा।'' दिनकर का यह कथन आज अक्षरश: सही साबित हुआ है। भारतीय संस्कृति की एक बेमिसाल तस्वीर इस पुस्तक के माध्यम से सामने आयी है। विद्वत मण्डली में भी इसे खूब सराहा गया है। ''होनहार वीरवान के होत हैं चिकने पात'' को चरितार्थ करती इस रचना को आरम्भ में ही 'साहित्य आकादमी' के पुरस्कार से नवाजा गया।

''संस्कृति के चार अध्याय'' भारतीय संस्कृति को उसकी समग्रता में प्रस्तुत करनेवाली एक अद्वितीय कृति है। इस पुस्तक की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें भारतीय समाज की नितांत जटिल और विशद संरचना को काव्यमयी भाषा में पेश कर रचनाकार ने 'गागर में सागर ' भरने का भागीरथी प्रयास किया है। इतिहास की नाजुक और नीरस भाषा के स्थान पर उसमें रोचकता की छौंक देते हुए दिनकर जी भारतीय समाज की दास्तां को परत दर परत खोलते जाते

हैं। इतिहास को कथा के रूप में कहने की यह किस्सागोई शैली उसे कहीं भी बोझिल नहीं होने देती। आजी और नानी की कहानियों को सदियों सुनता आया भारतीय समाज को इससे जुड़ने में कहीं कठिनाई नहीं होती और पूरे मजे के साथ वह भारतीय सभ्यता और संस्कृति की कहानी को अपने जेहन में उतार लेता है। इस रचना की एक बेहतरीन खूबी यह है कि इसमें वर्णित विषय तो निश्चित ही इतिहास का है, पर इसकी संरचना साहित्यिक तर्ज पर की गयी है। 'संस्कृति के चार अध्याय' के माध्यम से एक साहित्यकार ने यह दिखाने का प्रयास किया है इतिहास को किस भाषा में लिखा जाए कि वह रोचक बन जाए। पर यहाँ बतौर लेखक यह बात स्पष्ट कर देना जरूरी है कि वह इसे इतिहास का नहीं बल्कि साहित्य का ग्रन्थ मानने का पक्षधर रहा है। दिनकर जी अपने इस पुस्तक के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए 'लेखक का निवेदन' में कहा है ''मैंने जो इस काम में हाथ डाला, वह इस कारण नहीं कि मैं इतिहास की सेवा करना चाहता था, बल्कि, इसलिए कि स्वतंत्रता के बाद से देश में संस्कृति के नारे बड़े जोर से लगाए जा रहे हैं, किन्तु, जनसाधारण के सामने ऐसी सामग्री का, प्राय:, अभाव है जिससे वह समझ सके कि भारत की संस्कृति क्या है, कैसे-कैसे वह बढ़ती आई है और आगे वह कौन रूप ले सकती है। - - - - इस पुस्तक को मैं इतिहास नहीं, साहित्य का ग्रन्थ कहता हूँ।''

संस्कृति के चार अध्याय' में रामधारी सिंह दिनकर ने भारतीय संस्कृति के सम्पूर्ण इतिहास को जिस वैज्ञानिकता के साथ चरणबद्ध रूप में हमारे सामने परोसा है वह उनके विधेयवादी दृष्टिकोण और इतिहास मर्मज्ञ होने का परिचायक है। दिनकर जी के अनुसार उन्होंने इस ग्रन्थ को लिखने के पूर्व लगभग दो वर्षों तक भारतीय इतिहास और उससे सम्बन्धित सैकड़ों पुस्तकों का अध्ययन किया। इस गहन अध्ययन से जो सत्य प्रकट हुआ उसके आधार पर लेखक का यह विचार प्रस्फुटित हुआ कि भारतीय संस्कृति में कुल चार बड़ी सांस्कृतिक क्रांतियाँ हुई हैं और हमारी संस्कृति का इतिहास उन्हीं चार क्रान्तियों का इतिहास है। उन्होंने अपनी बात को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है कि हमारे देश में पहली क्रान्ति तब हुई, जब आर्य भारतवर्ष में आए और उनका आर्येतर जातियों से सम्पर्क हुआ। आर्यों ने आर्येतर जातियों से मिलकर जिस समाज की रचना की, वहीं से आर्यों अथवा हिन्दुओं का बुनियादी समाज विकसित हुआ। आर्य तथा आर्येतर संस्कृतियों के मिलन से जो संस्कृति उत्पन्न हुई, वही भारत की बुनियादी संस्कृति बनी। दिनकर जी की मान्यता है कि इस बुनियादी भारतीय संस्कृति के लगभग आधे उपकरण आर्यों के दिए हुए हैं और उसका दूसरा आधा आर्येतर जातियों का अंशदान है। आर्य और द्रविड़ संस्कृति को लेकर विद्वानों में जो मतभिन्नता है उसके सम्बन्ध में दिनकर की कहना है कि आर्य और द्रविड़ नाम से अभिहित किए जाने वाले भारतवासियों का धर्म एक है, संस्कार एक है, भाव और विचार एक है तथा जीवन के विषय में उनका दृष्टिकोण भी एक है। दरअसल आर्यों और द्रविडों का सांस्कृतिक मिश्रण इतनी सघनता के साथ हुआ कि उसके बिलगाव का प्रयत्न कठिन है। दिनकर जी के अनुसार यह बिलगाव इसलिए कठिन है क्योंकि जब से हमें लिखित प्रमाण मिलने लगते हैं उसके काफी पहले से ही इन दोनों जातियों के पारस्परिक मिश्रण की प्रक्रिया पूर्ण हो चुकी थी। इन्हीं दोनों जातियों ने मिलकर उस संस्कृति, जाति या समाज का निर्माण किया, जिसे हम हिन्दू-समाज कहते हैं। दिनकर जी इस बात पर विशेष बल देते हैं कि ऋग्वेद, केवल आर्यों का ही ग्रन्थ था, लेकिन उसके बाद उपनिषदों, पुराणों, स्मृतियों और दर्शनों का जो निर्माण हुआ, उनके पीछे केवल आर्य ही नहीं बल्कि द्रविड़ संस्कृति का भी जबरदस्त प्रभाव था। इस विशाल हिन्दू-साहित्य पर द्रविड़ों का भी उतना ही अधिकार है, जितना आर्यों का। आर्यों और द्रविडों के मिलन से भारतीय संस्कृति ने जो रूप धारण किया, यह उसी की ताकत थी कि इस समन्वय के बाद जो भी जातियाँ इस देश में आयीं, वे भारतीय संस्कृति के समुद्र में एक के बाद एक करके विलीन होती होती चली गयीं। दिनकर जी ने पं. जवाहरलाल नेहरू के हवाले से कहा है कि ''ईरानी और यूनानी लोग, पार्थियन और बैक्ट्रियन लोग, सीथियन और हूण लोग, मुसलमानों से पहले आने वाले तुर्क और ईसा की आरम्भिक सदियों में आनेवाले ईसाई, यहूदी और पारसी, ये सब-के-सब, एक-के-बाद एक, भारत में आये और उनके आने से समाज ने एक हलके कम्पन का भी अनुभव किया, मगर, अन्त में आकर, वे सब-के-सब भारतीय संस्कृति के महासमुद्र में विलीन हो गये। उनका कहीं कोई अलग अस्तित्व नहीं बचा।'' दिनकर इस बात से पूरी तरह सहमत दिखाई पड़ते हुए यह निष्कर्ष प्रस्तुत करते हैं कि विभिन्न प्रकार के लोगों के समघट्ट हो जाने से जो जनता तैयार हुई, वही हिन्दू-जाति की बुनियादी जनता हुई और विभिन्न जातियों की आदतों, विश्वासों, दन्तकथाओं, विचारों, भावनाओं और रीति-रिवाजों के मिल जाने से जो संस्कृति उत्पन्न हुई, वही वैदिक या हिन्दू-संस्कृति का मूलाधार हुई।

तब से जो लोग भी इस देश में आए वे, सब-के-सब, इसी हिन्दू-संस्कृति के महासमुद्र में विलीन होते गये और कालक्रम में वे हिन्दू हो गये। अनेक संस्कृतियों और जातियों के मिलन से भारतीय संस्कृति में जो एक प्रकार की विश्वजनीनता उत्पन्न हुई, वह संसार के लिए, सचमुच, वरदान है साबित हुई। यह विश्वजनीनता, विभिन्न जातियों को एक महाजाति के सांचे में ढालने का यह अद्‌भुत प्रयास और अनेक वादों, विचारों और धर्मों के बीच एकता लाने का यह निराला ढंग सभी युगों में भारतीय समाज की विशेषता रहा है। हिन्दू-संस्कृति की पाचनशक्ति बड़ी प्रचंड मानी गयी है। दिनकर जी इसका कारण सम्भवतः उसके उस लचीले रूप को मानते हैं जिसे उसने अपने आरम्भिक समय से ही ग्रहण कर रखा था। नीग्रो से लेकर हूणों तक, इस देश में आनेवाली सभी जातियाँ इसी लचीलेपन के कारण हिन्दू समाज में खप गयीं। कालक्रम में, हिन्दू-धर्म के भीतर से ही उसके विरूद्ध एक प्रचंड सांस्कृतिक विद्रोह उठा। दिनकर जी इसे भारतीय संस्कृति की दूसरी क्रान्ति मानते हैं। उनके अनुसार ''दूसरी क्रान्ति तब हुई, जब महावीर और गौतम बुद्ध ने इस स्थापित धर्म या संस्कृति के विरूद्ध विद्रोह किया तथा उपनिशदों की चिन्ताधारा को खींच कर अपनी मनोवांछित दिशा की ओर ले गये। इस क्रान्ति ने भारतीय संस्कृति की अपूर्व सेवा की, किन्तु, अन्त में, इसी क्रान्ति के सरोवर में शैवाल भी उत्पन्न हुए। भारतीय धर्म तथा संस्कृति में जो गंदलापन आया, वह, काफी दूर तक, इन्हीं शैवालों का परिणाम था।'' दिनकर जी ने इस अध्याय में ईसा के छह वर्ष पूर्व से लेकर भारत में इस्लाम के आगमन तक के इतिहास पर अत्यन्त ही विधेयवादी रूप में विचार किया है। इसी तारतम्य में उन्होंने बौद्ध और जैन धर्म पर भी विस्तार से चर्चा की है। इन दोनो धर्मों के उत्थान और पतन पर चर्चा करते हुए भारतीय संस्कृति पर पड़ने वाले उनके प्रभाव को भी विशेष रूप से व्याख्यायित किया है।

दिनकर जी के अनुसार भारत में तीसरी क्रान्ति तब हुई, जब इस्लाम, विजेताओं के धर्म के रूप में, भारत पहुँचा और इस देश में हिन्दुत्व के साथ उसका सम्पर्क हुआ। 'संस्कृति के चार अध्याय' के इस तीसरे अध्याय में दिनकर जी ने आरम्भ में इस्लाम के उद्‌भव पर काफी विस्तार से चर्चा की है। उनके अनुसार मुहम्मद साहेब ने जिस धर्म का उपदेश दिया, वह अत्यंत सरल और सब के लिए सुलभ था। यही कारण है कि यह अरबी लोगों के बीच बहुत लोकप्रिय था। वे आगे कहते हैं कि इस्लाम का आरम्भ धर्म के रूप में हुआ, किन्तु, परिस्थितियों ने घेरकर उसे राजनैतिक रूप दे दिया। लूट-मार, अन्याय और अत्याचार की परम्परा इस्लाम में तब आयी, जब अरबी लोग साम्राज्य के सुखों में पड़ जाने के कारण शिथिल और कमजोर हो गये और इस्लाम का नेतृत्व उनके हाथ से निकल कर तुर्कों और मंगोलों के हाथ में चला गया जो तनिक बाद में मुसलमान हुए थे। भारत में मुगल-वंश की नींव डालने वाला बाबर का सम्बन्ध मंगोल जाति से ही बतलाया जाता है। दिनकर जी के अनुसार ''इस्लाम अपने प्रगतिशील युग में भारत नहीं आया अथवा आया भी तो दक्षिण के समूद्री तटों पर व्यापारियों के साथ या दाहिर की पराजय के उपरान्त, सिन्ध और उसके आस-पास के भागों में। महमूद गजनवी, मुहम्मद गोरी और बाबर, ये सच्चे मुसलमान के प्रतिनिधि नहीं थे। इन्होंने इस्लाम की बाहरी चीजें ही देखी थीं, अबूबक्र, उमर, उस्मान और अली की धार्मिक तेजस्विता उनमें नहीं थी। भारत में विदेशी आक्रंताओं की सफलता के लिए जिन कारकों को दिनकर ने ज्यादा जिम्मेदार माना है उनमें तत्कालीन हिन्दू समाज में व्याप्त राजनीतिक चेतना का अभाव, अंधविश्वास और जात पात के बखेडा सबसे प्रमुख है। दिनकर जी कहते हैं ''जिस देश में मनुष्य मनुष्य नहीं होकर ब्राह्मण, राजपूत, कायस्थ, कुरमी या कहार समझा जाता हो, जिस देश के लोग अपनी भक्ति और प्रेम पर पहला अधिकार अपनी जात वालों का समझते हों और जिस देश की एक जात के लोग दूसरी जाति के विद्वान को मूर्ख, दानी को कृपण, बली को दुर्बल, सच्चरित्र को दुश्चरित्र और अपनी जाति के मूर्ख को विद्वान और पापी को पुण्यात्मा समझते हों, उस देश की स्वतन्त्रता और समृद्धि के विषय में यही कहा जा सकता है कि ''रहिबे को आचरज है, गयी तो अचरज कौन''। दिनकर जी की यही की यही काव्यमयी भाषा ''संस्कृति के चार अध्याय'' में इतिहास के प्रस्तुतिकरण में चार चाँद लगा देती है। दिनकर जी ने हमारे समाज की जिन कमजोरियों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट कराया है उनमें से अधिकांश अपने मूल रूप में कमोवेश अभी भी विद्यमान हैं और यही दिनकर को प्रासंगिक भी बनाती है। इस अध्याय में दिनकर जी ने हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न की भूमिका, इस्लाम धर्म, हिन्दू-मुस्लिम-सम्बन्ध, इस्लाम का हिन्दुत्व पर प्रभाव, भक्ति आन्दोलन और इस्लाम, अमृत और हलाहल का संघर्ष, कला और शिल्प पर इस्लाम का प्रभाव, साहित्य और भाषा पर प्रभाव, उर्दू का जन्म, सामासिक संस्कृति के कुछ और रूप आदि के बहाने भारत में मुस्लिम साम्राज्य की स्थापना से

लेकर उसके पतन और भारत में यूरोपीय दस्तक तक की पूरी दास्तां को अपनी मजेदार साहित्यिक भाषा में किस्सा-कहानी की शैली में प्रस्तुत कर दिया है। दिनकर कहते हैं ''मुसलमानों के आगमन के समय हिन्दुओं की जैसी दयनीय स्थिति थी, मुगल-राज्य की समाप्ति के समय, मुसलमान भी बहुत-कुछ वैसी ही स्थिति में आ गये थे। शराब, इश्क और गजलों के खुमार से देश तन्द्रा में झूम रहा था कि इतने में पलासी के मैदान में क्लाइव की तोपें गरज उठीं। यह गर्जन, असल में, एक नये युग की पुकार थी।''

दिनकर जी ने अपनी पुस्तक में इस नये युग की पुकार से ही भारतीय समाज में आई चौथी क्रान्ति की कड़ी को जोड़ने का प्रयास किया है। उनकी मान्यता है कि भारत में चौथी क्रान्ति तब हुई जब भारत में यूरोप का आगमन हुआ। जिस समय भारत पर अंग्रेजों का शासन हुआ उस समय की अजीबोगरीब स्थिति का चित्रण करते हुए दिनकर ने दिखाया है कि यह वह समय था जब भारत एक बार पुनः असंगठित था। वह वैर-फूट से पीड़ित था सैनिक और सामुद्रिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ था। भारत के शासक विलासी और कमजोर थे। दिनकर कहते हैं ''फिर भी, अँगरेज भारत को उस सरलता से अपने अधीन नहीं ला सके, जिस सरलता से मुसलमान विजयी हुए थे- - - -सन् 1857 ई तक भारत में ईस्ट इंडिया कम्पनी का राज्य रहा। तब गदर के रूप में भारत ने अचानक महाक्रान्ति कर दी। यह क्रान्ति दबा दी गयी, किन्तु उसी के बाद भारत का भार अँगरेजी सरकार ने अपने उपर ले लिया और यह भार उसके कन्धो से 90 साल बाद उतरा, जब सन् 1947 में भारत स्वाधीन हुआ एवं अगँरेज अफसर, सैनिक और व्यापारी, शान्ति के साथ, अपने देश को लौट गये।'' दिनकर जी ने अपने इस चौथे अध्याय में अंग्रेजों से भारतीय समाज के संघर्ष की गाथा को प्रस्तुत करने के साथ-साथ, उस जागरण के स्वर को भी मुखरित किया है जिसने अंगरेजों के इस झूठ का पर्दाफाश किया कि वही एकमात्र सभ्य समाज के प्रणेता हैं और भारत में उनका आगमन सभ्यता का विस्तार करने के लिए हुआ है। उनके शब्दों में ''भारतीय सभ्यता का यही जागरण भारत का नवोत्थान था।'' भारत में इसकी शुरूआत ब्रह्म समाज की स्थापना के साथ हुई जिसके प्रवर्तक राजा राममोहन राय थे। उन्होंने भारत में ईसाइयत का प्रचार, ईसाइयों के द्वारा भारतीय धर्मों की निन्दा आदि का जमकर विरोध किया पर दिनकर जी उन्हें एक राजनीतिज्ञ और सामाजिक नेता कहना अधिक पसन्द करते है। इसका कारण सम्भवतः यह है कि वे धर्म सुधारक की अपेक्षा समाज सुधारक अधिक प्रतीत होते हैं। दिनकर जी के शब्दो में '' उन्होंने जो कुछ किया, उसे हम सांस्कृतिक राष्ट्रीयता का कार्य कह सकते हैं। भारत की राजनैतिक राष्ट्रीयता इसी सांस्कृतिक राष्ट्रीयता का विकसित रूप है।'' राममोहन राय के बाद केशव सेन, दयानन्द सरस्वती, महादेव गोविन्द रानाडे, ऐनी बीसेंट, रामकृष्ण परमहंस एवं अन्य चिन्तकों तथा अन्य सुधारकों ने भारतीय नवोत्थान के तारतम्य में जो जमीन तैयार की वह बाद में चलकर बहुत उर्वर साबित हुई और उसने हमें स्वामी विवेकानन्द जैसे धर्म और संस्कृति के एक ऐसे प्रणेता से साक्षात्कार कराया जिसने हम भारतवासियों को गर्व से जीना सिखाया और शिकागो-सम्मेलन के माध्यम से विपरीत परिस्थितियों में भी हिन्दू-धर्म के सार को सारे यूरोप में फैला दिया। दिनकर ने इस बात को जोर देकर रेखांकित किया है कि राममोहन राय के समय से भारतीय संस्कृति और समाज में जो आन्दोलन चल रहे थे, वे विवेकानन्द ने आकर अपनी चरम सीमा पर परिलक्षित हुए। दिनकर जी कहते हैं ''विवेकानन्द वह सेतु है, जिसपर प्राचीन और नवीन भारत परस्पर आलिंगन करते हैं। विवेकानन्द वह समुद्र हैं, जिसमें धर्म और राजनीति, राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता तथा उपनिषद् और विज्ञान, सब-के-सब समाहित होते हैं।'' दिनकर आगे कहते हैं ''हिन्दू जाति का धर्म है कि वह जब तक जीवित रहे, विवेकानन्द की याद उसी श्रद्धा से करती जाय (जिस श्रद्धा से वह व्यास और वाल्मीकि की याद करती है।'' इसी अध्याय में दिनकर जी ने लोकमान्य तिलक, महायोगी अरविन्द, महात्मा गाँधी, राधाकृष्णन आदि के माध्यम से भारतीय धर्म के महत्व को प्रतिपादित करते हुए भारतीय स्वाधीनता संग्राम और फिर भारत के विभाजन की आँसू भरी दास्तां प्रस्तुत की है। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि दिनकर ने ''संस्कृति के चार अध्याय'' में भारतीय जीवन की आदि से लेकर अंगरेजों से मुक्त होने तक के इतिहास को एक रोचक कथा के रूप में इतने कम शब्दों में पूरे ब्यौरों के साथ विधिवत प्रस्तुत कर 'गागर में सागर भरने का काम' किया है। यह दिनकर की साहित्यिक भाषा का कमाल ही है कि उन्होंने बिना ऐतिहासिक तथ्यों को बाधा पहुँचाए ही भारतीय समाज की गाथा को एक साहित्यकार के नजरिए से हमारे समक्ष पेश कर दिया है। एक सफल गद्यकार के रूप में उनका यह कार्य निश्चित ही सराहनीय है और ''गद्यं कवीनां निकशं वदन्ति'' वाली कहावत को पूरी तरह चरितार्थ करता है।

अक्षरों के वंश में दिनकर नहीं हैं गवाक्ष

शिवओम अम्बर

आश्विन माह में शक्ति-संस्तवन के दिन निकट आते ही अनायास दिनकर जी बहुत याद आते हैं। राष्ट्र के प्राणों को अग्नि की दीक्षा देने वाली वह आत्मगौरव से दीप्त वाणी आज भी महाशून्य को अनुगुञ्जित कर रही है। अभी कुछ दिन पूर्व आकाशवाणी से उनकी एक कविता का उन्हीं के स्वर में पाठ प्रसारित किया गया। मैं उसे सुनते हुए सोच रहा था कि काश! क्लीवता की जीवंत परिभाषा बनकर कश्मीर जैसी दाहक समस्याओं के सामने निरंतर घुटने टेक रहा है और अपनी क्षमाशीलता, सहिष्णुता का डंका पीट रहा हमारा राष्ट्रीय नेतृत्व राष्ट्रकवि की वेदना को सुन पाता, समझ पाता, उनके निर्देश पढ़ पाने में समर्थ होता! उनका स्पष्ट अभिमत था कि क्षमा उसी भुजंग को शोभा देती है, जिसके पास गरल से दग्ध करने की क्षमता है। दंतरहित, विषहीन भुजंग के द्वारा क्षमा के शांति-मंत्रों का पाठ आत्म-वञ्चना है। मेरा सौभाग्य है कि अपने काव्य-जीवन के प्रथम सोपान पर ही मेरे शीश को उनका शुभाशीषी वत्सल कर का संस्पर्श प्राप्त हुआ। आज आपको उन कुछ पलों की कहानी सुनाता हूँ

यह बात सन् 1971 के जनवरी-फरवरी माह की है। मैं उन दिनों गंजडुंडवारा से बी.ए. कर रहा था। वहीं इण्टर कालेज में हुए कवि सम्मेलन में छात्र-वर्ग के प्रतिनिधि के रूप में मैंने पहली बार किसी बड़े आयोजन में कविता पढ़ी थी और एकाएक पूरे नगर के अनुराग और स्नेह का अधिकारी बन गया था। उस कार्यक्रम की अध्यक्षता कविवर बलवीर सिंह रंग ने की थी। इस कार्यक्रम के कुछ ही दिनों बाद एटा प्रदर्शनी में एक अखिल भारतीय कवि सम्मेलन सम्पन्न हुआ। यह पता लगने पर कि उसमें राष्ट्रकवि दिनकर भी आ रहे हैं, हम कुछ मित्र उनके दर्शन की आकांक्षा से एटा पहुंचे। दिनकर जी उन दिनों हारे को हरिनाम की रचनाएँ लिख रहे थे और मंच से उन्होंने अपनी इसी अंतिम कृति की कुछ रचनाओं का पाठ किया था। मंच से उतर कर आते समय दिनकर जी, रंग जी के साथ चल रहे थे। मैं अपने सहपाठियों के साथ वहीं एक किनारे अपनी नोट बुक पर उनके हस्ताक्षर लेने को खड़ा था। मेरे आगे बढ़ते ही कविवर रंग की आँखों में पहचान की चमक कौंधी और उन्होंने मेरा उत्साहवर्धन-सा करते हुए दिनकर जी को मेरे कवि रूप का परिचय दिया, बताया कि कुछ ही दिन के पूर्व उन्होंने मेरी कविता एक मंच पर सुनी है और उन्हें मुझमें संभावनाओं के अंकुर दिखे है। रंग जी के शब्द सुनते ही राष्ट्रकवि ने मेरी ओर देखा। आज भी मेरी स्मृतियों की चित्रवीथी में वह मूल्यवान पल उतनी ही जीवन्तता के साथ शोभित है। मेरी नोट बुक पर हस्ताक्षर करने के उपरांत दिनकर जी सहज वात्सल्य से आपूरित वाणी से बोले- कविता लिखते हो? और फिर उनकी आँखों में जैसे करूणा के क्षीरसागर की तरंगे लहरा उठी। मेरे शीश पर अपना वरदहस्त रखते हुए उन्होंने पुनः कहा- भगवान तुम्हारी रक्षा करे और फिर रंग जी के साथ आगे बढ़ गए। उनके शुभाशीषी व्यक्तित्व के उस साक्षात्कार को किसी स्वप्निल सत्य की तरह संजोए मैं भावाभिभूत वहीं कुछ देर खड़ा रह गया, उन्हें औपचारिक विदा प्रणाम निवेदित कर अपने मित्रों की तरह आगे नहीं जा सका। कुछ वर्षो बाद जब हारे को हरिनाम पढ़ी तब कुरूक्षेत्र और रश्मिरथी तथा सामधेनी और उर्वशी के गायक एक अलग ही रूप सामने आया। कवि और कविता के विषय में उनकी गहन अंतर्दृष्टि जानी-

असल में हम कवि नहीं
शोक की संतान हैं
हम गीत नहीं बनाते,
पंक्तियों में वेदना के
शिशुओं को जनते हैं।
उनकी अपार पीड़ा पहचानी, अपने ईश्वर से वह कहते हैं-

काठ का टुकड़ा इसलिए जलता है
कि वह अपने भीतर की
आग को व्यक्त कर सके।
पर तु तो मुझे ऐसे मारना चाहता है
कि मैं मरूं भी
और मेरी आग ना फूटे।
मगर मैं हठ ठानूंगा,
तुम्हारी आज्ञा नहीं मानूंगा।
मृत्यु के अंधेरे को
अपने प्रकाश से भरूंगा,
भीतर के पावक को
व्यक्त करके मरूंगा।

और शायद इसीलिए उनकी जन्म तिथि के करीब जब आश्विन माह का शक्ति संस्तवन पक्ष प्रारम्भ होता है, मुझे बहुत याद आता है अंध तमस् के पृष्ठ पर जागरण का पावक मंत्र लिखने वाला यह अग्निधर्मा व्यक्तित्व और मैं गुनगुना उठता हूँ-

लेखनी के पास हस्ताक्षर नहीं है,
यक्ष-प्रश्नों के लिए उत्तर नहीं है।
अग्निगर्भा कोख वंध्या लग रही है,
अक्षरों के वंश में दिनकर नहीं है।

एक अरसे से उत्तर प्रदेश विषम समस्याओं का विहार-स्थल बना हुआ है। इधर मुझे जगह-जगह ऐसे नौजवान छात्र-छात्राओं से मिलने का अवसर मिला जो प्रथम श्रेणी से ऊपर अंक पाने के बाद भी महाविद्यालयों और उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों में प्रवेश पाने से वंचित हैं जबकि तृतीय श्रेणी वाले छात्र बड़े सम्मान के साथ जातिगत योग्यता को प्रश्रय देने वाले आरक्षण के सहारे निश्चिन्त वर्तमान और सुरक्षित भविष्य को शान से जी रहे हैं। प्रतिभा को अपमानित करने वाली इस व्यवस्था की दंशभरी प्रकृति को न सत्ता समझ रही है और न सत्ता को सहारा देने वाली विपक्षी राजनीति। इसी गवाक्ष स्तम्भ में गत वर्ष मैंने तत्कालीन सत्ता को समर्थन देने वाली कांग्रेसी राजनीति की भर्त्सना की थी जो गांधी को गालियां मिलने पर भी चुप थी। अब आज क्या कहूं? श्रीराम को, मां सीता को अपशब्द कहने वालों के लिए राजधानी में मेला आयोजित हो रहा है और हम में से कोई राखी की लाज निभाने के चक्कर में मुंह पे ताला लगाए बैठा है तो कोई तात्कालिक राजनीतिक हित के नाम पर यह कहने में भी संकोच कर रहा है कि सत्ता मदान्ध हो रही है! इच्छा होती है कि आज श्रीराम के पुजारियों से कहूं कि विनय पत्रिका से बाबा तुलसी दास की इस अप्रासंगिक पंक्ति को हटवाने की कृपा करें-

जाके प्रिय न राम वैदेही,
तजिये ताहि कोटि वैरी सम जद्यपि परम सनेही।

अब जब मेरे पास वे नौजवान आते हैं

और कहते हैं कि हमारे लिए किसकी तरफ से आशा है, मैं उनसे इतना ही कह पाता हूं-

प्रश्नों को हैं सूलियां मूल्यों को बनवास,
प्रतिभाओं के भाग्य में हैं निर्जल उपवास।

व्यंग्यकार निराधार जी की पंक्तियां हमारे दुर्भाग्य को ही दर्पण दे रही हैं-

आज समूचे प्रदेश के सामने
प्रश्न है- भूख बेकारी का, बेरोजगारी का
प्रश्न है- बढ़ती महंगाई का, दिशाहीन पढ़ाई का
कैसा माहौल यह कैसा परिवेश है?
प्रश्न ही प्रश्न, नाम उत्तर प्रदेश है।

राष्ट्रकवि दिनकर

डा० कुमार विमल

हिन्दी के ओजस्वी कवि रामधारी सिंह 'दिनकर' का जन्म 23 सितम्बर 1908 ई. में बिहार के तत्कालीन मुंगेर जिले के 'सिमरिया' नामक गाँव में हुआ था। इस गणना के अनुसार दिनकर की जन्म-शती आ पहुँची है। दिनकर का रचना-काल सन् 1927 ईस्वी से अप्रैल, 1974 ईस्वी (देहावसान-वर्ष) तक अर्थात् कुल 47 वर्षों का रहा है।

दिनकर जी मुख्यत: गर्जन-तर्जन के कवि थे। वे उस 'मन्यु' की उपज थे, जिस 'मन्यु' ने भारत के नवजागरण को जन्म दिया था। इसी 'मन्यु' की भाव-भूमि और अनल-धर्मिता से उन्हें लोकप्रियता मिली और अक्षय यश मिला। उनकी 'अनल-धर्मिता' की बानगी देखें

''ज्योतिर्धर कवि मैं ज्वलित सौर मंडल का
मेरा शिखंड अरुणाभ किरीट अनल का।''

अथवा

''मैं विभा-पुत्र जागरण-गान है मेरा,
जग को अक्षय आलोक-दान है मेरा।''

इसी अनल-तत्व ने दिनकर की कविता को महाप्राण बना दिया है और उसे कृशानुद्दीपन की क्षमता से इस प्रकार भर दिया है -

''बजा इस बार दीपक-राग कोई आखिरी सुर में,
छिपा इस बीन में ही आगबाला तार है साथी!''

कवि इतना ही कहकर चुप नहीं हो जाता। वह सभी अग्निधर्मा कवियों को कृशानुद्दीपन के लिए इन ओज भरे शब्दों में ललकारता है -

''हो कहाँ अग्निधर्मा नवीन ऋषियों! जागो,
कुछ नई आग, नूतन ज्वाला की सृष्टि करो।''

इस प्रकार दिनकर की कविताओं का मुख्य स्वर क्रांति का स्वर था और स्वतंत्रता-संघर्ष के लिए अपने देशवासियों, विशेषकर युवा-शक्ति को ललकारने वाला ओज-भरा नाद-निनाद था। इसी भाव-बोध के उद्‌बोधन, आह्वान, हुंकार और सिंहनाद ने दिनकर को लोकप्रियता के शिखर पर पहुँचाया था और तत्कालीन राष्ट्रीय काव्य-धारा के इन उत्कृष्ट कवियों- मैथलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', कुमारन् आशान्, सुब्रह्मण्य भारती, भास्कर रामचंद्र तांबे, कुवेंपु (पुट्टा), गोपबंधु, लक्ष्मीकांत महापात्र, वल्लतोल, अंबिका गिरि रायचौधरी, कुसुमाग्रज, गुरजाडा अप्पाराव, दाशरथि और काजी नजरूल इस्लाम जैसे राष्ट्रीय कवियों के बीच अग्रगण्य बना दिया था।

यह लक्ष्य करने योग्य है कि राष्ट्रीय भावना और राष्ट्रीय काव्य-धारा के समर्थ कवि दिनकर के चिंतन में सन् 1953 ईस्वी से ही एक बड़ा परिवर्तन लक्षित होने लगा था। राष्ट्रीय भावना के कवि के रूप में प्रसिद्ध दिनकर के अनेक भाषणों और लेखों से यह ध्वनित होने लगा है कि अब उनकी दृष्टि में राष्ट्रीयता उतनी ही ग्राह्य हो सकती है, जितनी मात्रा में वह अतर्राष्ट्रीय भावनाओं और हित के विकास में बाधक नहीं हो। शायद, उनकी यह धारणा बन गई कि वैश्विक राजनीति के बदले हुए परिवेश में अब राष्ट्रीयता प्रतिक्रियावादियों के इस्तेमाल का औजार बन गई है। उनकी यह आमूलचूल परिवर्तित धारणा 'नील कुसुम' में संकलित 'राष्ट्र-देवता का विसर्जन' शीर्षक कविता में व्यक्त हुई है, जिसकी रचना उन्होंने 26 जनवरी, 1953 ई. में की थी।

दिनकर अपने काव्य-प्रबंध के लिए युगोपयुक्त कथा-वस्तु के चयन में निपुण थे। उनकी यह निपुणता हमें 'कुरुक्षेत्र' और 'रश्मिरथी' के प्रकरण में मिलती है। इन दोनों महत्त्वपूर्ण कृतियों की कथा-वस्तु या विषय-वस्तु 'युद्ध' के इर्द-गिर्द घूमती है। यह पहलू ध्यान देने योग्य है, क्योंकि वह युग दो भयंकर विश्व-युद्धों को झेल चुका था। उस समय के बुद्धिजीवियों, कवियों और लेखकों का कर्तव्य था कि वे ऐसे युद्धों के न्यायपूर्ण अथवा अन्यायपूर्ण होने के बारें में अपने विचारों से लोगों को अवगत कराएं। नॉम चॉम्स्की ने 'द रिस्पॉन्सिबिलिटि ऑव इन्टेलेक्चुअल्स' शीर्षक के अपने प्रसिद्ध निबन्ध में बलपूर्वक कहा है कि युद्ध के प्रसंग में 'सही' और गलत को बताना बुद्धिजीवियों का बहुत बड़ा दायित्व है। दिनकर ने 'कुरुक्षेत्र' और 'रश्मिरथी' की रचना के द्वारा

निश्चय ही इस गुरुतर दायित्व को पूरा किया है। जीविका और गृहस्थी की रूक्ष वास्तविकताओं से जूझते हुए कवि दिनकर पर नियति का यह क्रूर व्यंग्य था कि 'कुरूक्षेत्र' और 'रश्मिरथी' जैसे श्रेष्ठ युद्ध-काव्य तथा 'विपथगा' जैसी उत्कृष्ट क्रांतिकारी कविता के ओजस्वी कवि को फिरंगी सरकार के 'नेशनल वार फ्रंट' में 'साँग पब्लिसिटी' के ऑर्गेनाइजर के पद पर काम करना पड़ा था।

आधुनिक हिन्दी कविता के युद्ध-काव्यों-यथा, 'आर्यावर्त' (मोहन लाल महतो वियोगी), 'उन्मुक्त' (सियाराम शरण गुप्त), 'अंधा युग' (धर्मवीर भारती), 'प्रभास कृष्ण' (केदार नाथ मिश्र 'प्रभात') 'अशोक' (रामदयाल पांडेय) इत्यादि के बीच 'कुरुक्षेत्र' (दिनकर) का विशिष्ट स्थान है। 'कुरुक्षेत्र' एक विचार-प्रधान युद्धोत्तर काव्य है। युद्धोत्तर काव्य का तासीर आसन्न युद्ध-पूर्व काव्य और युद्धकालीन काव्य से अलग होता है।

'परशुराम की प्रतीक्षा' के पूर्व के दिनकर को हम युद्ध-काव्य का महात्मा गाँधी-युगीन कवि कह सकते हैं। महात्मा गाँधी का मंतव्य था कि हिंसा से मिली विजय पराजय के समतुल्य होती है। महात्मा गाँधी के इस विचार-सूत्र की बारंबार आवृत्ति दिनकर के युद्ध काव्य में अनेकत्र मिलती है। युद्ध-काव्य के संदर्भ में दिनकर के प्रिय कथ्य-बिंदू इस प्रकार हैं - युद्ध की कारणीयता-अकारणीयता, हिंसा की व्यर्थता, धर्म की हानि, युद्ध की विभीषिका और विनाश-लीला, मनुष्य के हृदयस्थ देवता (शुभांश) का उदय इत्यादि। इन कथ्य-बिंदुओं को दिनकर 'प्रण-भंग', 'कलिंग-विजय' और 'कुरुक्षेत्र' में ही नहीं, 'मगध-महिमा' नाम्नी पद्य नाटिका में भी दुहराते रहे हैं, जो 'रश्मिरथी' (1952 ईस्वी) से लगभग चार वर्ष पूर्व सन् 1948 ईस्वी में रचित नाटिका है। 'मगध-महिमा' के सातवें दृश्य में युद्ध के उपरान्त विजयी, किन्तु, परिताप-दग्ध अशोक के विह्वल गीत की ऐसी अनेक पंक्तियाँ दिनकर के युद्ध-सम्बन्धी उक्त मंतव्य को व्यक्त करती हैं -

''जय की वासने उद्दाम!
देख ले भर आँख निज दुष्कृत्य के परिणाम!''

****

''रण का एक फल संहार।
मातृ-मुख की वेदना, वैधव्य की चीत्कार।''

****

''जीतते संग्राम हम पहले स्वयं को मार''
''पापी खड्ग घोर कठोर!
जोड़ना संबंध क्या जय से, दया को छोड़?
खोजना क्या कीर्ति अपने को लहू में बोर?''

ज्ञातव्य है कि जिस समय 'कुरुक्षेत्र' की रचना की गई थी, उस समय तक इस सर्वसहा धरती पर दो भयंकर विश्व-युद्ध घटित हो चुके थे। इन त्रासद विश्व-युद्धों पर, तत्कालीन पृष्ठभूमि में, गंभीर रूप से विचार करने वाले चिंतकों में बर्ट्रेंड रसेल तथा ओस्वाल्द स्पेंग्लर प्रमुख थे। दिनकर ने 'कुरुक्षेत्र' के रचना-काल में बर्ट्रेंड रसेल का अध्ययन विशेष रूप से किया था। किंतु, वे आस्वाल्द स्पेंग्लर की प्रसिद्ध पुस्तक श्क्मबसपदम वि जीम ॅमेजश (न्दजमतहंदहकमे ।इमदकसंदकमे) (1918) का अध्ययन कई वर्षों के बाद कर सके थे। 'कुरुक्षेत्र' के षष्ठ सर्ग में बर्ट्रेंड रसेल का-खासकर उनकी पुस्तक 'अथॉरिटी एंड इंडिविजुअल' तथा 'हैज मैन अ फ्यूचर' शीर्षक निबंध में व्यक्त विचारों का स्पष्ट प्रभाव कई स्थानों पर मिलता है। बर्ट्रेंड रसेल की एक और पुस्तक 'न्यू होप्स फॉर अ चेंजिंग वर्ल्ड' का भी प्रभाव 'कुरुक्षेत्र' में कई स्थानों पर मिलता है। बर्ट्रेंड रसेल की तीन खण्डो में प्रकाशित 'आटो बायोग्राफी' में उनके युद्ध-संबंधी विचार मिलते हैं, जिनका प्रभाव दिनकर के युद्ध-काव्य में लक्षित होता है।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि विश्व के सभी देशों और राष्ट्रों को अब साम्राज्यवाद के विभिन्न रूपों में सैनिक साम्राज्यवाद, आर्थिक साम्राज्यवाद और सांस्कृतिक साम्राज्यवाद का परित्याग कर शांति की स्थापना के लिए 'विश्व-युद्ध' अथवा 'सीमित युद्ध' के विरूद्ध प्रण-बद्ध होना होगा, हमें समस्याओं के निदान और समाधान की क्षमता को बढ़ाना होगा, विभिन्न राष्ट्रों और गुटों के बीच पारस्परिक विश्वसनीयता का वातावरण पैदा करना होगा, धार्मिक ध्रुवीकरण को रोकना होगा, अपेक्षित मात्रा में नि:शस्त्रीकरण की नीति को अपनाना होगा तथा मानव-हृदय में बसे हुए 'शुभांशो' के देवता के संकेतों पर चलना होगा। तभी युद्ध की संभावनाएँ समाप्त होगी और रण-भीति समाप्त होंगी। दिनकर ने 'कुरुक्षेत्र' के षष्ठ सर्ग के अंत में उचित ही लिखा है -

''श्रेय होगा मनुज का समता-विधायक ज्ञान,
स्नेह-सिंचित न्याय पर नव विश्व का निर्माण
एक नर में अन्य का नि:शंक दृढ़ विश्वास''

XXXXXXXXXXXXXXXXXXX

''युद्ध की ज्वर-भीति से हो मुक्त,
जबकि होगी सत्य ही वसुधा सुधा से युक्त।
श्रेय होगा सुष्ठु विकसित मनुज का वह काल,
जब नहीं होगी धरा नर के रुधिर से लाल।''

इसमें संदेह नहीं कि दिनकर रचित युद्ध-काव्यों में 'कुरुक्षेत्र' उनकी एतद् सम्बन्धित अन्य कृतियों की अपेक्षा अधिक चिरंजीवी सिद्ध होगा।

संपर्क सूत्र : 96, एम.आई.जी.एच., लोहिया नगर, पटना- 800020

साकार, दिव्य, गौरव विराट: दिनकर

प्रो. दिलीप सिंह

हिन्दी के एक सजग पत्रकार, अनूठे निबन्धकार और भाषा के अद्‌भुत चितेरे रामवृक्ष बेनीपुरी ने दिनकर के बारे में अपने भाव व्यक्त करते हुए एक पंक्ति लिखी है जिसका गूढ़ार्थ यह है कि दिनकर का कवि व्यक्तित्व उस अंगार की भाँति है जिस पर इंद्रधनुष खेल रहे हैं। एक ओर अंगार जैसी आंतरिक जलन और तपन जो युग की अनास्था और विकृतियों को भस्म कर देने को उद्यत है तो दूसरी ओर प्रकृति के संघात से उत्पन्न मनोहारी इंद्रधनुष, सुन्दर और संघर्ष का न जाने कैसा मेल? कैसे वह झूमता रहता है-मध्य आकाश; लड़ता और जूझता हुआ तेज और कड़ी बरखा की झड़ियों से। मिट जाने की अभिशप्त पर अपने क्षणिक अस्तित्व को बचा पाने को उद्यत। एकदम मनुष्य की तरह।

दिनकर का 'अंगार' और 'इंद्रधनुष' दोनों उनकी उद्दाम-भावनाओं का सार्थक प्रतीक है। यदि उद्दाम-भावनाओं की कसौटी पर दिनकर की कविताओं को कसा जाय तो उनमें एक तरह का आकुल विद्रोह है, हिला कर रख देने वाला विस्फोट भी है कहीं-कहीं। लेकिन इन सब के ऊपर है- जीवन की निर्बाध गति। भावों के इतने उद्दाम प्रवाह का कवि हिन्दी में कोई दूसरा नहीं है। कवि दिनकर के इस गुण को उनके साथी कवि-कथाकार भगवतीचरण वर्मा ने इन शब्दों में व्यक्त किया है- ''बरसाती नदी के प्रचंड प्रवाह में उसकी कला हरेक भावना को अपनी- तीव्र गति में समेटती चलती है। भावना है, लेकिन हर एक भावना जिंदगी की हामी है। उसमें जीवन की तीव्रता है, प्रखरता है।''

आग के साथ ही दिनकर मिट्‌टी के प्रखर गायक भी हैं। राष्ट्र-प्रेम, मनुष्य-प्रेम और आहत मानवता के प्रति उनका रूझान अटूट है। कहा जाय कि दिनकर की कविता यदि अपने युग का प्रतीक है तो वह खुद वर्तमान युग के कवि हैं। उनकी युगीन प्रासंगिकता का सबसे बड़ा प्रमाण है- सामाजिक विषमताओं के प्रति उनका आक्रोश और विद्रोह। यह बात उल्लेखनीय और दिनकर के वैशिष्ट्य को पुष्ट करने वाली भी है कि इस आक्रोश के लिए उन्होंने कहीं भी आरोपित विश्वासों, मान्यताओं या विचारधाराओं का सहारा नहीं लिया। दिनकर का कवि भी संघर्ष करता है पर अपने ढंग से। विचारधारा से बँधे-बँधे किसी भी आधुनिक कवि से कहीं अधिक 'संघर्ष-भाव' दिनकर के काव्य में व्यक्त है। उनकी ढेरों कविताएँ यह जताती हैं कि संघर्षों से उन्हें मोह है। अपनी इसी निजता के कारण संघर्ष की कटुता से दिनकर का कवि व्यक्तित्व कहीं भी विश्रृंखल या लक्ष्य-भ्रष्ट नहीं हुआ हैं कही कठोर अवश्य हो गया है कि मिट्‌टी ठीक से पक जाय और आकृति छिटके-टूटे नहीं।

दिनकर की यह कठोरता उनके काव्य की चिरन्तन प्राण शक्ति है। इतना ही नहीं यही उनकी अडिग आस्था का सम्बल भी है। यह आस्था ही दिनकर को उन्मुक्त और साहसी बनाए हुए है। कला का साज-शृंगार उनमें नहीं है तो उनकी इसी 'कठोरता' के चलते। उनके एक अन्य साथी कवि नरेंद्र शर्मा ने ठीक ही लिखा है कि-''अनुभूति जनित कठोर भावना का तीव्र प्रवाह ही दिनकर का क्षेत्र है।'' सियाराम शरण गुप्त के इस उद्धरण के आलोक में दिनकर-काव्य की परख करें तो हिन्दी कविता के इतिहास में उनकी अद्वितीयता को समझा जा सकता है - 'रस कठोर में भी होता है। सब कोमल पदार्थ सुस्वादु नहीं होते।' (कविता के नये प्रतिमान: नामवर सिंह के हवाले से)

'आग' और 'मिट्‌टी' के ताप में पककर दिनकर की कविताएँ 'लोहा' बनकर टंकार करती हैं। इस टंकार का प्रमुख अवयव है दिनकर का ओज। ओज के क्षेत्र में दिनकर अद्वितीय हैं। दिनकर के भावोद्‌गार में ओज की संरचना स्वत: बनती चली गई है। यही वजह है कि दिनकर का 'लोहापन' ही उनकी कविताओं में क्रांति का आह्वान करने वाला बन सका है। दिनकर की क्रांति रचनात्मक है। उनकी रचनात्मक क्रांति का तात्पर्य परंपरा को संजोते हुए बुद्धि की संकीर्णता और विवेकहीनता को चुनौती देना है। कुछ इस तरह कि राष्ट्रीय-चेतना, समाजिक-विकृतियाँ, मानवीय सम्मान और रचना एक-दूसरे की आँख में आँख डालकर देख सकें। पर उन्हें विकृति और निराशा का कवि मान लेना भारी भूल होगी। यह अवश्य कहा जा सकता है कि 'दिनकर उस विनाश या क्रांति के प्रतीक हैं जो निर्माण के लिए मार्ग प्रशस्त करता है।' (बच्चन)। दिनकर का टकराव 'सीधा भावोद्‌गार' नहीं है

जिसे शुक्ल जी 'काव्य शिष्टता' के विरूद्ध मानते हैं (संदर्भ: नामवर सिंह, वही) बल्कि उनकी हुंकार, दर्प और दलन को पिघला कर एक बदला रूप देने को कवि-कंठ से गरज उठी है। आज की कविता दिनकर से सीख ले सकती है; वह कविता जो युग की अनास्था और ध्वंसात्मक प्रवृत्तियों की भाँति ही अनर्गल और निष्प्राण हो चुकी है। लोहा बनने के लिए जो आँच और धैर्य चाहिए, वह इनमें कहाँ? अंधेरों और संकटों से घिरी ये कविताएँ न तो रोशनी का पता देती हैं और न ही खतरों से बचने का रास्ता ही सुझा पाती हैं। प्रगतिशीलता के आडंबरी पाश से बँध कवि और आलोचक दोनों ही अपने-अपने को 'युग निर्माता' घोषित करने में रत हैं। लोहे की टंकार का सही स्वर ये क्या जानें? दिनकर की कविता का एक-एक शब्द बोलता है तो इसलिए कि उनकी कविता तरह-तरह से यही कहती है कि - जीवन महान है, और कुछ नहीं।

दिनकर परम्परा और परिवर्तन दोनों को महत्व देने वाले कवि हैं। उनकी प्रसिद्ध पुस्तक संस्कृति के चार अध्याय (1955) की प्रस्तावना में पंडित जवाहरलाल नेहरू ने दिनकर के इतिहास-बोध में इन दोनो को लक्षित करते हुए लिखा है कि इतिहास के अन्दर हम दो सिद्धातों को देखते हैं - सातत्य का सिद्धांत और दूसरा परिवर्तन का। दोनो परस्पर विरोधी नहीं। सातत्य के भीतर भी परिवर्तन का अंश है। इसी प्रकार परिवर्तन भी अपने भीतर सातत्य का कुछ अंश लिए रहता है। दिनकर की कविता इस ऐतिहासिक यथार्थ का सच्चा प्रतिबिम्ब है। उनके काव्य में समस्त मानवीय व्यवहार आ जाते हैं। मार्क्सवाद की सीमा का उल्लेख करते हुए इसी प्रस्तावना में नेहरू जी ने यह कहा कि यह मानना तो ठीक है कि आर्थिक उन्नति जीवन और प्रगति का बुनियादी आधार है, लेकिन जिन्दगी वहीं तक खत्म नहीं होती। वह आर्थिक विकास से कहीं ऊँची चीज है। दिनकर एक कवि के रूप में इस सत्य को पहचान कर चले। वह अतीत में भी गए तो जीवन तलाशने और वर्तमान में भी वे निरन्तर जिन्दगी को पकड़ते-फटकते रहे। दिनकर ने अपने को बदला भी। खुद के भीतर झाँकने से अक्सर कवि डरते हैं। कभी-कभार झाँक भी लें तो कमजोरी के इजहार में झिझक जाते हैं। अपने कमियों को दिनकर ने 'धूप और धुँआँ (1953) के समय ही पहचान लिया था और अपनी 'तर्ज' बदल दी थी। इस संग्रह के 'दो शब्द' में उनकी स्पष्टोक्ति है- मैं देखता हूँ कि इधर मेरे लिखने की तर्ज कुछ बदली हुई है और यह नयी तर्ज मेरी वर्तमान मनोदशा के मुआफिक आ रही है। यह प्रयोग है, या प्रगति मैं नहीं बता सकता। निश्चयपूर्वक मैं इतना ही कह सकता हूँ कि आजकल इसी लहजे में बोलने में कुछ संतोष का अनुभव करता हूँ। आज के कवि में 'टोन' और 'तर्ज' बदलने का साहस चूक-सा गया है। अगर कहीं बदले भी तो डंके की चोट पर इसकी स्वीकारोक्ति की उम्मीद तो उससे कभी भी नहीं की जा सकती। अपने ही ढाँचों को तोड़े बिना कोई कैसे समर्थ कवि बन सकता है?

'उर्वशी-विवाद' और 'कुरुक्षेत्र' विमर्श के आधिक्य ने दिनकर के बदले तर्ज, तेवर और लहजे वाली कविताओं की ओर देखने का अवसर आलोचकों को कम ही दिया है। दिनकर की परख अधिकतर इन्हीं दोनों काव्य-कृतियों के आधार पर की गई है। हुंकार, नीम के पत्ते, दिल्ली (1956) की अनेकानेक कविताओं की ओर सम्यक दृष्टि अब तक नहीं डाली जा सकी है। उनके गद्य संग्रह 'मिट्टी की ओर' तथा आलोचना कृति 'शुद्ध कविता की खोज' के प्रकाश में दिनकर की इन कविताओं पर निगाह डालने की ज़रूरत है।

इन कविताओं में दिनकर 'पौरुष की पुँजीभूत ज्वाल' नजर आते हैं जो अपनी पहली व्यक्त आकांक्षा (कुरुक्षेत्र) 'चाहिए अंगार जैसी वीरता' को भाँति-भाँति से अभिव्यंजित करते हैं। इन कविताओं में राष्ट्रीयता, जीवन सत्य और जागरूकता का घनघोर भाव व्यक्त है। सौंदर्य की भ्रांति के प्रति के प्रति कवि की सजगता अब साफ शब्दों में सामने आने लगी है - सुन्दरता पर कभी न भूलो। शाप बनेगी वह जीवन में। (हुंकार)। दिनकर की इन कविताओं का प्रत्येक शब्द जीवन-यथार्थ और देशगत स्थितियों को परखते हुए प्रकट हुआ है। यह भी स्पष्ट हो जाता है कि दिनकर उतप्त भावना से ओत-प्रोत कवि तो हैं, पर उसमें वे बह नहीं जाते, एक पैर उनका सदैव यथार्थ की भूमि पर जम कर अड़ा रहता है।

दिनकर के काव्य में मिट्टी, आग और लोहे की त्रिवेणी टंकार-सी गूँजती-हहराती प्रवाहित है। 'मिट्टी' वाली कविताएँ कृषक, मजदूर और दलित वर्ग के जीवन का मात्र अक्स ही नहीं है, उन्हें ललकारने और सामाजिक बदलाव में सहभागी बनने का आह्वान भी है। 'आग' वाली कविताएँ राष्ट्र-प्रेम के प्रचण्ड भाव से रची गई हैं जिनमें विंडबनाओं के सामने सीना खोले ललकार की मुद्रा में कवि अड़िग खड़ा है। 'लोहा' वाली कविताओं में परिवर्तन की अथक चाह, ओज और नाद का स्वर है जिसमें व्यंग्य भी तीखा है। दिनकर की 'हिमालय के प्रति' मिट्टी, आग और लोहे के अद्भुत मिलावट से बुनी हुई कविता है। भगवती चरण वर्मा ने इसे 'भक्ति की भावना की एक बेजोड़ कविता' कहा है। पर इस एक कविता में आग और लोहे का तत्व बड़े ही कौशल के साथ अंतरग्रंथित है।

'नई दिल्ली' दिनकर की उन कविताओं में प्रमुख है जिनमें देश की जमीन और इस जमीन पर बसने वाले पीड़ितों की तस्वीर है। दिनकर, भारतीय भाषाओं के अन्य कवियों की तरह (भारती, गुरुजाडा अप्पाराव) यह मानने वाले कवि हैं कि राष्ट्र लोगों से बनता है। उन लोगो से जो अपने श्रम से उसकी बुनियाद रखते हैं। और जब अपने श्रम कण से इस धरती को सिंचित करने और फ़सल उगाने वाले पीड़ाग्रस्त

दीख पड़ते हैं तो दिनकर का कवि मन तड़प उठता है - धरती से व्याकुल आह उठी, मैं दाह भूमि की सह न सका। और इस असहनीय ताप की आँच में कवि को सत्ता और व्यवस्था (दिल्ली) की अमानवीय प्रकृति का हाथ दिखाई पड़ जाता है-

''आँहे उठीं दीन कृषकों की
मजदूरों की तड़प-पुकारें
अरी! गरीबी की लोहू पर
खड़ी हुई तेरी दीवारे
कृषक-मेघ की रानी दिल्ली।''

यह विडम्बना कवि को विचलित कर देती है। वह मानव-प्रेम को भूल चुके जनसमुदाय को ललकार उठता है। कृषकों-मजदूरों को 'देवता' का दर्जा देते हुए दिनकर ने धार्मिक पाखण्ड, सत्ता के गलियारों और जर्जर अंधेरी परम्पराओं पर गहरी चोट की है। 'मूरख' का सम्बोधन कवि की कठोरता का व्यंजक आधार बनकर इन पंक्तियों को ओजपूर्ण भाव से भर गया है -

''आरती लिए तू किसे ढूँढ़ता है मूरख
मन्दिरों, राजप्रासादों में, तहखानों में?
देवता कहीं सड़कों पर गिट्टी तोड़ रहे
देवता मिलेंगे कहीं खेतों में खलिहानो में।''
(सिंहासन खाली करो खेत कि जनता आती है)

नेता के भ्रम में फंसी और उसकी चालों में उलझी जनता से भी कवि ने श्रम पर भरोसा करने की अपील की है। अपने बाजुओं को तौलने को कहा है और धर्म के चंगुल से (अंधविश्वास, अंध आस्था) बाहर निकलने का हुंकार से भरा उलाहना दिया है-

''उठ मन्दिर के दरवाजे से
जोर लगा खेतों में अपने
नेता नहीं, भुजा करती है
सत्य सदा जीवन के सपने।'' (नीम के पत्ते)

मिट्टी से गहरे प्रेम ने दिनकर की इस तरह की कविताओं में बिना किसी नारे के उनकी प्रगतिशीलता को खुद-ब-खुद पारदर्शी बनाकर समक्ष रख दिया है। देश के आगे वे ऐसे धर्म और देवता को कुछ नहीं समझते जो दलित-पीड़ित जनता को भरमाए हुए है - ऐसा करने वाले नेताओं को भी वे नहीं बख्शते। 'भगवान की बिक्री' कविता में भी धर्मभीरू, जन को संबोधित करते हुए कहा है-

''साधना फकीरी और नहीं, खाओ, पियो
भगवान नहीं असली सोने का ढेला है''
(धूप और धुँआ में)

धर्म को अफीम कह-कह कर कोसने वालों ने मिट्टी चमकीली और भुरभुरी बनाने की शपथ लेकर धार्मिक आडम्बरों पर इतना करारा प्रहार किया हो, कहीं नजर नहीं आता।

'संस्कृति के चार अध्याय' की प्रस्तावना में आजाद भारत में आम आदमी के भीतर पनप रहे दुचित्तेपन का आकलन करते हुए पंडित नेहरू ने लिखा है कि - 'बातें तो हम शांति और अहिंसा की करते हैं, मगर काम हमारे कुछ और होते हैं। सिद्धांत तो हम सहिष्णुता के बघारते हैं, लेकिन भाव हमारा यह होता है कि सब लोग वैसे ही सोचे, जैसे हम सोचते हैं, और जब भी कोई हम से भिन्न प्रकार से सोचता है, तब हम उसे बर्दाश्त नहीं कर पाते हैं।'' दिनकर ने आजादी का भोग करने और भ्रष्टचार को सत्ता का पर्याय बना देने वालों की जमकर खबर ली है। 'आजादी की पहली वर्षगांठ' जैसी कविता दिनकर जैसा उद्धत और मिट्टी से असीम प्यार करने वाला कवि ही लिख सकता था। राजनैतिक दोगलेपन पर भी इतनी तीखी चोट कम ही की गई है, क्योंकि हिंदी में 'राजनैतिक' कविताओं की कमी नहीं है। इतनी साफगोई और अप्रतीकात्मक तो शायद ही किसी और कविता में मिले

''टोपी कहती है मैं थैली बन सकती हूँ
कुरता कहता है मुझे बोरियाँ ही कर लो
ईमान बचा कर कहता है आँखे सबकी
बिकने को हूँ तैयार खुशी हो जो दे दो।''
''अफसोस, आदमीयत की ही कीमत न रही।''

स्वतंत्रता के बाद एक वर्ष में व्यापे अपनी धरती, अपने देश के कटु-से-कटु सत्य को भी दिनकर ने उघाड़ कर नंगा कर देने में एकदम संकोच नहीं किया। वे धरती की छाती पर लगे इन घावों के भरने-पुरने का भरसक यत्न करते हैं। परिवर्तन की व्याकुल और उद्याम अभिलाषा भी इस कविता में मुखरित है।

दिनकर का तप्त रूप उनके अग्नि-भाव को स्वर देने वाला है। जागृत होकर उठने, उठकर लड़ने और ज्वाला की तरह 'असह्य' को भस्म कर डालने की हुंकार से ये कविताएँ दग्ध हैं। बहुत सहन कर लिया पद-दलित जन ने। बड़े आदर्श जी लिए हम सब ने। काफी कुछ सह चुका जन-समुदाय, अमानवीय। अब और नहीं-

''तू मौन त्याग कर सिंहनाद
रे तपी! आज तप का न काल'' (हिमालय के प्रति)

सिंहनाद के बाद दिनकर का कवि धधकते स्वरों में यह भी घोषणा कर देता है कि 'सिंहासन खाली करो कि जनता आती है। आम जन को साहस से भरने और इतिहास में उसके महत्व को 'हाहाकार' की तरह गुंजित करने वाली कविताएँ हिन्दी में नहीं के बराबर हैं। अब जनता आती है। (आने को कटिबद्ध होती है, जाग जाती है, ललकारती

हिन्दी के एक सजग पत्रकार, अनूठे निबन्धकार और भाषा के अद्‌भुत चितेरे रामवृक्ष बेनीपुरी ने दिनकर के बारे में अपने भाव व्यक्त करते हुए एक पंक्ति लिखी है जिसका गूढ़ार्थ यह है कि दिनकर का कवि व्यक्तित्व उस अंगार की भाँति है जिस पर इंद्रधनुष खेल रहे हैं। एक ओर अंगार जैसी आंतरिक जलन और तपन जो युग की अनास्था और विकृतियों को भस्म कर देने को उद्यत है तो दूसरी ओर प्रकृति के संघात से उत्पन्न मनोहारी इंद्रधनुष, सुन्दर और संघर्ष का न जाने कैसा मेल? कैसे वह झूमता रहता है-मध्य आकाश; लड़ता और जूझता हुआ तेज और कड़ी बरखा की झड़ियों से। मिट जाने की अभिशप्त पर अपने क्षणिक अस्तित्व को बचा पाने को उद्यत। एकदम मनुष्य की तरह।

दिनकर का 'अंगार' और 'इंद्रधनुष' दोनों उनकी उद्दाम-भावनाओं का सार्थक प्रतीक है। यदि उद्दाम-भावनाओं की कसौटी पर दिनकर की कविताओं को कसा जाय तो उनमें एक तरह का आकुल विद्रोह है, हिला कर रख देने वाला विस्फोट भी है कहीं-कहीं। लेकिन इन सब के ऊपर है- जीवन की निर्बाध गति। भावों के इतने उद्दाम प्रवाह का कवि हिन्दी में कोई दूसरा नहीं है। कवि दिनकर के इस गुण को उनके साथी कवि-कथाकार भगवतीचरण वर्मा ने इन शब्दों में व्यक्त किया है- ''बरसाती नदी के प्रचंड प्रवाह में उसकी कला हरेक भावना को अपनी- तीव्र गति में समेटती चलती है। भावना है, लेकिन हर एक भावना जिंदगी की हामी है। उसमें जीवन की तीव्रता है, प्रखरता है।''

आग के साथ ही दिनकर मिट्‌टी के प्रखर गायक भी हैं। राष्ट्र-प्रेम, मनुष्य-प्रेम और आहत मानवता के प्रति उनका रूझान अटूट है। कहा जाय कि दिनकर की कविता यदि अपने युग का प्रतीक है तो वह खुद वर्तमान युग के कवि हैं। उनकी युगीन प्रासंगिकता का सबसे बड़ा प्रमाण है- सामाजिक विषमताओं के प्रति उनका आक्रोश और विद्रोह। यह बात उल्लेखनीय और दिनकर के वैशिष्टय को पुष्ट करने वाली भी है कि इस आक्रोश के लिए उन्होंने कहीं भी आरोपित विश्वासों, मान्यताओं या विचारधाराओं का सहारा नहीं लिया। दिनकर का कवि भी संघर्ष करता है पर अपने ढंग से। विचारधारा से बँधे-बँधे किसी भी आधुनिक कवि से कहीं अधिक 'संघर्ष-भाव' दिनकर के काव्य में व्यक्त है। उनकी ढेरों कविताएँ यह जताती हैं कि संघर्षों से उन्हें मोह है। अपनी इसी निजता के कारण संघर्ष की कटुता से दिनकर का कवि व्यक्तित्व कहीं भी विशृंखल या लक्ष्य-भ्रष्ट नहीं हुआ हैं कही कठोर अवश्य हो गया है कि मिट्‌टी ठीक से पक जाय और आकृति छिटके-टूटे नहीं।

दिनकर की यह कठोरता उनके काव्य की चिरन्तन प्राण शक्ति है। इतना ही नहीं यही उनकी अडिग आस्था का सम्बल भी है। यह आस्था ही दिनकर को उन्मुक्त और साहसी बनाए हुए है। कला का साज-शृंगार उनमें नहीं है तो उनकी इसी 'कठोरता' के चलते। उनके एक अन्य साथी कवि नरेंद्र शर्मा ने ठीक ही लिखा है कि-''अनुभूति जनित कठोर भावना का तीव्र प्रवाह ही दिनकर का क्षेत्र है।'' सियाराम शरण गुप्त के इस उद्धरण के आलोक में दिनकर-काव्य की परख करें तो हिन्दी कविता के इतिहास में उनकी अद्वितीयता को समझा जा सकता है - 'रस कठोर में भी होता है। सब कोमल पदार्थ सुस्वादु नहीं होते।' (कविता के नये प्रतिमान: नामवर सिंह के हवाले से)

'आग' और 'मिट्‌टी' के ताप में पककर दिनकर की कविताएँ 'लोहा' बनकर टंकार करती हैं। इस टंकार का प्रमुख अवयव है दिनकर का ओज। ओज के क्षेत्र में दिनकर अद्वितीय हैं। दिनकर के भावोद्‌गार में ओज की संरचना स्वत: बनती चली गई है। यही वजह है कि दिनकर का 'लोहापन' ही उनकी कविताओं में क्रांति का आह्वान करने वाला बन सका है। दिनकर की क्रांति रचनात्मक है। उनकी रचनात्मक क्रांति का तात्पर्य परंपरा को संजोते हुए बुद्धि की संकीर्णता और विवेकहीनता को चुनौती देना है। कुछ इस तरह कि राष्ट्रीय-चेतना, समाजिक-विकृतियाँ, मानवीय सम्मान और रचना एक-दूसरे की आँख में आँख डालकर देख सकें। पर उन्हें विकृति और निराशा का कवि मान लेना भारी भूल होगी। यह अवश्य कहा जा सकता है कि 'दिनकर उस विनाश या क्रांति के प्रतीक हैं जो निर्माण के लिए मार्ग प्रशस्त करता है।' (बच्चन)। दिनकर का टकराव 'सीधा भावोद्‌गार' नहीं है जिसे शुक्ल जी 'काव्य शिष्टता' के विरूद्ध मानते हैं (संदर्भ: नामवर सिंह, वही) बल्कि उनकी हुंकार, दर्प और

है,) तो उसकी --

''हुंकारों से महलों की नींव उखड़ जाती
साँसो के बल से ताज
हवा में उड़ता है
जनता के सम्मुख टिके, समय में ताव कहाँ
यह जिधर चाहती, काल उधर ही मुड़ता है।''

पौरुष के जागरण से ही विडंबनाएँ ढहती हैं। विपरीत को ललकार कर ही काल को अपने अनुकूल किया जा सकता है। यह बात राम की शक्ति पूजा के समय राम द्वारा सागर का विनत भाव से आह्वान करने और इस विनय को सागर के न सुनने पर राम की पौरुषपूर्ण ललकार का असर दिनकर ने इन ओजपूर्ण शब्दों में अभिव्यक्त किया है-

''उत्तर में जब एक नाद भी
उठा नहीं सागर से
उठी अधीर धधक पौरुष की
आग राम के सर से
सिंधु देह धर 'त्राहि-त्राहि'
करता आ गिरा शरण में
चरण पूज, दासता ग्रहण की
बँधा मूढ़ बन्धन में''
(स्वत्व माँगने से न मिले)

खासकर इस कोटि की कविताओं में दिनकर का पौरुष के पुँजीभूत ज्वाल वाला प्रचण्ड कवि व्यक्तित्व सर्वाधिक मुखरित है।

दिनकर की कविता का लौह-तत्व एक ओर परिवर्तन के लिए सन्नद्ध है तो दूसरी ओर सबको इसमें साझी बनाने का आमंत्रण भी देता है। कवि-समाज को भी वह मानव के संताप हरने को, लोहा बनकर टकराने को उकसाता है। बहुत हो चुकी सुषमा-सौंदर्य की बातें अब बीत चुकी हैं प्रेम-प्रकृति को कविता में सजाने की घड़ियाँ। आज का युग-सत्य कवि को वज्र बनने को ललकार रहा है, उसे चुनौती दे रहा है। ऐसे समय में दिनकर का कवि दिल्ली की हृदयहीनता का बखान करने के बाद कहता है --

''लाखों क्रोंच कराह रहे हैं
जाग आदि कवि की कल्याणी
फूट-फूट कर कवि कंठो से
बन व्यापक युग की तु वाणी'' (नई दिल्ली)

विनय, करूणा और अहिंसा जैसे उच्च भाव आज की दुनिया में अप्रासंगिक होते जा रहे हैं- इस तथ्य को दिनकर 'कुरुक्षेत्र' में ही पूरे आत्मविश्वास के साथ प्रतिस्थापित कर चुके थे। बापू से अत्यन्त प्रभावित होने के बावजूद (दिनकर की 'बापू' कविता : 1947 इसका प्रमाण है) गांधी के विचारों के विरूद्ध खड़े होने का जो साहस दिनकर ने दिखाया है वह उनकी युग-सत्य की पहचान या दूर-दृष्टि का परिचायक तो है ही, युगवाणी भी है -

''क्षमा शोभती उस भुजंग को जिसके पास गरल हो
उसका क्या जो दंतहीन, विष रहित, विनीत, सरल हो।''

दिनकर यह समझ चुके थे कि विश्व में सहनशीलता, दया आदि गुणों का सम्मान तभी होता है जब उसके पीछे शक्ति का अभिमान खड़ा हो। दुनिया में शक्तिशाली विनम्रता ही सम्मान पाती है। आदर्श के नाम पर कायरता और दुर्बलता को ओढ़े रहना आत्महंता प्रवृत्ति के सिवा और कुछ नहीं है। आज के शक्ति-संघर्ष वाले विश्व परिदृश्य के परिप्रेक्ष्य में दिनकर का यह लौह-कवि-व्यक्तित्व बरबस हमें अपनी ओर खींचता है -

''न्यायोचित अधिकार माँगने से न मिले तो लड़ के
तेजस्वी छीनते समर को / जीत, या कि खुद मर के।''

यह तेजस्विता ही दिनकर के काव्य का लोहा है।

दिनकर की कविताएँ बार-बार यही कहती हैं कि-

''मानव मानव है समान / जगती में गूँजे यही गान''

उनके समस्त भावों में लिपटा यही सूत्र-संदेश है और कुछ न कह कर इतना ही कि दिनकर का कवि स्पष्ट भाषी, उद्धत और आत्मविश्वास से भरा हुआ है। उसकी भाषा ताण्डव करती, गुँजार करती, हुँकारती, ललकारती, संरचनाओं में बँधी है। कई आलोचक दिनकर काव्य को 'एकांगी' मानते-समझते हैं। माना-समझा करें। शायद वे दिनकर के ताप को सहन नहीं कर सके हैं अथवा 'उर्वशी' और 'रश्मिरथी' को दिनकर का इति और अंत मानकर उनकी अन्य रचनाओं में वे नहीं पैठ सके हैं। दिनकर का कवि युग और सत्य के हर मोड़ पर खड़ा है और यही उसकी महानता है, अद्वितीयता है। दिनकर एक कवि के रूप में जहाँ कही भी खड़े हैं - समर्थ हैं, सफल हैं, प्राणवान हैं। मुझे भगवती चरण वर्मा के इन शब्दों पर पूरा-पूरा भरोसा है और हिन्दी कविता के किसी भी गंभीर अध्येता को होगा कि 'दिनकर' हमारे इस युग का यदि एक मात्र नहीं तो सबसे अधिक प्रतिनिधि कवि है।

संपर्क सूत्र : कुलसचिव, दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास, टी. नगर, चैन्नै- 17

संस्कृति के चार अध्याय: कवि और चिंतक का द्वंद्व

सुखनन्दन

दिनकर हिन्दी के उन कुछ एक साहित्यकारों में से हैं, जिनकी प्रतिभा का लोहा चिन्तन के क्षेत्र में भी माना जाता है। उनकी इस आसाधारण ख्याति का कारण है उनकी रचना 'संस्कृति के चार अध्याय'। संस्कृति से संबंधित अध्ययनों में इस पुस्तक को एक अनिवार्य पठनीय संदर्भ ग्रंथ के तौर पर मील के पत्थर की हैसियत प्राप्त है। दिनकर के रचना संसार के संस्कृति के चार अध्याय की स्थिति अन्य काव्य रचनाओं से कुछ अलग सी है। न केवल इसमें अभिव्यक्ति के रूप (गद्य) की भिन्नता है, बल्कि इसमें उनका स्वर भी और उनके निष्कर्ष भी भिन्न हैं। यह भिन्नता बहुत मानीखेज है और दिनकर की वास्तविक छवि का निर्माण करते हुए इसे नजरअंदाज नहीं किया जाना चाहिए। दिनकर पर विचार करते समय इस भिन्नता का इसलिए बढ़ जाता है क्योंकि यह दिनकर प्रेमियों और पाठकों को दो भिन्न दिशाओं में प्रेरित करती है।

भारत के स्वाधीनता आंदोलन को हिन्दी कविता में सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति देने वाले रामधारी सिंह दिनकर, विशाल जन समुदाय की आकांक्षा को अपनी ओजस्वी वाणी से मुखरित करने वाले अद्वितीय कवि हैं। पुरातन विपथगामी परम्पराओं और प्रवृत्तियों पर उन्होंने प्रगतिशील संभावनाओं का वज्राघात किया था। जीवन और जगत के दमनकारी यथार्थ को बदलने और मानवीय उत्थान के नए शिखर की ओर द्रुत गति से बढ़ते जाने की अदम्य भावना दिनकर के काव्य का प्राणतत्व है। शोषण-दमन और प्रगति की राह में आने वाली बाधाओं से समझौता हीन संघर्ष दिनकर के काव्य का स्थाई भाव है। उनके लिए अत्याचार करने वाला ही नहीं अहिंसक बनकर प्रतिरोध करने वाला भी पाप का भागी है। 'प्रणभंग' में भीष्म पितामह जैसे ज्ञान वृद्ध पात्र के माध्यम से दिनकर की मान्यता है-

छीनता हो स्वत्व कोई, और तूं
त्याग तप से काम ले पाप है
पुण्य है विच्छिन्न कर देना उसे
बढ़ रहा तेरी तरफ जो हाथ है।

अपनी कविताओं में दिनकर ने न तो भारतीय संस्कृति और अतीत का महिमामंडन किया और न ही वर्तमान व्यवस्था से उन्होंने कोई झूठी उम्मींद पाली। उन्होंने धर्म-जाति और लैंगिक भेदभाव पर आधारित संस्कृति की निर्मम आलोचना की और मौजूदा व्यवस्था में व्याप्त गैरबराबरी और शोषण के कटु यथार्थ को उसके नग्न रूप में सामने रखा- **स्वानों को मिलते दूध-वस्त्र, भूखे बच्चे अकुलाते हैं/ मां की हड्डी से चिपक, ठिठुर जाड़ों की रात बिताते हैं/ युवती के लज्जा वसन बेच जब ब्याज चुकाये जाते हैं।**

समाज में फैली इस भीषण दरिद्रता का कारण मुट्ठी भर 'देवताओं' द्वारा अपनी विलासिता के लिए खड़ा किया गया स्वर्ग है और बिना इस स्वर्ग की संपत्ति को बलपूर्वक हासिल किए, यह दरिद्रता नहीं मिटने वाली। दिनकर ने यह जिम्मेदारी खुद उठाते हुए चुनौती दी- **हटो व्योम के मेघ पंथ से, स्वर्ग लूटने हम आते हैं/**

'दूध-दूध' ओ वत्स, तुम्हारा दूध खोजने हम जाते हैं।

शोषक और शोषितों के बीच किसी काल्पनिक समन्वय से इस समानता का समाधान यहां होने वाला है। उसके लिए व्यवस्था से संघर्ष अनिवार्य है। युगों-युगों से अन्याय और दमन की सत्ता के शिकार जनगण को प्रतिशोध में उठ खड़े होने और इस व्यवस्था को बदल देने के लिए दिनकर आह्वान करते हैं-

पिलाने को कहां से रक्त लाएं दानवों को?
नहीं क्या स्वत्व है प्रतिशोध का हम मानवों को?
जरा तूं बोल तो, सारी धरा हम फूंक देंगे,
पड़ा जो पंथ में गिरि कर उसे दो टूक देंगे।
कहीं जो पूछने बूढ़ा विधाता आज आया,
कहेंगे, हां, तुम्हारी सृष्टि को हमने मिटाया।

सत्ताधारियों ने अपने वर्चस्व की निरंतरता के लिए समूचे समाज को धर्मों-संप्रदायों, जातियों, मत-मतांतरों में विभाजित किया था, जिसका कोई भी प्राकृतिक आधार नहीं है। समाज में मौजूद गैर बराबरी और भेद-भाव प्राकृतिक या ईश्वरकृत नहीं है, यह इस सामाजिक व्यवस्था का परिणाम है 'नीचे हैं क्यारियां बनीं तो बीज कहां जा सकता है?' इस व्यवस्था का विरोध करते हुए दिनकर मनुष्य को उसके कर्म और गुणों से पहचानने का आग्रह करते हैं। विभेदात्मक संस्कारों से ग्रसित प्राणी स्वाधीन राष्ट्र और जनवादी व्यवस्था को कुत्सित करता है। स्वतंत्र भारत में इस प्रवृत्ति का दिनकर ने खुल कर प्रतिवाद किया है-

घातक है जो देवता सदृश दिखता है
लेकिन कमरे में गलत हुक्म लिखता है
जिस प्राणी को गुण नहीं, गोत्र प्यारा है
समझो उसने ही हमें यहा मारा है।

स्वाधीनता आंदोलन की उमंगों में होश संभालने वाले दिनकर ने जो कुछ अपनी प्रौढ़ावस्था में देखा, अत्यंत विक्षुब्धकारी था। स्वाधीनता आंदोलन के कर्णधार ही भारत के भाग्यविधाता बने थे। दिनकर के शब्द उस कुटिल विसंगति को उजागर करते हैं, जिसमें आस्था की आड़ में देव मूर्तियों की तश्करी होती है और 'मंदिर का देवता, चोर बाजारी में पकड़ा जाता है।'

'हुंकार', 'रेणुका', 'कुरुक्षेत्र', 'रश्मिरथी', 'उर्वशी' जैसी रचनाओं से दिनकर हिन्दी काव्य जगत में शीर्षस्थ यशस्वी कवि के रूप में प्रतिष्ठित हुए। कवि सम्मेलनों के माध्यम से उन्हें जबरदस्त लोकप्रियता प्राप्त हुई। असाधारण प्रतिष्ठा पाकर भी दिनकर ने यहीं विराम नहीं लिया। सामाजिक परिवर्तन और राष्ट्र निर्माण की दिशा और दृष्टि की सुस्पष्टता के लिये उन्होंने 'संस्कृति के चार अध्याय' की रचना की। यह महाग्रंथ उनके गहन अध्ययन, वैचारिक सहिष्णुता और राष्ट्रीय बंधुत्व की भावना को सुदृढ़ पृष्ठभूमि देने की महात्वाकांक्षा से अनुप्राणित सृजनशीलता का सुपरिणाम है। हिन्दी साहित्य के इतिहास में पहली बार किसी कवि ने इतिहास, परम्परा, धर्म, दर्शन जैसे साहित्येतर क्षेत्रों में इतना सशक्त हस्तक्षेप प्रस्तुत किया। यशस्वी कवि और संवेदनशील राष्ट्रवादी चिंतक के रूप में दिनकर ने राष्ट्रीय एकता एवं सांस्कृतिक समन्वय का जो स्वप्न देखा संस्कृति के चार अध्याय उसका मूर्तरूप है। दिनकर की कविताओं में मानवतावादी आदर्श, न्यायपूर्ण व्यवस्था की कामना तथा ओज एवं पौरुष की उन्मुक्त उड़ान है। अपनी स्वतंत्र प्रवृत्ति के कारण दिनकर का काव्य न केवल उन्हें हिन्दी का शीर्षस्थ कवि सिद्ध करता है बल्कि भारत की सीमाओं को पार कर विश्व के काव्य जगत में प्रतिष्ठा पाने में समर्थ है। यह भविष्य निर्णय करेगा कि विश्व के श्रेष्ठतम कवियों की पंक्ति में दिनकर का स्थान कौन सा है। दिनकर ने 'संस्कृति के चार अध्याय' की रचना में अपनी कविताओं की रचना प्रक्रिया से नितांत भिन्न पद्धति का अनुसरण किया है। उन्होंने फूंक-फूंक कर कदम रखते हुए एक-एक विषय को लिया और चुन-चुन

कर संदर्भों के साथ अपनी विवेचना प्रस्तुत की है। अपनी दिशा और दृष्टिकोण के अनुरूप दिनकर ने वेद, उपनिषद, कुरान, बाइबल तथा विभिन्न धर्म ग्रंथों एवं समाज सुधारकों और मनीषियों आदि के साक्ष्य के आधार पर अपना यह ग्रंथ निर्मित किया है।

दिनकर की गद्य रचनाओं में 'संस्कृति के चार अध्याय' न केवल आकार में विशाल है वरन धार्मिक तथा दार्शनिक ग्रंथों में निहित प्रमुख तत्वों के गहन अध्ययन-विश्लेषण के जरिये मानवतावादी जनवादी मूल्यों का प्रतिपादन है। संस्कृत, बंगला, फारसी, उर्दू आदि भाषाओं के ग्रंथों तथा विभिन्न विचारकों के उद्धरणों और व्याख्याओं तथा सटीक निष्कर्षों की प्रस्तुति के कारण यह ग्रंथ हिंदी पाठकों के लिये अद्वितीय है। जिन बुद्धिजीवियों-पाठकों को लक्ष्य बनाकर यह ग्रंथ लिखा गया- उन्होंने उत्सुकतापूर्वक इसका समादर भी किया। भारत भूमि पर वैदिक काल से लेकर अपने युग तक के इतिहास को दिनकर ने चार क्रांतियों के आधार पर चार अध्यायों में विभाजित किया है, जिसे 1962 के द्वितीय संस्करण में अंतिम रूप।

इस ग्रंथ का प्रथम अध्याय, भारत के मूलवासियों से आर्यों के 'मिलन' से संबंधित है, जिससे 'भारत की बुनियादी संस्कृति बनी।' महावीर और गौतम बुद्ध का यज्ञवाद और उपनिषदों की चिंतन धारा के विरुद्ध विद्रोह दूसरे अध्याय का विषय है। विजेताओं के धर्म के रूप में इस्लाम का हिन्दुत्व के साथ संपर्क तीसरे अध्याय का तथा भारत में यूरोपीयों के आगमन का हिंदुत्व और इस्लाम दोनों पर प्रभाव चौथे अध्याय के विषय हैं। भारत व्यापी विविध परम्पराओं, मान्यताओं, तथा विद्वानों की स्थापनाओं से उन्होंने संवाद के साथ जहां-तहां असहमति, छेड़-छाड़ और प्रतिवाद भी किया है। प्रथम अध्याय में कतिपय रोचक संदर्भ दर्शनीय है-

''आर्य शब्द की व्युत्पत्ति ; धातु से बताई जाती है जिसका अर्थ गति होता है। आर्य कदाचित् गत्वर (घुमक्कड़) लोग थे। एशिया के रेगिस्तानी इलाकों से निकलकर जब वे भारत में पहुंचे, यहां की उर्वरा धरती ने उनके घुमक्कड़ स्वभाव को बदल दिया...।''

''जिन लोगों को आर्यों ने दास-दस्यु, निषाद, अनास और शिश्नदेवा कहा है, उनसे आर्यों की मुठभेड़ केवल भारत आकर हुई, यह बात बहुत समीचीन नहीं दिखती।...आर्यों का संघर्ष इन सभी लोगों से हुआ था, जिसकी प्रतिध्वनि वैदिक साहित्य में अत्यंत परिवर्तित रूप में सुनाई देती है।''

''जब आर्य यहां आए, उससे पहले ही सभ्यता का विकास यहां हो चुका था और धर्म तथा संस्कृति के अंग रूप ग्रहण कर चुके थे। आर्यों ने इन सबको लेकर आर्य धर्म का संगठन किया।''

''उन्होंने इसी वेद-पूर्व सभ्यता को भारतीय सभ्यता का आधार बनाया।''

दिनकर की दृष्टि में समाज का ध्यान मानव उत्पीड़न से हटाकर धर्म के सूक्ष्म तत्वों की ओर ले जाना उपनिषदकारों का उद्देश्य था। सारी सृष्टि के ब्रह्ममय होने और मोक्ष जैसा समाधान मनुष्य की असली समस्याओं के निवारण के लिए था, जिसमें जीवन-मरण की समस्या भी है। इस चिंतन धारा में बहने वाले वैरागियों और सन्यासियों की संख्या उतरोत्तर बढ़ी गई थी। ''अज्ञात रूप से वेदों के इषत विरुद्ध सोचना उपनिषदकारों ने आरम्भ किया था और जनता के मन पर से वेदों के प्रभुत्व को उखाड़ फेंकने की सच्ची कोशिश महावीर और बुद्ध ने की।''

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह जैसे पंचव्रत पर आधारित कर्मवादी जैनधर्म परिष्कृत तथा उन्नत जीवन बनाने का माधयम है। जैनधर्म की भांति, बौद्ध धर्म भी यज्ञ विरोधी, पशुहिंसा विरोधी, वेदों की प्रामाणिकता को अस्वीकारने वाला, प्रचलित जनभाषा में

उपदेश देने वाला था। जैन धर्म से बौद्ध धर्म की भिन्नता तो विशेषकर क्षणिकवाद, नैरात्मवाद, शून्यवाद और विज्ञानवाद आदि एकांतिक दृष्टिकोण से थी। बुद्ध ने तप और भोग के बीच से मध्यम मार्ग का अनुसरण किया। बुद्धदेव ने (1) जातिप्रथा को चुनौती दी, (2) शास्त्रों का तिरस्कार किया और (3) मनुष्य की स्वतंत्र बुद्धि को स्फुरण प्रदान किया। दिनकर के अनुसार तथागत बुद्ध द्वारा घोषित चार आर्य सत्य तथा अष्टांगिक मार्ग जीवन में उतारने योग्य हैं। 'यह धर्म का बड़ा ही व्यावहारिक रूप था' इस कारण ''समाज में जो वर्ण ब्राह्मण से जितना ही दूर था, वह बौद्ध धर्म की ओर उतने ही वेग से खिंचा।'' अपनी लोकप्रियता के कारण ही बौद्ध धर्म विश्वधर्म बन गया। आगे चलकर जब जैन और बौद्ध धर्म स्थापित हो गए तो स्वयं संघ संपत्ति और विलासिता के केंद्र बन गए जिसके चलते उन्हें ब्राह्मणों तथा उनके समर्थक शासकों के प्रहार झेलने पड़े। वेद-उपनिषद, ब्राह्मणग्रंथों, गीता, जैन-बौद्ध धर्मों, वैष्णव, शैव, शाक्त सम्प्रदायों तथा संत परम्पराओं के सटीक विवेचन के साथ संस्कृत के चार अध्यायों में से दूसरा संपूर्ण होता है।

तीसरा अध्याय 'हिंदू संस्कृति और इस्लाम' है। इस्लाम का जन्म धर्म के रूप में हुआ था किन्तु परिस्थितियों ने उसे राजनीतिक रूप दे दिया। खलीफा मुसलमानों के राजा भी थे और धर्मगुरू भी। आचार और विचार में सरल इस्लाम ने समानता की शिक्षा से अत्याचार से पीड़ितों को एकताबद्ध किया और धर्म विजय के नाम पर खडगवाद ने 100 वर्षों में दुनिया का सबसे शक्तिशाली राज्य स्थापित किया।

मुसलमान आक्रामक पहले लूटपाट के लिए भारत में आते थे किंतु पृथ्वीराज चौहान और जयचंद की पराजयों के बाद स्थापित मुसलमानी हुकुमत ने हिन्दू शासकों की शासन परम्परा को चकनाचूर कर दिया। उस समय भारत में धार्मिक संप्रदायों, जातियों में विभाजित, शोषण उत्पीड़न के शिकार बहुसंख्यक किसान, शिल्पी और दासों को भांति-भांति के कर देने अतिरिक्त शासन और राज्य व्यवस्था में दखलंदाजी का कोई हक नहीं था। 'कोउ नृप होइ हमहिं का हानी' की तर्ज पर शासक बदलने पर भी उपज का 1/2 से 1/5 तक देना ही था। परिणामस्वरूप कुछ हजार मुसलमानों की सेना दिल्ली, अवध, बिहार, बंगाल, उत्तर से दक्षिण भारत तक अबाध गति से विजय पर विजय प्राप्त करती गई थी। शासन व्यवस्था में मुसलमान हिंदू राजाओं से भी ज्यादा निरंकुश थे। अपना धर्म बचाये रखने के लिए मुसलमान शासन में जजिया कर देना पड़ता था। तब भी हिन्दू धर्म की जड़ता का आलम यह था कि मनु और याज्ञवल्क्य जैसी ''स्मृतियों में जाति भ्रष्ट मनुष्य को जाति में लाने का कोई प्रबंध नहीं था।... हिन्दू यही मानते थे जिसके शरीर पर मुसलमान के छूए हुए पानी का छींटा पड़ गया, वह किसी प्रकार हिन्दू नहीं रह सकता है।''

इस्लाम के अनुयायियों में संकीर्ण कट्टरतावादी ही नही, संवेदनशील मानवतावादी न्यायप्रिय भी होते रहे हैं। शियों में एक उग्र संप्रदाय ने 'हुलूल' और 'तकसीर' की घोषणा की। अर्थात मनुष्य ईश्वर कोटि का बन सकता है और ईश्वर मनुष्य। मोतजली संप्रदाय के चिंतकों ने बुद्धिवाद के क्षितिज को अधिक विस्तार दिया। अल गजाली (1051 से 1120 ई.) धर्म मीमांसा करते हुए, धर्म पर सोचते-साचते हुए वे नास्तिकता पर पहुंचे और धर्म मात्र से उनका विश्वास उठ गया। मुक्त चिंतकों में उमर खैयाम और अबुल अका (1057 ई.) का बड़ा नाम है। इब्नसीना यूनानी दर्शन के प्रेमी थे। सूफी मत को दिशा इन्हीं दार्शनिकों ने दी। अपनी आस्था के लिए 'अनल हक' (अहम् ब्रह्मोस्मि) पुकारते हुए 922 ई. में मंसूर सूली पर चढ़े थे।

सूफियों में इस्लाम कठमुल्लावाद और ब्राह्मणों के पाखण्ड का निर्मम विरोध कबीर जैसे संतों ने किया। इस्लाम और हिन्दुत्व में यह समन्वय की धारा थी। विवेकसंगत समन्वय की धारा ने संकीर्णतावाद के विरुद्ध

संघर्ष किया है। भारत में आकर इस्लाम ने खान-पान, आचार- विचार, सामाजिक व्यवस्था में बहुत कुछ बदला और भारतीय समाज को भी प्रभावित किया। रहीम, रसखान, अकबर, नानक, कबीर समन्वय की धारा के प्रतीक हैं। राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम में नजरुल इस्लाम, जोश, अकबर इलाहाबादी, चकबस्त, जमील मजहबी आदि की रचनाओं ने ओज और स्फूर्ति दिया था, साम्प्रदायिकता से मुक्त एकता और समन्वय को दृढ़ता दी थी।

'भारतीय संस्कृति और यूरोप' शीर्षक चौथे अध्याय में भारत की खोज 1498 ई. करने वाले वास्कोडिगामा से लेकर ब्रिटिश साम्राज्य से मुक्ति के बाद के भारत का विस्तृत विवरण दिनकर जी ने प्रस्तुत किया है। स्वार्थों के संघर्ष में कई लड़ाईयों के बाद अंग्रेजों ने भारत में अपना शासन स्थापित कर लिया। यूरोपवासियों ने अपने व्यापार और शासन के दौरान शस्त्रस्त्र तथा युद्धकला ही नहीं, धर्म दर्शन, साहित्य और शिक्षा के क्षेत्रें में आश्चर्यजनक प्रगति की ओर भारतीयों को आकर्षित किया। 18वीं सदी के अंतिम दशकों में अंग्रेजों ने भारत में पश्चिमी शिक्षा पद्धति की नींव डालनी आरम्भ की। 1857 के बाद तो शिक्षा के क्षेत्र में बड़े काम हुए, एक के बाद एक विश्वविद्यालय खुलने लगे।

ईस्ट इंडिया कंपनी के कर्मचारियों ने जहां भारतीयों में शिक्षा का लोकप्रिय बनाया, वहीं उनमें से अनेक स्वयं प्राच्यविद्या में पारंगत होते गए। अंग्रजों और अंग्रेजी शिक्षा के संपर्क में आने वाले जागरूक भारतीयों में विद्या के प्रति अनुराग बढ़ता गया था। इन शिक्षित भारतीयों में अपनी संस्कृति के प्रति अटूट आस्था थी। स्वामी रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानंद, लोकमान्य तिलक, महायोगी अरविंद, महात्मा गांधी, सर इकबाल जैसे मनीषियों के व्यक्तित्व, कृतित्व एवं उनके सामाजिक प्रभाव का विशद विवेचन दिनकर जी ने किया है।

'संस्कृति के चार अध्याय' की रचना एवं प्रकाशन ऐसे संक्रमण काल में हुआ था जब सांस्कृतिक विरासत को राष्ट्र हित में सजोना था, उस राष्ट्र के हित में जिसका नेतृत्व में स्वाधीनता संग्राम के महानायक नेहरू कर रहे थे। भारतीय धार्मिक मान्यताओं, दार्शनिक दुरूहताओं, सांस्कृतिक मूल्यों तथा भारतीय विचारकों की मानवीय संवेदनाओं को आत्मसात किए बिना ऐसे ग्रंथ की रचना संभव नहीं है। संस्कृति के चार अध्याय जैसे श्रम साध्य ग्रंथ की रचना कर के दिनकर ने हिन्दी साहित्य के एक अभाव को संपूरित किया। इस अध्ययन में चिंतन, मनन और लेखन की प्रक्रिया में ज्ञान की गंगा में गोता लगाते-लगाते वे स्वयं भी निखरते गए। उनका लेखकीय उद्देश्य पाठकों में नया प्राण फूंकना था। उन्हें विश्वास रहा है कि इस ग्रंथ में ''अर्द्ध सत्य और अनुमान चाहे जितने रहे हो, किंतु जो प्रतिमा इस पुस्तक में खड़ी की गई है, वह निर्जीव नहीं है।

'संस्कृति के चार अध्याय' के प्रकाशन ने हिन्दी पाठकों को आकर्षित किया था। संवेदनशील पाठकों ने अपने उद्गारों को मंचों से उद्घाटित किया, समाचार पत्र-पत्रिकाओं में प्रतिक्रिया व्यक्त की और करीब तीन सौ पत्र दिनकर को प्राप्त हुए। इनमें दिनकर का 'प्रबल समर्थन' करते हुए उनकी 'भूरी-भूरी' प्रशंसा थी किंतु दूसरी ओर कुछ पत्रें में 'लेखक अज्ञानी और मूर्ख है', कहते हुए 'कठिन विरोध' भी किया गया था। दिनकर जी को जल्दी ही ज्ञात हो गया था कि 'मेरी स्थापनाओं से सनातनी भी दुखी है और आर्यसमाजी तथा ब्रह्मसमाजी भी।' पुराणपंथी और यथास्थितिवादियों की नाराजगी का स्पष्टीकरण दिनकर जी ने तीसरे संस्करण की भूमिका (1962) में दिया। किंतु वे उन लोगों की चर्चा के प्रति मौन साध गए जिन्हें दिनकर से बड़ी अपेक्षाएं थी।

दिनकर के अनन्य मित्र और सहयोगी मन्मननाथ गुप्त ने संस्कृति के चार अध्याय को 'गागर में सागर' मानते हुए लिखा कि मुझे पता नहीं कि ''भारतीय भाषा में इतनी ठोस सामग्री कहीं एक जगह एकत्र भी है?'' या नहीं। गुप्त

जी के शब्दों में- इस पुस्तक के पहले दिनकर हिन्दी के एक श्रेष्ठ कवि के रूप में प्रसिद्ध थे, पर इस पुस्तक के प्रकाशन के बाद से वह एक गहन चिंतक तथा सुपठित मनीषी के रूप में हिंदी संसार में ही क्यों भारतीय साहित्य में आ गए।''

धर्मग्रंथों द्वारा पोषित वैषम्य, परंपरा में व्याप्त अमानवीय दुराचरण के नंगे सत्य को आधुनिक युग में आदर्शवादी सुधारकों की अतिमानवीय सद्भावनाओं के साथ चार अध्यायों की प्रांजल भाषा में दिनकर जी ने 'सामासिक संस्कृति' को प्रस्तुत किया है। किंतु उनकी यह प्रस्तुति उनका सर्वस्व नहीं है, उनके पास बहुत कुछ शेष था। विदेशी शासन में दिनकर का कवि, उन्मुक्त था, उन्हें विश्वास था पदच्युत होकर जनता में पद और प्रतिष्ठा दोनों मिलेगी। उनकी गर्जन और तर्जन के पीछे समूचा देश और गांधी का प्रभाव था। ''सोचता हूं मैं कब गरजा था? जिसे लोग मेरा गर्जन समझते हैं वह असल में गांधी का था, उस आंधी का था जिसने हमें जन्मा था।'' दिनकर के मन की कसक अकारण न थी, राजनीति और दिल्ली का सम्मोहन संभव है 'संस्कृति के चार अध्याय' की रचना के कारक रहे हों, अन्यथा दिनकर का घोषित मत था-

वैभव की दीवानी दिल्ली
कृषक मेघ की रानी दिल्ली
अनाचार, अपमान, व्यंग्य की
चुभती हुई कहानी दिल्ली

सत्ताधारियों और उनके शुभचिंतकों द्वारा प्रतिष्ठित शास्त्र और साहित्य में व्यक्त अभिजात वर्गीय भारतीय संस्कृति को दिनकर जी ने 'संस्कृति के चार अध्याय' में इस कुशलता से अभिव्यंजित किया है कि उसे भारतीय वांगमय का संक्षिप्त ज्ञानकोश कहना समुचित होगा, कम से कम हिंदी में तो वह अद्वितीय है ही। पर क्या यही राष्ट्र कवि से अपेक्षित था? शायद बिलकुल नही! कविताओं में दिनकर जी का राष्ट्रवाद विशाल जनता के पक्ष में मुखरित हुआ है। किसान, मजदूर, दलित, नारी आदि युगों के उत्पीड़ितों के हित में दिनकर का स्वर सदैव आक्रोश भरा रहा है। यह उत्पीड़न तथोक्त चार अध्यायों के कारण ही संभव हुआ था। अपनी कविताओं में दिनकर ने समन्वय की नहीं संघर्ष की वकालत की है। उन्होंने परम्परा में मौजूद रूढ़ियों पर प्रहार किया है, एक निश्चित पक्षधरता के साथ यथार्थ की कटुता को अभिव्यक्त किया है(जबकि चार अध्यायों का वर्णन करते हुए उनकी मूल चिंता उस ज्ञान में से 'सत्य का अंश' खोजने की रही है 'जिसका विकास पिछले छः हजार वर्षों में हुआ है।' अपनी कविताओं में दिनकर ने 'जो है' के साथ-साथ जो 'हो सकता है' और जो 'होना चाहिये' उस पर लगातार जोर दिया है। दिनकर जी का यह कवित्व पांचवे अध्याय की अपेक्षा करता है जो संभावित है। यह पांचवां अध्याय वह संस्कृति है जो जनता के जनवाद द्वारा निर्मित होगी। वर्तमान संस्कृति ने जो देश को दिया है उस संस्कृति ने देश में एक से एक रेशमी नगरों का निर्माण जारी रखा है, जो दिनकर जी को अभीष्ट न था उन्होंने अपने संपूर्ण ओज से चेतावनी दी थी-

होश करो दिल्ली के देवों होश करो
सब दिन तो यह मोहनी न चलने वाली है
होती जाती हैं गर्म दिशाओं की सांसे
मिट्टी फिर कोई आग उगलने वाली है

भावी संस्कृति के निर्माताओं को दिनकर जी ने न सिर्फ पहचाना बल्कि उनके भवितव्य की घोषणा करते हुए मौजूदा व्यवस्था के पोषकों को सिंहासन खाली करने का आदेश दिया-

आरती लिये तूं किसे ढूढ़ता है मूरख
मंदिरों, राज प्रासादों में, तहखानों में?
देवता कहीं सड़कों पर गिट्टी तोड़ रहे,
देवता मिलेंगे खेतों में, खलिहानों में...
दो राह, समय के रथ का घरघर नाद सुनो
सिंहासन खाली करो कि जनता आती है।

सपर्क - ए डी जी सी, सीविल कोर्ट आजमगढ़,
उत्तर प्रदेश-276001

गद्य कृतियों के बहाने दिनकर का स्मरण

डॉ० ओमप्रकाश सिंह

हिन्दी की राष्ट्रीय काव्यधारा के कवियों में रामधारी सिंह 'दिनकर' सिरमौर हैं। इस कथन से मैं असहमत तो नहीं हूँ, पर आंशिक रूप से ही सहमत हूं। दरअसल, रामधारी सिंह 'दिनकर' के संदर्भ में हमें दो बातें याद रखनी चाहिये- पहली, वे केवल कवि ही नहीं थे। कवि के अलावा वे एक अच्छे गद्यकार भी थे। इसकी चर्चा मैं थोड़ी देर बाद करुंगा। दूसरी, दिनकर को केवल राष्ट्रीय काव्यधारा के कवियों में परिगणित करना उनके कवि व्यक्तित्व के साथ अन्याय है। उनकी कविता में राष्ट्रीयता के अतिरिक्त अन्य अनेक स्वर अनुस्यूत हैं। उचित तो तब होता, जब दिनकर के इन सभी पक्षों पर विस्तार से लिखने का अवसर मिलता, पर...।

हिन्दी साहित्य में गद्यकार दिनकर की चर्चा कम हुई है। यदि हुई भी है तो वह कवि दिनकर के व्यक्तित्व के नीचे दब सी गई है। एक तरह से यह कहा जा सकता है कि उनके कवि व्यक्तित्व के आगे उनके गद्यकार व्यक्तित्व पर चर्चा नहीं हुई है। यह एक विडम्बना है। दिनकर की गद्य रचनाएं संख्या में बीस से ऊपर हैं, किसी भी हालत में उनकी काव्य कृतियों से कम नहीं। ऐसा भी नहीं कि ये गद्य रचनाएं सपाट हैं। इसमें कथ्यगत और विधागत- वैविध्य हैं। एक तरफ तो उन्होंने निबन्ध, यात्रा वृत्तांत, संस्मरण, डायरी आदि लिखा है तो दूसरी तरफ उनकी अनेक समीक्षात्मक कृतियां हैं। 'शुद्ध कविता की खोज', 'काव्य की भूमिका', 'साहित्यमुखी', 'पंत, प्रसाद और मैथिलीशरण गुप्त' उनकी ऐसी समीक्षात्मक पुस्तकें हैं जो अपने काल के किसी भी आलोचनात्मक पुस्तक को टक्कर दे सकती हैं, फिर भी इस पुस्तक की चर्चा कम हुई, ऐसा क्यों हुआ, यह देखा जाना चाहिये।

गद्य लेखन के क्षेत्र में प्रविष्ट होने से पूर्व कवि के रूप में दिनकर पर्याप्त चर्चित हो चुके थे। उनका पहला काव्य संग्रह 'रेणुका' है। इसका प्रकाशन 1935 ई. में हुआ था। इसी काल के ईर्द-गिर्द दिनकर के दो और काव्यग्रंथ प्रकाशित हुए थे- 'हुंकार' और 'रसवंती'। 'हुंकार' का प्रकाशन वर्ष 1938 ई. है और 'रसवंती' का 1939 ई.। इन प्रारंभिक रचनाओं से ही दिनकर कवि रूप में प्रतिष्ठित हो गए। उसके बाद तो उनके अनेक काव्य संग्रह और प्रबंध काव्य आए, जिनसे उनकी कवि कीर्ति में उत्तरोत्तर वृद्धि हुई। 'उर्वशी' (1961 ई) के प्रकाशन से हिन्दी साहित्य जगत में एक हलचल सी हुई। हिन्दी के समर्थ आलोचकों में शायद ही कोई ऐसा हो, जो इस कृति से न टकराया हो। इस कृति के पक्ष-विपक्ष में जितनी चर्चा हुई, कम रचनाओं के संदर्भ में ऐसा हो पाता है। 'उर्वशी' को एक नाटकीय महाकाव्य कहा जाता है। कवि ने स्वयं इसे ''कामाध्यात्म'' की उपाधि प्रदान की है। अपनी काव्य कृतियों के आधार पर 'दिनकर' नि:संदेह आधुनिक कवियों में प्रथम पंक्ति के कवि हैं। उनकी सीमाएं भी हैं, पर उन पर चर्चा होनी चाहिये। चुप्पी साध लेने पर कवि के साथ न्याय नहीं हो सकता।

गद्य- लेखन के क्षेत्र में 'दिनकर' का प्रवेश थोड़ा बाद में हुआ। साहित्यिक जीवन के शुरुआती दौर में उन्होंने कविताएं ही लिखीं। वैसे भी, 'दिनकर' का झुकाव कविता की ओर अधिक रहा। उन्होंने स्वीकार किया है- ''मेरा अपना क्षेत्र तो काव्य है एवं मेरे साहित्यिक जीवन का यश और अपयश मेरे काव्य पर ही निर्भर करता है।'' (संस्कृति के चार अध्याय, लेखक का निवेदन)। इस पंक्ति को पढ़कर ऐसा लगता है कि काव्य सर्जना को 'दिनकर' जितना

महत्वपूर्ण मानते थे, उतना गद्य लेखन को नहीं। पर ऐसा नहीं है। इसकी पुष्टि उक्त उद्धरण के अगले वाक्य से ही हो जाती है- ''किन्तु जिस परिश्रम से मैंने यह पुस्तक लिखी है उस परिश्रम से मैंने कुछ और नहीं लिखा।'' 'दिनकर' की पहली गद्य रचना है 'मिट्टी की ओर'। यह निबंध संग्रह है और इसका प्रकाशन 1947 ई. में हुआ था। ध्यान रहे, 'रेणुका' का प्रकाशन वर्ष 1935 ई. है। अर्थात कवि दिनकर गद्य लेखन के क्षेत्र में कविता लेखन के बारह वर्ष बाद आए। 'मिट्टी की ओर' के प्रकाशन के बाद 'दिनकर' की अनेक गद्य कृतियां प्रकाशित हुईं। 'अर्धनारीश्वर', 'रेती के फूल', 'राष्ट्रभाषा और राष्ट्रीय एकता', 'उजली आग' आदि रचनाओं के नाम इसी कड़ी में जुड़े हुए हैं।

दिनकर ने लगभग 25 वर्षों तक गद्य लेखन किया है, 1947 ई. से लेकर 1973 ई. तक। इस बीच उनकी अनेक गद्य-कृतियां प्रकाशित हुईं। यह जरूर है कि 'शुद्ध कविता की खोज', 'संस्मरण और श्रद्धांजलियाँ', 'पंत, प्रसाद और मैथिलीशरण गुप्त' आदि उनकी ऐसी रचनाएं हैं जिन्होंने पाठकों का विशेष ध्यान आकृष्ट किया है। दिनकर के जिस गद्य कृति की सर्वाधिक चर्चा हुई है, उसका नाम है- 'संस्कृति के चार अध्याय'। यह पुस्तक सन 1956 ई. में प्रकाशित हुई थी और इसकी भूमिका प्रधानमंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू ने लिखी थी। इस पुस्तक की खूब चर्चा हुई और अनेक विवाद उठे। 'संस्कृति के चार अध्याय' दिनकर की सर्वश्रेष्ठ और सर्वाधिक विवादित पुस्तक है। भारतीय संस्कृति पर विपुल मात्रा में लिखा गया है। आज भी लिखा जा रहा है। इसके अनेक मुद्दों पर शुरू में भी विवाद था और आज भी है। दिनकर इस तथ्य से अच्छी तरह परिचित थे, इसीलिये उन्होंने भूमिका में ही कह दिया है- ''यह पुस्तक विद्वानों का उच्छिष्ट चुनकर तैयार की गई है, किन्तु इसे मैंने विद्वानों और विशेषज्ञों के पढ़ने के लिये नहीं लिखा है। असल में, यह उनके काम की चीज है, जो खोजपूर्ण ग्रंथों का सामना नहीं करना चाहते, जो भारतीय संस्कृति को समझना तो चाहते हैं, किन्तु जिनके पास सैकड़ों ग्रंथों के व्यूह में जाने का अवकाश नहीं है तथा जो अनुसंधान और खोज की नीरस भाषा से भी घबराते हैं।'' इतना ही नहीं दिनकर ने यह भी स्वीकार किया है- ''इस पुस्तक की अधिकांश सामग्री अंग्रेजी पुस्तकों से ली गई है, किंतु दुर्भाग्यवश अंग्रेजी में भी कोई पुस्तक ऐसी नहीं है, जिसमें भारतीय संस्कृति के सम्पूर्ण इतिहास की झांकी एक ही जिल्द में उतार दी गई हो और अंग्रेजी में कोई ऐसी पुस्तक होती भी तो उससे उन पाठकों का काम तो नहीं ही चलता, जिनके लिये मैंने यह ग्रंथ लिखा है।'' उनके इन कथनों के बावजूद पुस्तक पर अनेक प्रश्नचिन्ह लगे।

'संस्कृति के चार अध्याय' में भारत की सामासिक संस्कृति की बात विस्तार से हुई है। दिनकर ने अपनी बात आज से लगभग पांच हजार वर्ष पूर्व की उस स्थिति से प्रारंभ की है, जिसमें आर्य और द्रविड़ संस्कृतियों का मिलन हुआ था। वे भारतीय संस्कृति को एक मानते हैं। इसीलिये इसे आर्य संस्कृति और द्रविड़ संस्कृति जैसे नाम दिये जाने का वे विरोध करते हैं। भारतीय संस्कृति का कोई विभाजन दिनकर को स्वीकार नहीं है। बात भी सही है, भारतीय संस्कृति की जड़ें अतीत में इतने नीचे तक फैली हुई हैं कि इस तरह के विभाजन से उसे कमजोर कर पाना मुश्किल है। भारतीय संस्कृति के इतिहास को दिनकर ने चार क्रांतियों में बांटा है। आर्यों का आगमन और आर्य तथा द्रविड़ संस्कृतियों के सामंजस्य को दिनकर ने पहली क्रांति कहा है। बौद्ध और जैन धर्मों के उद्भव को वे दूसरी क्रांति कहते हैं। तीसरी क्रांति के रूप में उन्होंने इस्लाम के आगमन की चर्चा की है। इसी तरह यूरोप से संपर्क और यूरोपीय संस्कृति का भारत पर प्रभाव की घटना को दिनकर ने चौथी क्रांति कहा है। इस पुस्तक पर सर्वाधिक विवाद तीसरी क्रांति के संदर्भ में उठा है। वैसे भी, इस्लाम के आगमन, उसके प्रभाव, प्रभाव स्वरूप पैदा हुई नवीन स्थितियों पर जब भी चर्चा हुई है, विवाद के दायरे में रही है। दिनकर की इस पुस्तक का उद्देश्य मतभेदों को उभारना नहीं है। वे मतभेदों के कारणों का पता लगाना चाहते थे और हम उन्हें विवादों में घेर देते हैं। 'संस्कृति के चार अध्याय' का उद्देश्य भारत की एकता को सुदृढ़ करना है, कमजोर करना नहीं।

भारतीय भाषा केन्द्र
जे. एन. यू., नई दिल्ली-110067

मारीशस : हिन्द महासागर में छोटा हिन्दुस्तान

मारीशस की राह में नैरोबी के शेरों से हिन्दी के वरेण्य साहित्यकार डॉ. रामधारी सिंह दिनकर और डॉ. शिवमंगल सिंह सुमन की मुलाकात के संस्मरण (दीपावली अंक) और इतिहास तथा भूगोल के सन्दर्भ में स्वाधीनता की दिशा में अग्रसर मारीशस के वर्तमान (26 नवम्बर, 67) का विवरण पढ़ने के बाद इस अंक में मारीशस में भारतीय सांस्कृतिक परम्पराओं का चित्रण।

डॉ. रामधारी सिंह 'दिनकर'

मारीशस वह देश है, जिसका कोई भी हिस्सा समुद्र से पन्द्रह मील से ज्यादा दूर नहीं है। मारीशस वह देश है, जहाँ कि राजभाषा अंग्रेजी, मगर संस्कृति की भाषा फ्रेंच है। मारीशस वह देश है, जहाँ के अंग्रेज अपने नौकरों से फ्रेंच में बोलते हैं। मारीशस वह देश है जहाँ की जनसंख्या के 67 प्रतिशत लोग भारतीय खानदान के हैं तथा जहाँ 53 प्रतिशत लोग हिन्दू है। मारीशस वह देश है जहाँ के आर्य समाज की स्थापना सिक्ख सिपाहियों के सहयोग से की गयी थी। मारीशस वह देश है, जिसकी राजधानी पोर्ट लुईस की गलियों के नाम कलकत्ता, मद्रास, हैदराबाद और बम्बई है तथा जिसके एक पूरे मोहल्ले का नाम काशी है। मारीशस वह देश है जहाँ बनारस भी है, गोकुल भी है और ब्रह्म स्थान भी। मारीशस वह देश है, जहाँ माध्यमिक स्कूलों को कालेज कहने का रिवाज है। मारीशस वह देश है जहाँ पुरोहित सरकार से वेतन पाते है। मारीशस वह देश है, जहाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तो हैं, मगर शूद्र कोई नहीं है।

विवेकानन्द का संदेश और मारीशस में हिन्दू समाज

मारीशस में हिन्दू कोई चार लाख हैं। उनमें ब्राह्मणों और क्षत्रियों की सम्मिलित संख्या लगभग चार हजार है। बाकी जो भी लोग हैं, अपने को वैश्य कहते हैं। इस मामले में मारीशस के हिन्दुओं ने जो सुधार किया है वह भारत के हिन्दुओं के लिए भी अनुकरणीय है। अमरीका से लौटने पर स्वामी विवेकानंद ने मद्रास मे कहा था, ''हिन्दुओं, जात-पांत का झगड़ा तुम्हें खा जायेगा। हर जाति के लोग सभा में एकत्र होकर ऐलान कर दो कि तुम ब्राह्मण हो। भारत केवल ब्राह्मणों का देश हो जाये, इसमें बुराई की बात क्या है? लेकिन सच्चा ब्राह्मण बनने को तुम सब लोगों को संस्कृत भी अवश्य पढ़नी चाहिए।'' मारीशस में यह उपदेश शायद नहीं पहुँचा था, मगर वहाँ के हिन्दुओं ने, अपने आप, बहुत दूर तक स्वामी जी के विचारों को कार्य का रूप दे दिया है। संस्कृत सब लोग तो नहीं पढ़ते हैं, किन्तु ब्राह्मण महासभा की ओर से संस्कृत की कुछ थोड़ी पढ़ाई का वहाँ प्रबंध है और भारतीय विद्या-भवन की संस्कृत की परीक्षाएं मारीशस में भी चलती है।

चूंकि मारीशस के हिन्दुओं में से अधिकांश बिहार और उत्तर प्रदेश के लोग हैं, इसलिए हिन्दी का मारीशस में व्यापक प्रचार है। मारीशस की हिन्दी प्रचारिणी सभा जीवित, जाग्रत संस्था है। उसके प्रधान मारीशस के लोकप्रिय जननायक श्री जयनारायण राय और उसके महामंत्री श्री सूरज मंगर भगत हैं। भगत परिवार हिन्दी का अनन्य सेवक है।

शमा-महफिल एक है, यह घर का घर परवाना है। श्री गिरधारी भगत जी इसी परिवार के सदस्य थे, जिन्होंने हिन्दी प्रचारिणी सभा को अपना पचास हजार का सर्वस्व दान कर दिया था। इसी परिवार ने श्री ब्रजेन्द्र मधुकर को जन्म दिया है, जो हिन्दी के अच्छे गीतकार हैं और जिनकी कई पुस्तकें प्रकाश में आ चुकी है। स्वर्गीय श्री लक्ष्मण देवीदीन उर्फ नन्दन ठाकुर एक दूसरे महापुरुष हुए हैं, जो पेशे से हज्जाम थे, किन्तु जिन्होंने अपना सर्वस्व हिन्दी प्रचारिणी सभा को दान कर दिया था। सभा के तत्वाधान में 182 प्राथमिक स्कूल और कोई बारह माध्यमिक स्कूल चलते हैं। सभा की सारी जरूरतें चन्दे से पूरी होती है और चन्दा उगाहने का काम जयनारायण बाबू ने इस जोर से किया है कि मारीशस में हिन्दी के वे 'महाभिक्षु' माने जाते हैं।

मारीशस की राजभाषा अंग्रेजी, किन्तु संस्कृति की भाषा फ्रेंच है। मगर जनता वहां क्रेयोल बोलती है। क्रेयोल का फ्रेंच से वही संबंध है, जो संबंध भोजपुरी का हिन्दी से है और क्रेयोल के बाद मारीशस की दूसरी जनभाषा भोजपुरी को ही मानना पड़ेगा। प्रायः सभी भारतीय भोजपुरी बोलते अथवा उसे समझ लेते हैं। यहां तक कि भारतीयों के पड़ोस में रहने वाले चीनी भी भोजपुरी बखूबी बोल लेते हैं। किन्तु मारीशस की भोजपुरी शाहाबाद या सारन की भोजपुरी नहीं है। उसमें फ्रेंच के इतने संज्ञापद घुस गए हैं कि आपको बार-बार शब्दों के अर्थ पूछने पड़ेंगे।

हिन्दी के सिवा मारीशस में मराठी, तेलुगू, तमिल, उर्दू और गुजराती का भी प्रचार है। मारीशस के मुसलमानों में से अधिकांश गुजरात के हैं। राजनीति की दृष्टि से भारत और पाकिस्तान के द्वन्द्व से उनके भीतर चाहे जो भी दुविधा पैदा होती हो, मगर अपनी मातृभाषा गुजराती के लिए उनके भीतर अच्छा उत्साह है। जैसे भारत में हिन्दी को अन्तरप्रान्तीय भाषा बनाने का आंदोलन अहिन्दी भाषियों ने उठाया, उसी प्रकार मारीशस में भी हिन्दी प्रचारक का अधिक कार्य अहिन्दी भाषियों ने किया है। सन् 1935 ई. के आस-पास मारीशस से तीन हिन्दी साप्ताहिक निकलते थे, जिनमें से एक के सम्पादक श्री नरसिंह दास थे, जिनकी मातृभाषा तेलगु थी, दूसरे के सम्पादक मराठी भाषी पं. आत्मा राम और तीसरे के बंगला भाषी पण्डित काशीनाथ थे। मैं जब मारीशस में था, मित्रों ने मेरा परिचय श्री रमा स्वामी तुलसी से यह कह कर कराया था कि तुलसी जी की मातृभाषा तेलुगू है, लेकिन वे स्कूल में हिन्दी पढ़ाते हैं तथा रेडियो पर तेलुगू का कार्यक्रम संभालते हैं। अभी-अभी यह सुन कर मुझे गम्भीर शोक हुआ कि ऐसे राष्ट्रीय व्यक्ति का अभी हाल में अचानक देहावसान हो गया।

हिन्दी, तमिल, तेलुगू, मराठी और उर्दू की पढ़ाई पर मारीशस के अभारतीय लोग हंसते हैं, किंतु भारतीय खानदान के लोग अपनी भाषाओं को छोड़ने को तैयार नहीं हैं। यह अत्यंत शुभ लक्षण है। खास कर हिन्दी की महिमा सभी भारतीय समझते हैं। हिन्दी और भोजपुरी मारीशस निवासी भारतीयों को एक सूत्र में बांधे हुए है और मारीशस को भारत के साथ बांधने का काम हिन्दी ही कर रही है। मारीशस के वर्तमान मुख्यमंत्री सर शिवसागर राम गुलाम भोजपुरी भाषी हैं। सत्तारूढ़ होने के बाद उन्होंने सरकारी स्तर पर भी भारतीय भाषाओं का प्रवेश प्राथमिक वर्गों में करा दिया है। किन्तु यह अत्यंत आवश्यक प्रतीत होता है कि माध्यमिक स्कूलों में भी हिन्दी का प्रवेश करा दिया जाये। मारीशस में हिन्दू संस्कृति की रक्षा का काम तुलसीदासजी की रामायण ने किया है। यदि माध्यमिक स्कूलों में हिन्दी की पढ़ाई शुरू हो जाये, तो भारतीय संस्कृति का गढ़ मारीशस में अभेद्य हो जायेगा।

हब्सी दासों का विद्रोह और भारतीय मजदूरों का देशान्तरण

मारीशस के हिन्दू और मुसलमान अपने-अपने धर्मों पर कठोरता से आस्था रखने वाले हैं। मारीशस पर जब यूरोप वालों ने अधिकार किया, तब मालिकों के काम अफ्रीका और मदागास्कर से लाये गये हब्सी दास करते थे। जब दास प्रथा का अंत हो गया, हब्सियों में विद्रोह की भावना आ गयी और उन्होंने खेतों में काम करने से इंकार कर दिया। इसी स्थिति को संभालने के लिए भारत से लोग गए।

दिनकर की 'कलम और तलवार' में राष्ट्रीयता

डॉ. मोहम्मद जमील अहमद

हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल के छायावादोत्तर कवियों में रामधारी सिंह दिनकर प्रमुख कवि माने जाते हैं। उनके काव्य में छायावादी तथा राष्ट्रीय-सांस्कृतिक-काव्यधारा का चित्रण मिलता है। कवि ने युग की ज्वलंत समस्याओं का चित्रण करके प्राचीन जीवन-मूल्यों में उनके समाधान खोजने का प्रयत्न किया। शोषण, अन्याय आदि का विरोध करने के लिए क्रांति, विद्रोह आदि का उन्होंने निरन्तर स्वागत किया। राष्ट्रप्रेम उनकी रचनाओं का प्राण तत्व है। दिनकर की भाषा सरल, सहज और व्यावहारिक है।

रामधारी सिंह दिनकर के अनुसार कलम और तलवार का अपना अलग महत्व है। एक शक्ति का द्योतक है तो दूसरा बुद्धि का। उनकी 'कलम और तलवार' कविता में राष्ट्रप्रेम एवं देशभक्ति प्रदर्शित होती है-

''दोनो में से क्या तुम्हें चाहिए, कलम या कि तलवार?
मन में ऊँचे भाव कि तन में शक्ति अजेय, अपार?
अंध कक्ष में बैठे रचोगे, ऊँचे मीठे गान?
तलवार पकड़ जीतोगे बाहर या मैदान?
जला ज्ञान पकड़ जीतोगे बाहर या मैदान?
जला ज्ञान का दीप सिर्फ फैलाओगे उजियाली?
अथवा उठा कृपाण करोगे घर की भी रखवाली?''

कवि कहते हैं कि 'कलम और तलवार' दोनो शक्तिशाली हैं। कलम ज्ञान का प्रतीक है तो तलवार, ताकत या बल का चिह्न है। ज्ञान मन की शक्ति है, ताकत शरीर का गुण है। मानव मन और शरीर का संबंध है। दोनों की अच्छी स्थिति उसके लिए आवश्यक है। ज्ञान एवं शिक्षा से मन में उत्तम भाव निर्मित होते हैं। गुलामी की स्थिति में कोई मधुर गीत नहीं गा सकता। एक बुद्धिमान व्यक्ति विश्व के लोगों को सही मार्ग दिखा सकता है। अपनी रक्षा आदमी का प्रथम कर्तव्य है। यह देह बल से ही संभव है। जो शत्रुओं पर विजय पाता है, जो अपनी स्वतंत्रता को स्थिर रखता है, वही अपनी संस्कृति का विकास कर सकता है।

''कलम देश की बड़ी शक्ति है भाव जगाने वाली।
दिल ही नहीं दिमागों में भी आग उगलने वाली।
पैदा करती कलम विचारों के जलते अंगारे
और प्रज्वलित-प्राण देश क्या कभी मरेगा मारे?
लहू गर्म करने को रक्खो मन में ज्वलित विचार
हिया जीव से बचने को चाहिए किंतु तलवार?''

कवि कहते हैं कि देश की स्वतंत्रता के संदर्भ में कलम की शक्ति महत्वपूर्ण है। लेखक अपनी रचनाओं के द्वारा जनता में देश-भक्ति कर सकता है। उनमें क्रांति और विप्लवात्मक बीज बो सकता है। विद्रोह की प्रेरणा दे सकता है। चैतन्यवान नागरिकों को कोई नहीं हरा सकता। कविगण अपनी रचनाओं के द्वारा लोगों में राष्ट्रीयता एवं देशभक्ति की भावना को हमेशा जीवित रखेंगे।

''एक भेद है और, जहाँ निर्भय होते नर-नारी
कलम उगलती आग, जहाँ अक्षर बनते चिनगारी।
जहाँ मनुष्यों के भीतर हर दम जलते हैं शोले
बाहों में बिजली होती, होते दिमाग में गोले।
जहाँ लोग पालते लहू में हालाहाल की धार
क्या चिन्ता यदि वहाँ हाथ में हुई नहीं तलवार?''

कवि अभिव्यक्त करते हैं कि जहाँ नर-नारी निर्भय होंगे, वहाँ कलम अपनी संपूर्ण शक्ति का प्रदर्शन करेगी। वहाँ अक्षर चिनगारियाँ बनेंगे। लोगों में उत्साह भर जायेगा। वे हर क्षण बलिदान के लिए तत्पर रहेंगे। वहाँ तलवार की कोई जरूरत नहीं होगी, अर्थात् निरंतर सचेतन जनता हर क्षण अपनी स्वाधीनता की रक्षा करेगी।

अत: कवि रामधारी सिंह दिनकर कहते हैं कि तलवार की तुलना में कलम महत्वपूर्ण है। दिनकर ने इस कविता के द्वारा लोगों में देश की भक्ति की भावना जागृत करने का प्रयत्न किया है। यह कविता राष्ट्रीय चेतना से ओत-प्रोत है।

संपर्क सूत्र: प्राध्यापक, 7-7-46, **उजली बेस, हनमकोंडा, जि. वरंगल,** 506011 **(आं. प्र.)**

संस्कृति के चार अध्याय : एक विशलेषण

डॉ. सुनीला सूद

रामधारी सिंह दिनकर की गद्य-पुस्तक 'संस्कृति के चार अध्याय' संस्कृति व दर्शन से सम्बन्धित, इतिहास की सामग्रियों से परिपूर्ण, 'भारतीय संस्कृति का शौकिन शैली में लिखा गया इतिहास है। प्रस्तुत इतिहास वर्णन में सर्जकता, ताजगी, बेधकता, थरथराहट, पुलक व प्रकम्पन है। दिनकर ने अनेक विद्वानों की कृतियों में पैठकर घटनाओं और विचारों के बीच सम्बन्ध बिठाकर आगामी सत्यों का पूर्वाभास दिया है व उनकी खुलकर घोषणा की। यद्यपि ग्रंथ का प्रबल समर्थन व कठिन विरोध हुआ तथापि ग्रंथ ने 'भारतीय एकता के सैनिक' के रूप में कार्य किया है व करता रहेगा। नेहरू की दिनकर से घनिष्ठ मित्रता थी। उक्त पुस्तक के लिए प्रस्तावना नेहरू ने ही सितंबर 1955 में लिखी थी। पुस्तक हमारे मन-मस्तिष्क में उठने वाले कुछ प्रश्नों का समाधान प्रस्तुत करती है। वे प्रश्न हैं- आखिर भारत है क्या? उसका वास्तविक स्वरूप क्या है? किन घटकों व शक्तियों के संश्लेषण से भारत बना। ये शक्तियाँ उन मुख्य प्रवृत्तियों की तुलना में, जिन्होंने विश्व को प्रभावित किया, कैसी रही होंगी। पुस्तक के अंतर्गत बहुत से मानवीय कार्यकलाप भारत की परिधि से बाहर हैं। पुस्तक 636 पृष्ठों की है। इसकी विस्तृत अनुक्रमणिका 637 से 698 पृष्ठों में समाई है। आरंभ से अंत तक दिनकर ने इस बात पर जोर दिया है कि भारतवासियों की संस्कृति की प्रवृत्ति सामासिक रही है व धीरे-धीरे विकसित हुई है। सही अर्थों में पुस्तक भारतीय संस्कृति के चार सोपानों पर दृष्टिपात करती है। ये चार सोपान क्रमशः भारतीय संस्कृति की चार क्रांतियों के वर्णन हैं। तद्नुसार पुस्तक के चार अध्याय हैं।

प्रथम अध्याय : भारतीय जनता की रचना और हिन्दू संस्कृति का आविर्भाव - प्रस्तुत अध्याय में आर्य-द्रविड़ विवाद का वर्णन है। अध्याय भारतीय संस्कृति के विकास का प्रथम कालखंड है जो दिनकर के अनुसार आर्यों के भारत के आगमन से पूर्व का काल है जब भारतीय संस्कृति पनप चुकी थी। प्रथम काल खंड वह भी है जब आर्य भारत में संभवतः मध्य एशिया से आए।

दिनकर की इस मान्यता का आधार है कुछ पश्चिमी विद्वानों का मत 'नीग्रिटो, औष्ट्रिक, द्रविड़ और आर्य, सभी वंशो के लोग भारत में बाहर (अफ्रीका, मध्य एशिया अथवा चीन) से आए इसी मत के आधार पर दिनकर कहते हैं- ''भारत में आदि मानव की उत्पत्ति शिवालिक पर्वत के पास अथवा दक्षिणी भारत में हुई होगी। दिनकर आगे कहते हैं -''बहुत अधिक संभावना है कि द्रविड़ इस देश के मूल निवासी हैं और जिसे हम भारत का सनातन धर्म कहते हैं उसका मूल द्रविड़ों के गहनतम प्राचीन इतिहास में है। जब आर्य आए, उन्होंने यहाँ की संस्कृति में अपने उद्दाम आशावाद का पुट डाला किन्तु उपनिषदों के आते-आते आर्य स्वयं ही इस देश की सनातन परंपरा में डूब गए और उनके प्रवृत्तिमार्गी विचारों पर भारत की सनातन निवृत्तिवादी भावना का पूरा रंग चढ़ गया। आर्यों का भारतीय संस्कृति पर बहुत अधिक प्रभाव रहा है। दिनकर आगे कहते हैं कि आर्येतर जातियाँ भारत में पहले से ही थीं व आर्य बाद में आए। आर्य व आर्येतर जातियों से मिलकर जिस समाज की रचना हुई

वही आर्यों (हिन्दुओं) का बुनियादी समाज बना। आर्य व आर्येतर संस्कृतियों विशेषकर द्रविड़ व उसके पश्चात् मोहनजोदारो के मिलने से जो संस्कृति उत्पन्न हुई वही इस देश की आधारभूत संस्कृति बनी। दिनकर ने इन दोनों संस्कृतियों के मिलन की व्यापक चर्चा की है। दिनकर आर्यों को भारत के मूल निवासी नहीं मानते हैं। यहाँ इस विषय पर संक्षिप्त चर्चा अनिवार्य सी लग रही है- आर्य भारत के मूल निवासी थे अथवा बाहर से आए, विवादास्पद विषय है। डॉ. संपूर्णानंद की पुस्तक 'आर्यों का आदि देश' का एक उद्धरण - आर्य सप्त सिन्धु प्रदेश के निवासी थे - सात नदियों का यह प्रदेश उत्तर में सिन्धु नदी, बीच में पंजाब की पाँच नदियों (राबी, चिनाब, झेलम, सतलुज, व्यास) व उससे नीचे सरस्वती नदी से बनता है। डॉ. संपूर्णानंद आर्यों के बाहर से आने की बात को पश्चिमी इतिहासकारों की साजिश व कुछ भारतीय इतिहासकारों पर पश्चिमी इतिहासकारों के प्रभाव का परिणाम मानते हैं।

दिनकर आगे कहते हैं कि सभ्यता यदि संस्कृति का भौतिक पक्ष है तो इस पक्ष का आर्यों ने पर्याप्त विकास किया। आर्यों के स्वभाव में भावुकता थी, अत: भारतीय साहित्य में भावुकता का पुट आया। वैदिक युग के आर्य मोक्ष के लिए चिंतित न थे। संभवत: यही कारण है कि वेदों की ऋचाएँ सामान्य मनुष्य में आह्लाद पैदा करती हैं। तत्कालीन वर्ण-व्यवस्था में वर्ण-निर्धारण, व्यवसाय व स्वभाव अर्थात् प्रवृत्ति के आधार पर ही थी। कालांतर में वर्ण का आधार जातिगत हो गया क्योंकि शनै: शनै: जातियों का प्राकट्य हुआ।

दिनकर इसी खण्ड में हमारी महान् संस्कृति के ठोस घटकों के निर्माण में आर्य व द्रविड़ संस्कृतियों के मिले-जुले योगदान की बात करते हुए कहते हैं कि इस महान् संस्कृति का प्रतिनिधित्व प्राचीन भाषा संस्कृत द्वारा हुआ। संस्कृत भी शायद मध्य एशिया में जन्मी पर जब यह भारत वर्ष पहुँची तो राष्ट्रीय भाषा बनी। संस्कृत के विकास में उत्तरी या दक्षिणी भारत दोनो का योगदान रहा पर बाद में दक्षिणी भारत का योगदान अधिक रहा। संस्कृत भारतीय विचारधारा को अभिव्यक्त करने का माध्यम तो बनी ही, साथ में भारत की सांस्कृतिक एकता बनाने व बढ़ाने में भी संस्कृत का हाथ रहा। बुद्ध के समय से लेकर आज तक संस्कृत भारतवासियों की बोलचाल की भाषा नहीं बन पाई पर समग्र भारत वर्ष पर इसका प्रभाव पड़ा। हमारी संस्कृति की विशिष्टताएँ - जैसे अहिंसा, सहिष्णुता, वैराग्य भावना द्रविड़ प्रभाव से विकसित हुई।

द्वितीय अध्याय : प्राचीन हिन्दुत्व से विरोध

दिनकर के अनुसार भारतीय इतिहास व संस्कृति का द्वितीय काल-खण्ड वह है जब भारतीय संस्कृति उत्तर-पश्चिम से आने वालों द्वारा प्रभावित हुई। पश्चिम से समुद्री रास्तों से आने वालों का प्रभाव भी हमारी संस्कृति पर लगातार पड़ता रहा। इस प्रकार हमारी संस्कृति का निर्माण धीरे-धीरे हुआ क्योंकि इसमें नये तत्वों को आत्मसात् करने की अद्भुत क्षमता थी। हमारी संस्कृति में जब तक यह गुण रहा तब तक यह सजीव, परिवर्तनशील, जीवंत और गतिशील रही।

द्वितीय काल-खण्ड के अंतर्गत दिनकर महावीर और बुद्ध द्वारा तब तक स्थापित हो चुके वैदिक धर्म के विरोध की बात करते हैं। यहाँ बौद्ध साधना पर शाक्त प्रभाव का भी वर्णन है। वे कहते हैं कि बुद्ध व उससे कुछ पूर्व भारत में सन्यासियों व भिक्षुओं की संख्या बहुत बढ़ चुकी थी। तत्कालीन समाज में भी दो प्रकार के लोग थे - एक यज्ञ के माध्यम से वैदिक धर्म का पालन करने वाले; दूसरे हठ योगी जो ईश्वर के निमित्त अपने शरीर को कष्ट देकर संतोष का अनुभव करते थे। यज्ञों में दी जाने वाली बलि का विरोध भी जैन व बौद्ध दोनो धर्मों ने किया। दोनों ने वेदों की प्रामाणिकता को अस्वीकार किया। सृष्टिकर्ता की सत्ता पर भी अविश्वास प्रकट किया।

दिनकर के अनुसार धर्म और काम को समन्वित

करने में मध्यकालीन साधकों को बहुत कठिनाई हुई। दिनकर के अनुसार बौद्ध मत के उत्थान का सूक्ष्म कारण यह था कि भारत की निवृत्तिवादी भावना वैदिक मत के आशावाद को दबाकर ऊपर आना चाहती थी और अंत तक वह ऊपर आ भी गयी। जैन मत, बौद्ध मत की अपेक्षा कहीं प्राचीन है। बुद्ध ने जो मार्ग अपने लिए चुना वह जैन साधना से ही निकला था, योग व तपस्या की परम्परा भी जैन साधना से ही निकली। यही जैन साधना शैव मार्ग का भी आदि स्रोत है। प्रस्तुत अध्याय में तंत्र साधना का भी संक्षिप्त वर्णन है। बुद्ध का चलाया हुआ आंदोलन क्रांतिकारी हुआ क्योंकि जैन साधना से विपरीत इसका झुकाव सामाजिक परिवर्तनों की ओर था। जैन सम्प्रदाय सदा हिन्दुत्व के भीतर समाया रहा। बौद्ध मत वर्णाश्रम, धर्म और जाति-प्रथा का विरोध करता रहा। इसीलिए भारत में इस्लाम के बाद बहुत से भारतवासी मुसलमान बनाए जा सके।

इसी खंड में दिनकर भारत की भौगोलिक स्थिति का वर्णन करते हैं। वे कहते हैं कि भारत समुद्र व हिमालय से घिरा हुआ होने के कारण बाहरी लोगों का प्रवेश भारत में सुगम न था। फिर भी आर्यों के आगमन से पूर्व तो विदेशियों के कुछ समूह भारत में आते रहे होंगे। आर्यों के भारत में आगमन के पश्चात् विदेशियों के समूह देश में प्रवेश न पा सके पर यही विदेशी एशिया व यूरोप में आते रहे तथा वापिस जाते रहे। इस प्रकार एक जाति दूसरी जाति का स्थान लेती रही। जातियाँ स्थापित व विस्थापित होती रहीं। इस प्रकार एशियाई व यूरोपीय जीवन में बहुत अधिक परिवर्तन आए। परन्तु आर्यों के भारत में आगमन के पश्चात भारत-वासियों के जीवन पर विदेशियों के प्रभाव न के बराबर रहे। सीथियाई व हूण जातियों के कुछ लोग भारत में आने के पश्चात् राजपूतों के किन्हीं विशेष समूहों में जा मिले। वे स्वयं को प्राचीन भारतवासियों के वंशज होने का प्रचार करने लगे।

दिनकर पुनः भारत की भौगोलिक स्थिति का हवाला देते हुए कहते हैं कि विश्व के अन्य देशों से अलग-थलग रहने के कारण हम अन्य देशों से भिन्न बने। हमने कुछ ऐसी परम्पराएँ बना दीं जिन्हें अन्य देश न जानते हैं न समझते हैं। उदाहरणार्थ जाति प्रथा व छुआ-छूत। इन परम्पराओं के कारण ही हम संकीर्ण बन गए। विडम्बना यह है कि एक ओर हम स्वयं को उदार व सहिष्णु होने का दावा करते हैं दूसरी ओर हमारा समाजिक दृष्टिकोण तंग है। आज भी हमारे दोहरे व्यक्तित्व के कारण हम इस विषम स्थिति से छुटकारा पाने के लिए संघर्षरत हैं।

पश्चिमी देशों के लोग जब समुद्री रास्ते से हमारे देश में आए तो हमारे देश में औद्योगिकी सभ्यता का प्रवेश हुआ। इससे हमारे बुद्धिजीवियों ने पश्चिमी बुद्धजीवियों की भाँति सोचना शुरू कर दिया। यह एक ढंग से अच्छा था क्योंकि इससे कम से कम हम आधुनिक जगत् को समझने लगे। इसकी एक बड़ी क्षति यह हुई कि हमारे देश का बुद्धिजीवी वर्ग सामान्य जनता से बिल्कुल कट गया। कारण यह था कि आम जनता को इस नये विचार-प्रवाह की भनक तक न थी। इस प्रकार हमारी परम्परागत सोच का ढाँचा बिल्कुल गड़बड़ा गया। कुछ देशवासी परम्परागत सोच से कुछ इस तरह जुड़े रहे कि उनकी उन्नति, कल्पना व सृजनात्मकता के सब द्वार बंद होते हुए दिखाई देने लगे। यह स्थिति नव परिवेश से किसी भी तरह जुड़ी हुई नहीं थी।

तृतीय अध्याय : हिन्दू संस्कृति और इस्लाम

दिनकर ने तृतीय काल-खण्ड उस अवधि को कहा है जब भारतीय संस्कृति पर बाह्य प्रभाव समाप्त होते गए व वह शिथिल पड़ गई। इसके सभी पक्ष कमजोर हो गए। इस प्रकार दिनकर के अनुसार हम समग्र भारतीय इतिहास में दो पारस्परिक विरोधी व स्पर्धात्मक शक्तियाँ देखते हैं। एक शक्ति बाह्य प्रभावों को पचाकर सामंजस्य पैदा करने का प्रयत्न करती है। दूसरी शक्ति अलगाव व विघटन को प्रोत्साहन देती है। अब दिनकर इस्लाम के भारत में आगमन की चर्चा करते हैं- भारत में इस्लाम का आगमन 1000 से अधिक वर्ष पूर्व हुआ। दिनकर का यह वृतांत भ्रांतियों व

विशेष अवधारणाओं से भरा हुआ है। यहाँ दिनकर ने ऐसी राह के बारे में प्रश्न उठाया है जिस पर चलकर हिन्दू-मुसलमान दोनों एक दूसरे के निकट आ सकते हैं। दिनकर ऐसी राह को ढूँढ़ निकालना भी चाहते हैं। जब हम यह कहते हैं कि हमारे पूर्वज महान् थे व हमने भद्र विचारधारा ही अपनाई है तो इसमें हमारे वास्तविक व्यवहार से विरोधाभास स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। हमें अपने जीवन से यह विरोधाभास समाप्त करना होगा। अगर हम ऐसा न कर पाए तो हमारी हार समग्र राष्ट्र की हार होगी। न केवल यही, अपने वे सब गुण खो बैठेंगे जिन पर हमें आज तक गर्व रहा है। जैसे हम आज देश की मुख्य राजनैतिक व आर्थिक समस्याओं से जूझ रहे हैं, हमे वैसे ही अपने इस विरोधाभास से भी जूझना होगा। हमें अपने सामाजिक ढाँचे में परिवर्तन लाना होगा। अगर हम ये परिवर्तन नहीं लाएँगे तो हमारे ऊपर पड़ने वाले दबाव को हम सह नहीं पाएँगे व अंततः उसके शिकार बन जाएँगे।

ईसा से 1000 वर्ष पूर्व भारत का जो चित्र विश्व की दृष्टि में उभरा था, आज वह चित्र अत्यंत विकृत हो चुका है। उन दिनों भारतवासी प्रसन्नचित थे, साहसी थे, उनमें जीवन का भरपूर संचार था अपने जीवन दर्शन सम्बन्धी संदेश वे दूर-दूर तक फैलाया करते थे। विचारों के क्षेत्र में वे अतुलनीय थे। उनकी भाषा ओजस्विनी थी। उनकी कलाओं में सृजनात्मक निपुणता थी। भारतीय जीवन व समाज में गतिशीलता थी। समूचे भारतवर्ष में सांस्कृतिक चेतना शीर्षस्थ थी दक्षिणी भारतवासी दक्षिण-पूर्व एशिया की ओर गए व वहाँ अपना उपनिवेश बनाया। दक्षिण भारत से ही बुद्ध की शिक्षाएँ चीन तक फैलीं। इस प्रकार उत्तरी व दक्षिणी भारत एक दूसरे के पूरक रहे।

इसके पश्चात देश का पतन हुआ। भाषा में बनावटीपन व कलाओं में शृंगार का बृहद पुट इस पतन के उदाहरण हैं। नये विचारों का प्रवेश बंद सा हो गया, सृजनात्मकता का ह्रास हुआ। शारीरिक व भावनात्मक बल का भी अभाव दृष्टिगोचर होने लगा। जाति प्रथा जोर पकड़े रही।

हम उच्च आदर्शों की बात करते हैं पर हमारी कथनी व करनी में बहुत अंतर है। हम शांति, अहिंसा व सहिष्णुता जैसे सुन्दर शब्दों का प्रयोग करते हैं पर जब कोई हमसे अलग ढंग से कोई सोचता है तो उसके प्रति हम असहिष्णु हो जाते हैं। हम स्वयं को अपने कार्यों के प्रति निर्लिप्त घोषित करते हैं पर हमारे कार्य बहुत तुच्छ स्तर पर संचालित हो रहे हैं। अनुशासनहीनता हमें अत्यंत अधम बना रही है।

दिनकर की मान्यता है कि जो इस्लाम गजनवी और गोरी के साथ भारत पहुँचा वह इस्लाम, वह नहीं था जिसका वर्णन हजरत मुहम्मद और उनके प्रथम चार शिष्यों ने किया था। दिनकर भारतीय संस्कृति पर इस्लाम के प्रभाव का लेखा-जोखा भी यहाँ प्रस्तुत करते हैं। इस चर्चा के लिए दिनकर ने पुस्तक के लगभग 200 पृष्ठ समर्पित किए हैं। डॉ. ताराचंद और प्रो. हुमायूँ कबीर द्वारा हिंदुत्व पर इस्लाम के प्रभाव के वर्णन से असहमत होते हुए दिनकर कहते हैं, ''हिंदुत्व पर इस्लाम का यत्किञ्चित प्रभाव कबीर के बाद से पड़ने लगा लेकिन हिन्दुत्व पर इस्लाम ने जो प्रभाव डाला उससे अधिक प्रभाव उसने हिन्दुत्व से स्वयं ग्रहण किया।'' पठानों के समय एक ओर जहाँ हिन्दुओं के दलन के उदाहरण मिलते हैं वहाँ दूसरी ओर हम यह भी देखते हैं कि मुस्लिम कवि और लेखक भारतीय भाषाओं में अपना साहित्य तैयार करते रहे हैं। औरंगजेब का दूसरा नाम नवरंग बिहारी भी था। हिन्दू-मुस्लिम एकता को सबसे अधिक शक्ति सम्राट अकबर से प्राप्त हुई। भारत में यूरोप के आगमन से हिन्दू-मुसलमानों में बहुत भेद पैदा हुए।

चौथा अध्याय : भारतीय संस्कृति और यूरोप

दिनकर के अनुसार चौथा कालखंड भारतीय इतिहास का आधुनिक काल है जिसमें हम विघटनकारी शक्तियों को एक तरफ व देश को जोड़ने वाली शक्तियों को

दूसरी तरफ कार्यरत पाते हैं। देश को जोड़ने वाली शक्तियाँ देश में राजनैतिक व सांस्कृतिक एकता पैदा करने के लिए प्रयत्नशील रहती हैं। विघटनकारी शक्तियाँ देशवासियों के मन में एक दूसरे के प्रति कड़वाहट व घृणा पैदा करने का दूषित कार्य करती हैं। इस प्रकार जिस समस्या से हम आज जूझ रहे हैं वह हमारे समग्र जीवन से सम्बन्धित है। हमारा भाविष्य इस बात पर निर्भर करता है कि हम इसका हल कितनी समझदारी से निकाल सकते हैं। ऐसी समस्याओं का समाधान विचारक ही निकाल सकते हैं पर वर्तमान स्थिति में विचारकों को भी कोई समाधान सुझ नहीं रहा है।

प्रस्तुत चौथे काल-खण्ड में देश की संस्कृति पर यूरोप के प्रभाव का व देश का यूरोपीय देशों से सम्बन्ध का वर्णन है। सबसे पहले पुर्तगाली, फिर डच, फिर फ्रांसीसी व अंत में अंग्रेज इस देश में आए। अंग्रेजों के उपनिवेशवाद से भारत पर उनका प्रभुत्व हुआ। इग्लैंड के कारण भारत में शिक्षा के प्रचार-प्रसार का भी वर्णन है। देश में अंग्रेजी राज्य के कारण भारतवासियों में आत्म-चेतना उत्पन्न हुई व पुनर्जागृति आई। पर दिनकर की यह भी मान्यता है कि भारत के बँटवारे के बीज मुगल काल में ही शेख अहमद सरहिंदी ने बो दिए थे। कंपनी सरकार की देश को बाँटने वाली भाषा-नीति का भी वर्णन है। इस विश्लेषण विवेचन के साथ 'भारतीय संस्कृति के मुख्य गुण' व 'संस्कृति के सामाजिक स्वरूप' का वर्णन है। 'संस्कृति का सामाजिक स्वरूप' समझने के लिए यह चर्चा पाठकों के लिए अत्यंत सहायक है। भारत की हमारी कोई भी विचारधारा नहीं है - न अपनी पुरानी वाली, न उनकी नई वाली। अब हमने स्वयं को एक नदी के हवाले कर दिया है- जिस दिशा में हमें बहा कर ले जाए। भारत की नई पीढ़ी के पास उनके कार्य अथवा विचार को नियंत्रित करने के लिए कोई भी मानदंड नहीं है। यह भयानक व खतरनाक स्थिति है जिस पर अगर नियंत्रण न पाया गया तो यह भयानक परिणाम लाएगी। हम आर्थिक, राजनैतिक व सामाजिक क्षेत्रों में परिवर्तन की दिशा में जा रहे हैं। सम्भवत: यह इस दिशा में परिवर्तन का ही महत्वपूर्ण परिणाम है। पर आणविक युग में किसी भी देश को सुधार के लिए अधिक अवसर नहीं मिलेंगे। अगर हम एक भी अवसर पर चूक गए तो हमारा सर्वनाश हो सकता है।

विश्व में कई बड़ी-बड़ी शक्तियाँ कार्यरत हैं। अगर हम उन सबको न भी समझ पाएँ तो हमें कम से कम इतना तो अवश्य समझ लेना चाहिए कि भारत देश के वाङ्मय का विकास कैसे हुआ। दूसरा उसकी अभूतपूर्व एकता किन तत्वों में है। भारत में रसने-बसने वाली कोई भी जाति समूचे भारत से भिन्न विचारधारा का दावा कर सकती है। देश के प्रत्येक वर्ग ने देश-निर्माण में योगदान दिया है। अगर हम यह न समझ पाए तो तब हमारी भावनाएँ विचार व चेष्टाएँ सभी निरर्थक होंगी। इस स्थिति में हम देश की वास्तविक सेवा नहीं कर पाएँगे।

इसी अध्याय के अंत में दिनकर लिखते हैं - ज्ञान की भाषा के रूप में अंग्रेजी इस देश में हमेशा रखी जा सकती है किन्तु शिक्षा और शासन के माध्यम पद पर से उसे हटाये बिना हम अपने आध्यात्मिक व्यक्तित्व का विकास नहीं कर सकेंगे।

दिनकर की मान्यताओं से बहुत से पाठक सहमत न भी हों तो हमें यह अवश्य मानना पड़ेगा कि पाठकों में भारतीय संस्कृति की समझ पैदा करने के लिए प्रस्तुत कृति एक प्रशंसनीय प्रयास है।

पुस्तक के अंत में संदेश रूप में दिनकर- ''देश में गरीबी पर लगाम लगते ही इस देश में एक विचारधारा प्रकट होने वाली है जो यह बताएगी कि मनुष्य का कल्याण इसमें नहीं है कि आवश्यकताएँ अनन्त हों बल्कि इसमें कि उसकी ज़रूरतें थोड़ी हों; जरूरत की चीजें मनुष्य को तुरंत चाहिए। लेकिन बनावटी और फालतू जरूरत या जरूरत से फाजिल चीजें उसे एकदम नहीं चाहिए। जो जरूरतें टाली जा सकती हैं उन्हें टाल देना ही श्रेष्ठ है बनिस्पत इसके कि उन नकली जरूरतों को पूरा करने के लिए हम विज्ञान की खुशामद करें अथवा उसकी दासता स्वीकार कर लें।''

पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी के प्रति

पो. ऑ. दलसिंग सराय

31-5-35

पूज्यवर,

प्रणाम!

प्रायः साल भर से मैं आपसे दूर रह रहा हूँ। क्षमा करें। विशाल भारत भी मुझे नहीं मिल रहा है। एक दो बार 'योगी' आफिस ने भेज दिया। शायद आप मेरा निश्चित पता न जानने के कारण ही विशाल भारत के अंक ब्धव्ण योगी से भेजते हैं। मैं इन दिनों Probationary Sub-Registrar हूँ, शायद आप जानते होंगे। अभी डेढ़ वर्ष तक कहीं जम कर रहना मुश्किल है। अतएव मेरा पता सिमरिया, पो. ऑ. सिमरियाघाट, जिला मुँगेर ही ठीक है। उसी पते पर विशाल भारत भेजा जाय तो मैं जहाँ रहूँगा वहीं वह रिडायरेक्ट होकर मुझे मिल जायेगा।

अव्यवस्थित रहने के कारण ही साहित्य-सेवा का कार्य भी शिथिल हो रहा है। आशा है साल भर के अन्दर-अन्दर मैं शान्ति का अनुभव करने लगूँगा। सब रजिस्ट्रारों को समय बहुत रहता है और मानसिक परिश्रम भी बहुत कम करना पड़ता है। अगर सरकार की ओर से कोई अड़चन न आई तो मैं अधिक मनोयोग से साहित्य-सेवा कर सकूँगा ऐसी आशा है। और, काम चूँकि कम है इसलिए वेतन भी कम ही मिलता है। यही एक अभाव है। अन्यथा और कोई कठिनाई नहीं दीख पड़ती। आपसे मिलने पर अपनी परिस्थिति समझाने की चेष्टा करूँगा।

इधर बिहारी साहित्यिकों में मुझे ''कस्मै देवाय'' का समर्थक कह कह कर individually और छिपे-छिपे लांछन लगाया गया है कि मैं तकाजे की चीज लिख सकता हूँ। यह एक और असत्य है। Points of agreements अधिक रहने के कारण मैंने आपके प्रस्ताव का समर्थन किया था और उसी अवस्था में फकत अपनी भावनाएँ पद्य-बद्ध कर दी थीं। और मुझे तो आप से इस बात पर प्रसन्नता है कि इस साल ही के अन्दर आपने कविता की फरमाइश भी नहीं की। विश्वास रखें अच्छी चीज लिखने पर विशाल भारत की सेवा अवश्य करूँगा। मैं जानता हूँ कि विशाल भारत ने मुझे क्या दिया है।

यहाँ से मैं प्रायः जून के अंत तक रिलीव्ड होता हूँ। उस अवसर पर शायद मुझे एक सप्ताह की छुट्टी मिलेगी। उसमें मैं स्वनामधन्य द्विवेदी जी के चरण छूने को दौलतपुर जाना चाहता हूँ। अगर आप मुझे उनकी सेवा में अर्पण करने को साथ चलें तो बड़ी अच्छी बात हो। लेकिन आगे आप को समय न हो तो एक पत्र लिख कर ही मुझे गाइड कर दीजिए। अगर द्विवेदी जी से आप पहले ही पूछ लें तो और अच्छा।

ब्रजशंकर जी से मेरा नमस्कार कह देंगे।

अभी-अभी योगी में डाक्टर चतुष्पाद और दरख्ते इलाही की मुहब्बत की चासनी चख कर उठा हूँ। वर्मा जी को प्रणाम।

आपका बहुत-बहुत कृतज्ञ

रामधारी सिंह दिनकर

पो. ऑ. मीरगंज
छपरा
7-7-35

पूज्य चतुर्वेदी जी,

प्रणाम!

आपका पत्र यथा समय मिल गया था। मैं दलसिंग सराय से समय से पहले फुर्सत पा गया अतएव कानपुर जाने का प्रोग्राम ज्यों का त्यों रह गया। अब पूजा की छुट्टियों में जाऊँगा।

मैं यहाँ 4 तारीख से काम कर रहा हूँ। 13 को दिनभर रहूँगा। फिर यहाँ से रिलीव्ड होकर मुँगेर जाऊँगा। अगर उत्तर की आवश्यकता समझें तो सिमरियाघाट (पो.ऑ.) जिला मुँगेर के पते से उत्तर दें। अगर आप 11 तक उत्तर भेज सकें तो यहीं भेजें। मुझे 13 तक चिठ्ठी मिल जायेगी। यह पता मेरा निश्चित पता है। मैं पहले भी लिख चुका हूँ। मैं कहीं रहूँगा डाक मुझे रिडायरेक्ट होकर मिल जायेगी।

विशाल भारत यहीं मिला। चाय-चक्रम का सिलसिला बड़ा सुन्दर चल रहा है। मैं उस स्तम्भ को बड़ी दिलचस्पी से पढ़ता हूँ।

इधर मेरे मन में यह विचार उठ रहा है जिस प्रकार आपने कस्मै देवाय की चर्चा की थी उसी प्रकार कविता और युगधर्म पर भी कुछ लिखा जाय। आज की कविताओं की रंगत देखिये। सोलह आने में चार आना भी तो युग की वाणी होनी चाहिए। कहते हैं एक युग का संदेश लिखने वाला कवि एक देशीय होता है। इसलिए जो कवि Poet of all times बनना चाहता है उसे eternal feeling को अपनी कविता में बाँधना चाहिए। यह किसी अंश में सत्य है किन्तु सर्वांश में नहीं क्योंकि ये भाव भी जिन्हें हम एक देशीय कहते हैं दरअसल सार्वदेशीय हैं। इनकी सत्ता भी सभी युगों में थी और रहेगी। अगर एक देशीय भी माने तो भी सभी कवियों को या कुछ विशेष कवियों को युग के विचारों पर लिखना ही चाहिये। आगे के लोग हमें भूल जायेंगे तो भूल जायं। कम से कम हमारे युग को तो इससे कुछ फायदा होगा। यह एक प्रकार का बलिदान है और शायद कवि के लिए इससे बड़ा बलिदान और कुछ भी नहीं हो सकता। किन्तु, क्या जिस युग में जवाहरलाल अपनी परम रूपवती प्रियतमा का विछोह सह कर अपने व्रत का पालन कर सकते हैं, जिस युग में इतिहास के ज्योति-बीज मिट सकते है, उस युग में कवि अपनी कीर्ति का बलिदान नहीं कर सकते। 'भारत-भारती' के कवि की प्रतिष्ठा 1935 में भले ही न हो पर 1918 में वह राष्ट्रविधायक साबित हुआ और यह पता लगाना कठिन है। Political ideas के विकास में भारत-भारती ने कितनी सहायता की। सम्भव है सौ बरस बाद मैथिलीशरण जी को लोग भूल जायं पर तो भी भारतीय राष्ट्रीयता की नींव को यह सदैव ज्ञान रहेगा कि और चीजों के साथ-साथ उसकी सत्ता भारत -भारती पर भी कायम है। क्या देश सेवा के लिए अपने को भुला देना एक महत् पुण्य-कार्य नहीं है? फिर हमारे कवि युगधर्म की वाणी क्यों नहीं बोलते?

आशा है आप मेरे Points को appreciate करेंगे।

यह एक कविता विशाल भारत के लिए जा रही है जो मेरे लिए accidental है। चूंकि मैं स्वयं ऐसी कविताओं की उपयोगिता में विश्वास नहीं रखता। लेकिन, चूंकि यह devotional mood में लिखी गई है इसलिए इसको कुछ महत्व दिया जा सकता है।

आशा है आप प्रसन्न हैं।

आपका सेवक
रामधारी सिंह 'दिनकर'

सिमरिया

29-7-35

श्रद्धेयवर,

प्रणाम!

आपका पत्र यथा समय मीरगंज में ही मिल गया था। वहाँ से आकर जल्दी में अपनी पुस्तक छपाने के लिए लहेरिया सराय गया। वहाँ से आकर हैजे में पड़ गया। अब अच्छा हूँ।

सुना है मेरा फोटो आपको मिल गया। कविताएँ संग्रह-रूप में शीघ्र सप्ताह के अन्दर मिलेंगी। मैंने एक सप्ताह के अन्दर संग्रह छपा लिया है। प्रकाशक है पुस्तक भंडार। पुस्तक शिवपूजन जी की देख-रेख में छपी है इसलिए शुद्ध अवश्य होगी। मेरी अपनी भूलें कहीं-कहीं रह गई है। उसकी 11 प्रतियाँ देव-पुरस्कार के लिए भेजी गई हैं। पुस्तक अभी unfinished है, केवल कविताएँ ही छपी हैं। भूमिका के लिए एक कॉपी माखनलाल जी की सेवा में भेजी गई है। वह भूमिका लिख देंगे ऐसा मैंने सुना है। आप कृपा करके इस पत्र के पढ़ लेने के बाद ही एक चिठ्ठी माखनलाल जी को लिख दें कि पुस्तक उन्हीं की प्रतीक्षा में प्रकाशित नहीं की जा रही है। वह पढ़ने के योग्य एक सच्ची भूमिका लिख दें। समय बहुत थोड़ा है अतएव आप मेरी ओर से उनसे एक earnest request करें।

पुस्तक का नाम मैंने 'रेणुका' रखा है। यह नाम माखनलालजी को भी पसंद है। हालांकि उन्होंने 'विमानिका' नाम को अधिक पसंद किया था। एक महीने के भीतर पुस्तक तीन तिरंगा चित्र और हर कविता पर लाइन ब्लाक के साथ प्रकाशित होगी। मैं इसी चेष्टा में हूँ। तैयारी हो रही है।

रही बात प्रचार की। सो मैं आप पर बहुत निर्भर करता हूँ। कहते हैं, बिहार के ब्राह्मण लोग मेरी कविताएँ नहीं पढ़ते हैं। अब कविताएँ पुस्तकाकार निकल रही हैं। तब भी तो कुछ हो। मैं जानता हूँ कि पं. श्रीरामजी के 'शिकार' की प्रसिद्धि का कारण उसकी समालोचना का विशाल भारत जैसे दिग्गज पत्र के मुख-पृष्ठ पर छपना भी है। मैं जानता हूँ 'रेणुका' शिकार जैसी प्रतिष्ठा नहीं पा सकती और मुझमें भी श्री राम जी जैसी शक्ति और महत्ता नहीं है। फिर भी आप 'रेणुका' के बेड़े को खींच दें। जहाँ तक संभव हो। पुस्तक की कॉपिया कहाँ-कहाँ भेजी जाँय, यह लौटती डाक से लिखने की कृपा करेंगे। कौन-कौन पत्र उसके प्रचार में योग दे सकेंगे। मैं आपके प्रभाव का उचित लाभ उठाना चाहता हूँ और कोई बात नहीं है। द्विवेदी जी से भी सम्मति मँगा दें तो बड़ी कृपा हो।

मेरे उस पत्र को नोट में उद्धृत करने का आपको पूरा अधिकार है।

मैंने द्वादश-बिहार प्रांतीय कवि सम्मेलन के सभापति के पद से जो भाषण दिया है उसकी एक प्रति सेवा में भेज रहा हूँ। आशा है आप उसे पढ़कर कविता-संबंधी मेरे विचारों को भली-भाँति जान सकेंगे।

इस महीने का विशाल भारत मिल गया है।

मेरी बदली मुजफ्फरपुर जिला में हो गई है। 31 तारीख से मैं वेलसन्द में रहूँगा।

पत्र-व्यवहार वहीं के पते से करने की कृपा करें। आपसे मैं बहुत जल्दी-जल्दी पत्र-व्यवहार करना चाहता हूँ अतएव पत्र शीघ्र भेजेंगे।

आपका

रामधारी सिंह 'दिनकर'

बेलसराय, मुजफ्फरपुर
26-9-35

प्रिय पण्डित जी,

प्रणाम,

सजल गुलाब की तरल पटने की मधुर स्मृति अभी बिलकुल ताजा है। दु:ख इतना ही है कि आपकी दुर्लभ संगति का आनन्द दो तक नहीं उठा सका। इस एक वर्ष की अवधि में सरकारी नौकरी या गुलामी की वेदना इस तीव्रता से कभी नही चुभी थी। यही चाहता हूँ कि कब मौका मिले कि आपकी सेवा में फिर से उपस्थित होऊँ और आपके सहज विनम्र और विनोदी स्वभाव का आनन्द उठाऊँ, लेकिन, यह दुनिया है कि सबको अपनी किस्मत पर रोने को लाचार करती है। Man was born free but is everywhere in chain आशा है अभी मैं आपको याद हूँ।

आज्ञानुसार एक कविता जा रही है। मेरी कचहरी 30 होकर बन्द हो जाती है। पहली को मैं घर के लिए रवाना होता हूँ। अगर इस पत्र का उत्तर देना हो तो घर के पते पर देंगे। सिमररियाघाट पो. ऑ. जिला मुँगेर। मैं फिर लौट कर 13 से यहीं रहूँगा।

दादा (माखनलाल जी से) परिचय भी न हो सका। दो घण्टे भी उनके श्रीमुख से साहित्यवार्ता का सुधा-पान दुर्लभ रहा। एक बात मैंने देखी। दादा कवि भी हैं और कवि का विषय भी। गायक भी और गेय भी। आप उनके संग्रह का नाम क्या रख रहे हैं? और श्रीयुत गोविल? ऐसा विनम्र मनुष्य शायद ही मिले। उनका पता क्या है? मैं उनसे पत्र-व्यवहार रखना चाहता हूँ।

इतना सब होते हुए भी मैं यही सोच कर प्रसन्न हूँ कि बाढ़ की भयंकरता से भयभीत होकर अगर मैं पटने जाने से रह जाता तब तो मुझे आत्म-ताप में उन्मुक्त हो जाने के सिवा और कोई चारा न था।

आशा है आप प्रसन्न हैं। वर्मा जी को प्रणाम कह दें।

आपका छोटा भाई
दिनकर

पो. ऑ. बेगूसराय (मुँगेर)
5-11-36

श्रद्धेयवरेषु,

प्रणाम!

मैं 12 नवम्बर तक यहाँ हूँ। फिर मुँगेर जाऊँगा।

सम्मेलन के सभापति बाबू ब्रजनन्दन सहाय चुने गए। स्वीकृति भी दे दी है। शिवपूजन जी ने फिर अस्वीकार कर दिया। कवि सम्मेलन के लिए प्रो. अक्षयवट मिश्र और बटोहिया के कवि रघुवीर बाबू के नाम चुने गए है। यहाँ की स्वागत-समिति ने आपके सजेशन को (योगी वाले लेख को) सभा में रखा था। इसके लिए आपको धन्यवाद। यहाँ वाले बहुत चाहते है कि आप यहाँ सम्मेलन के अवसर पर आवें।

भवानी दयाल जी का फोटो और सम्भव हो तो सकल नारायण जी का फोटो भिजवा दें तो बड़ी कृपा हो। इन दोनों के लिए आपका ही भरोसा है। सुदर्शन जी का आना भी नितान्त आवश्यक है।

विशाल भारत नारी-अंक मेरे पास नहीं आया। क्यों? अब मैं फिर से नियमित रूप से विशाल भारत में लिखा करूँगा।

प्रेमचंद जी के लिए आप क्या कर रहे हैं? विशेषांक निकाल सकेंगे? उत्तर दीजिए।

दिनकर

मुँगेर

5-12-35

श्रद्धेय चतुर्वेदी जी,

प्रणाम!

मैं प्रायः सकुशल पहुँचा। केवल रास्ते में टिकिट इनवैलिड हो जाने से पेनल्टी के 5 रू 7 आने देने पड़े।

मैंने बच्चन की प्रतिभा और अभिव्यक्ति के विषय में बहुत सोचा है।

He seems to be the harbinger of still latter sentiments in our literature.

आप बच्चन पर लिखते हुए सरस्वती में प्रकाशित पगध्वनि कनिका का अंतिम पद अवश्य लिखा करें क्योंकि वह उस कविता की जान है।

मैंने बेनीपुरी जी को भी संवाद भेज दिया है। पूर्णिया सम्मेलन के सभापतियों का चुनाव, जैसे मैंने सुना है, प्रायः खत्म हो चला है। फिर भी मैंने संदेश भेजे हैं।

हाँ, यहाँ मुँगेर में एक परिषद् है। इस बार फरवरी के किसी सप्ताह में उसका वार्षिकोत्सव होने जा रहा है। उसके सभापतित्व के लिए लोगों ने बाबा राहुल से प्रार्थना की है। यह मुझे मालूम नहीं था। अगर बाबा ने अस्वीकार किया तो मैं प्रेमचन्द जी के लिए आखिरी कोशिशें करूँगा। हम लोगों का विचार है कि उस अवसर पर नवीन जी, सुदर्शन जी, जोशी जी, महादेवी या सुभद्रा जी भी जरूर रहें। आपका रहना तो Criminally necessary होगा। मैं आपको spare नहीं कर सकता चाहे वर्मा जी की वैशाखी ही मुझ पर क्यों न पड़े। अतएव आप finally लिखिए कि उत्सव की तिथि कब रखी जाय। आप दो सप्ताह की अवधि देकर लिखें कि 'पहली से 14 तक या 15 से 28 तक के बीच रखो' जिससे और लोगों की सुविधा का भी विचार किया जा सके। वसन्तोत्सव का रंग जरा यहाँ भी रहना चाहिए। मेरा जिला यही न है!

प्रेमचन्द जी, जोशी जी तथा सुदर्शन जी के लाने का कुछ भार आप पर भी रहेगा। हम लोग व्यय का प्रबंध करेंगे। आप ऐसा करें कि वे सब जरूर आवें।

कलकत्ते से लौटकर मैंने एक नई दृष्टि से यहाँ की परिस्थिति का अध्ययन शुरू किया है। मुझे ऐसा लगता है कि मेरे प्रांत में प्रान्तीयता है ही नहीं। हम लोग बुद्धू ठीक हैं लेकिन जैसा कि मनोरंजन जी ने कहा था यह बुद्धू शब्द बुद्ध से निकला है। बिहारियों के हृदय में सारे भारतवर्ष के लिए आदर है। मैं समझता हूँ प्रेमचन्द जी, पंतजी, भगवतीचरण जी, चतुरसेन जी, मिलिन्द जी आदि सज्जनों के नाम जिस आदर से बिहार में लिए जाते हैं वैसा और प्रांतो में शायद ही हो। यू.पी. के अनेक साहित्यिक इस बात को जानते हैं कि जब-जब यहाँ (बिहार में) कोई उत्सव होने लगा है लोग उनके पास काशी, प्रयाग, कानपुर और लखनऊ तक दौड़े हैं। वे नहीं आये यह उनकी शोभा है। यह चेष्टा घृणा नहीं बल्कि महान आदर का द्योतक है। आज जो कुछ हो रहा है वह accidental है और उसका कोई आधार नहीं।

मैं 12 तक यहाँ हूँ। 16 से 23 तक पो. ऑ. शेखपुरा जिला मुँगेर में रहूँगा। बीच के तीन दिन इधर-इधर बीतेंगे। आप कृपया 12 तक पत्रोत्तर यहाँ ही के पते पर दें। 12 के बाद 23 तक पो. ऑ. शेखपुरा, सब-रजिस्ट्रार आफिस के पते पर।

आशा है रेणुका की एक कापी जोशी जी को मिल गई होगी। मैं परसों घर जाऊँगा और वहाँ से कापियाँ लाकर आपकी सेवा में भेजूँगा।

विश्व-वाणी में समालोचना जल्द निकलनी चाहिए।

साथ का पत्र वर्मा जी को दे दें।

धन्य कुमार जी को वन्दे।

आपका

दिनकर

पो.ऑ. लालगंज
मुजफ्फरपुर
6-1-36

श्रद्धेय चतुर्वेदी जी,

प्रणाम!

आपका 5-1-36 का कृपा-पत्र आज संध्या को मिला। इस पत्र ने मुझे बहुत कुछ उत्साह दिया है।

अपने मित्रों में जरा इमोशनल कहलाता हूँ। इसलिए लोग मुझे ऐसी बात कहने या ऐसी चीज दिखाने से डरते हैं जिससे मुझे दु:ख होने की संभावना हो। अभी हाल ही, मैं शिवपूजन जी से मिला था। तब तक साप्ताहिक विश्वमित्र में निर्झरिणी की निन्दा छप चुकी थी। शिवपूजन जी ने मुझे वह लेख देखने नहीं दिया। कहने लगे जब लोग तुम्हारी निन्दा खुलकर करने लगें तब तुम समझो कि तुम्हारी लेखनी सफल हुई। अस्तु।

चौदह करोड़ लोगों के द्वारा बोली जाने वाली हिन्दी का क्षेत्र इतना विस्तृत है कि लोग किसी व्यक्ति विशेष की रचना पर साधाणत: खास तौर से आकृष्ट नहीं हो सकते। इस विशाल समुद्र में किसी इंडिविजुअल की कृति एक तिनके से बड़ी नहीं। फिर इसे तो मैं अपना सौभाग्य ही समझता हूँ कि भाव, कुभाव, अनख, आलसहूँ, 'रेणुका' का नाम दस भले लोगों के मुँह पर आ जाता है।

आप विश्वास रखें, आप पूज्यों की कृपा से मुझमें इतनी ताकत जरूर है कि अखबारों में रोज निकलने वाली पंक्तियाँ मुझे अपने मार्ग से विचलित नहीं कर सकती। कोई प्रशंसा ऐसी नहीं जो मुझे याद रहे, कोई निन्दा ऐसी नहीं जो मुझे उभार दे। नास्ति का परिणाम नास्ति है। कुछ नहीं से कुछ की उत्पति नहीं हो सकती। अगर आज कोई सत्ता है तो वह किसी के मिटाये नहीं मिटेगी। अगर आज किसी पदार्थ का अस्तित्व नहीं है तो वह किसी के पैदा करने से पैदा नहीं हो सकता। कीट्स ने एक बार एक मित्र को लिखा था:

'If all my poem were burnt the next day they were written and no eye shine upon them, yet I would go on writing and writing'.

मैं रेणुका के दोषों को भली-भाँति जानता हूँ। उसमें कलाविदों को पद-पद पर अनुभवहीनता इमैच्युरिटी और कहीं-कहीं भाषा सम्बन्धी कमजोरियाँ मिलेंगी। कीट्स के ही शब्दों में It is a foolish attempt, rather than a deed accomplished.

मैं जो कुछ चाहता हूँ। जो कुछ सोचता हूँ उसे ठीक मनचाहे रूप में अब तक उतार नहीं सका हूँ। इस चेष्टा का एक अस्पष्ट रूप मेरी आँखों के सामने बराबर टँगा रहता है। All the same, no one should be justified in passing a remark of insincerity regarding my feeling. I don't believe in the saying that Renuka contains lines written forcibly. Although at times, my poem have been deprived of the support of my character, I know that they have always come out in spontaneity. More or less, every poem has been a direct enlightenment in my life.

रेणुका को लेकर धूम मचा करे लेकिन, मैं अभी तक निश्चित रूप से यह भी नहीं समझ पाया हूँ कि मेरे political career का श्रीगणेश हो गया। भगवान मुझ पर कृपा करे कि मैं अभी कुछ दिनों तक और भी सरस्वती के चरणोदक से अपनी मुर्खता धोता रहूँ। हिन्दुओं को पुनर्जन्म का भी भरोसा रहता है।

बच्चन को मैं एक पत्र लिख चुका हूँ। उसने भी एक पत्र लिखा है। अब रेगुलर करेस्पोंडेंस शुरू करता हूँ। योगी में अवश्य लिखूँगा। लेकिन, बच्चन अपनी प्याला, बुलबुल आदि कविताएँ भेज दे तो मजमून कुछ अधिक दिलचस्प होगा।

मनोरंजन जी से पत्र-व्यवहार करके मैं अपने को सौभाग्यशाली समझूँगा।

इधर मुझे ऐसा जान पड़ता है कि शुद्ध भाषा लिखने की ट्रेनिंग मुझे और लेनी चाहिए। भरसक कोशिश कर रहा हूँ। कविताएँ शिवपूजन जी से दिखाकर छपाया करूँगा। आप इस विचार को कैसा समझते हैं? मेरे विचार से शिवपूजन जी की जैसी चार्टर्ड हिन्दी लिखने वाला विरला ही होगा।

आशा है आप प्रसन्न हैं।

अगर मैंने छुट्टी नहीं ली तो दो महीनों तक यहाँ रहने की बात है।

आपका

दिनकर

आवश्यक :-

जनवरी के अन्त में मेरे घर में कुछ यज्ञ-प्रयोजन होने वाला है। अतएव मैं भी मुँगेर में रह सकूँगा कि नहीं यह अनिश्चित है। आपके वसन्तोत्सव का क्या हुआ? मुझे तो मार्च के पहले छुट्टी प्रायः मिल ही नहीं सकती। उसके लगभग प्रोग्राम रखें तो मार्च मैं अभी से छुट्टी की कोशिश करूँ।

दिसम्बर का वि. भा. अब तक नहीं मिला है। भारत और अभ्युदय नहीं देखा है। न देखने की इच्छा है। विश्वमित्र वाले दोनों लेख देख चुका हूँ।

''विश्वास'' वाला आपका लेख सुन्दर है। यह विचार कुछ अनन्त की ओर जाने वालों को अप्रासंगिक भले ही लगे लेकिन इसके बिना कवियों का भी उद्धार नहीं है। आज यह राजवाटिका छोड़, चलों कवि वनफूलों की ओर। एमर्सन और क्रोपटकिन को छोड़ कर आप किन्हीं दो तीन अन्य लेखकों और उनकी सुन्दर कृतियों के नाम भेज दें जो आपको पसन्द हों।

आपके जीवन में वसन्त आ रहा है - इस 44वें वर्ष में। भगवान करें यह कभी आपको छोड़े नहीं। आप फाल से डरते हैं? You may have a fall, but a fall on the knee which may end in prayer.

दिनकर

श्री शंकरदयाल सिंह के प्रति

पटना-16

25-7-72

प्रियवर,

तुम्हारा पत्र मिला। 13 के भोर से ही मुझे दिल्ली रहना है। पोती के लिए वर खोजते-खोजते वर्ष बीत गया। कोई बात ही नहीं करता है। 8 से 11 अगस्त के बीच इसी काम से जमुई जाना है। अगर प्रोग्राम अनुकूल बैठा तो तुम्हारी बात मान लूँगा, नहीं तो क्षमा करना। 11 को पटना तुम मुझे कब पहुँचा सकोगे? 12 के भोर मुझे गाड़ी पकड़नी ही होगी। मेरे स्वास्थ्य का भी ठिकाना नहीं कि कब कैसा रहेगा। मुझे छोड़ ही दो तो उपकार मानूँ।

तुम्हारा

दिनकर

बेतिया
14-5-36

श्रद्धेय चतुर्वेदी जी,

प्रणाम!

लालगंज शर्मा जी के योग्य पत्र लिखते हुए आपने जिस आशंका की चर्चा की थी वह उसी समय सत्य हुई। मैं उसी का वृतान्त लिखने वाला था। मुझे मेरे मालिक (जिलाधीश) ने बुला कर बहुत कुछ कहा सुना। मुझसे जहाँ तक बन पड़ा अपनी सफाई दी।

Our Govt. have got the notion or confirmed report that I am the writer or strong and powerful patriotic poems and that I enjoy popularity all over the country our Govt. views it with concern.

मैंने साफ-साफ कह दिया है कि मैं भारतीय समुद्र, पर्वत, वन, मरुदेश और खण्डहरों पर लिखता हूँ और समझता हूँ कि यह कोई अपराध नहीं है। राष्ट्रीयता और राजभक्ति इंगलैण्ड में साथ-साथ चल सकती है। फिर मैं ऐण्टी गवर्नमेण्ट चीजें भी नहीं लिखता। यह ठीक है कि नौकरी के पूर्व में थौरोली नेशनलिस्ट था और तब भी मैंने सैकड़ों राष्ट्रीय गीत लिखे थे। ऐण्टी गवर्नमेंट प्रोपेगण्डा में उनका उपयोग हुआ कि नहीं यह मैं नहीं कह सकता। मेरे लिए, अपनी भावनाओं का दमन कठिन है। इसके लिए मुझे विवश नहीं किया जाय तो अच्छा। योगी के बारे में तो मुझसे डाइरेक्ट प्रश्न हुए। आखिर इस चेतावनी के साथ रिहाई मिली कि खतरनाक पत्रों और व्यक्तियों के सम्पर्क से बचो। मिलने पर यह मजेदार कहानी विस्तृत रूप से कहूँगा।

कविता तो एक दम लिखी ही नहीं। भतीजी की शादी के अवसर पर कुछ ऐसा कड़वा अनुभव हुआ कि मेरा तो एकदम दिल ही बैठ गया था। मनोरंजन दादा की चिट्ठियों से कुछ सांत्वना मिली है। आजकल वह कहाँ हैं? पटने के पते पर मुझसे उत्तर माँगा था। लेकिन मैं आलस से उत्तर न दे सका। इधर मालूम पड़ता है कि वे पटने में नहीं हैं। अगर जानते हों तो शीघ्र लिखें।

भारतीय आत्मा की छः छः पंक्ति वाली कविताएँ मुझे दस दिनों के भीतर चाहिए। एक वह जिसमें पर्वत की अभिलाषा का वर्णन है और दूसरी वह जिसकी अंतिम पंक्ति है- ''रमण कहूँ या रमणी कह दूँ रमा कहूँ या राम कहूँ।''

विशाल भारत के लिए कोई कविता भेजूँगा शीघ्र। स्थान सुरक्षित रहे।

राजा-रानी कविता के विषय में आपने क्या सोचा है?
मुझे पता नहीं। क्या महिला अंक में देंगे?

आपका
दिनकर

पो. ऑ. बेगूसराय (मुँगेर)
5-11-36

श्रद्धेयवरेषु,

प्रणाम!

मैं 12 नवम्बर तक यहाँ हूँ। फिर मुँगेर जाऊँगा।

सम्मेलन के सभापति बाबू ब्रजनन्दन सहाय चुने गए। स्वीकृति भी दे दी है। शिवपूजन जी ने फिर अस्वीकार कर दिया। कवि सम्मेलन के लिए प्रो. अक्षयवट मिश्र और बटोहिया के कवि रघुवीर बाबू के नाम चुने गए है। यहाँ की स्वागत-समिति ने आपके सजेशन को (योगी वाले लेख को) सभा में रखा था। इसके लिए आपको धन्यवाद। यहाँ वाले बहुत चाहते है कि आप यहाँ सम्मेलन के अवसर पर आवें।

भवानी दयाल जी का फोटो और सम्भव हो तो सकल नारायण जी का फोटो भिजवा दें तो बड़ी कृपा हो। इन दोनों के लिए आपका ही भरोसा है। सुदर्शन जी का आना भी नितान्त आवश्यक है।

विशाल भारत नारी-अंक मेरे पास नहीं आया। क्यों? अब मैं फिर से नियमित रूप से विशाल भारत में लिखा करूँगा।

प्रेमचंद जी के लिए आप क्या कर रहे हैं? विशेषांक निकाल सकेंगे? उत्तर दीजिए।

आपका
दिनकर

बेतिया
20-6-36

श्रद्धेयवर,

प्रणाम!

विशाल भारत सम्पादक-मण्डल के लिए आप के नाम 95 आमों की एक टोकरी पार्सल से भेज रहा हूँ। आज ही पार्सल रवाना हुआ है। कल तक मिलेगा। बिल्टी साथ जाती है। कृपया शीघ्र स्टेशन में तलाश करायेंगे। पार्सल छुड़ा लेने पर मुझे सूचना भेज देंगे। आम मालदह है। जिसे यहाँ डंका कहते है। रेलवे फ्रेट यहीं दे दिया गया है।

एक कष्ट स्वीकार करें। किसी बुक-सेलर के यहाँ से निम्नलिखित पुस्तकों की वी. पी. शीघ्र भिजवा दें।

(1) एमर्सन की वे पुस्तकें जिन्हें आप बहुत पसंद करते हों।

(2) आर्नाल्ड की लाइट आफ एशिया का सस्ता संस्करण।

(3) आप्टे का संस्कृत-कोष।

(4) एक पुस्तक जो आपकी रूचि के अनुसार हो।

सभी का दाम लगभग 15 रु. लगे। रुपये आठ आने की कमी-बेशी हो, मजायश नहीं। बच्चन से भेंट हुई थी। मुजफ्फरपुर आया था।

अब प्राय: स्वस्थ है। उसके विषय की एक चिट्ठी पड़ी हुई है। आप का उत्तर आने पर भेज दूँगा।

नेपाली जी कलकत्ते गए हुए हैं। भेंट हुई होगी।

रसवन्ती नामक मेरी दूसरी पुस्तक की शीर्षक कविता लिखी जा चुकी है। कहिए, भेज दूँ?

ब्रजशंकर जी भी कलकत्ते हैं। मिलें तो मेरा नमस्कार कह देंगे। वर्मा जी और धन्य कुमार जी को मेरा प्रणाम।

आपका
दिनकर

पो. ऑ. सहरसा
जिला (भागलपुर)
8-3-37

पूजनीय चतुर्वेदी जी,

प्रणाम !

ब्रजशंकर जी से भेंट हुई होगी। मैं विशाल भारत से गैरहाजिर रहने के लिए बड़ा लज्जित हूँ। यह कविता रसवन्ती में ओपनिंग होने को थी। किन्तु साहित्यांक में लिखना जरूरी है इसलिए इसे ही भेज रहा हूँ। आशा है पसन्द आएगी। अपनी सम्मति लिखेंगे।

चार महीने के अंदर एक अंक वि. भा. का मिला है। कृपया पत्र बराबर लिखें जिससे मैं साहित्यिक बना रहूँ।

आपने शर्मा जी को पत्र लिखा था उसकी बातें घट रही हैं। The burden of failing is always on my heart that my life is being exploited. I don't know what I shall have to do.

यहाँ मैं 12 मई तक तो जरूर हूँ। उसके बाद भी रह जाऊँ तो कोई अचरज नहीं। पत्र यहीं के पते पर भेजें। वि. भा. भी यहीं आवेगा।

आपके पत्र की प्रतिक्षा में,

आपका विनीत
दिनकर

बेगूसराय
8-12-1936

श्रद्धेय चतुर्वेदी जी,

प्रणाम!

आपका कृपा-कार्ड मिला। हम लोगों के बीच कभी गलतफहमी हो ही नहीं सकती। इतना आप निश्चिन्त समझें। मिलने पर मैं बताऊँगा कि मरण कविता अस्पष्ट सी क्यों लगती है।

विशाल भारत की विज्ञप्तियाँ बाँटने को यहाँ बाबू कपिलदेव नारायण सिंह जी सुहृद हैं ही। अपने आदमी हैं, चिन्ता की कोई बात नहीं। आप नोटिस अवश्य भेज दें और उन्हीं के नाम से। मैंने कह दिया है।

दु:ख है कि मुझे 11 दिसम्बर को बेतिया के पास शिकारपुर ऑफिस का चार्ज लेना है। 15 से यहाँ सभा होगी। दो दिन की छुट्टी है लेकिन शिकारपुर से बेगूसराय 16 घण्टे की यात्रा है। मुझे एक दिन की और भी छुट्टी लेनी पड़ेगी। मैं अभी तक यह नहीं सोचता कि मुझे छुट्टी नहीं मिल सकेगी। सरकार को मेरी जरूरत बेमौके हुई। चाहे जो हो मैं आऊँगा अवश्य।

आप क्यों नहीं आते? अगर आप नहीं आये तो सुदर्शन जी और जोशी जी भी नहीं आ सकेंगे। और तब सम्मेलन एक घराऊ खेल ही रहेगा। सम्मेलन की सफलता आप महापुरुषों के सहयोग पर ही निर्भर है। मैं आपको सांजलि प्रार्थना करता हूँ कि आप अपने निश्चिय को बदलने की कोशिश करें। यों आपके कॉमन सेन्स में मुझे विश्वास है और आप जो कुछ दृढ़ता पूर्वक करेंगे उसे मैं अच्छा ही समझूँगा, लेकिन आप आवें अवश्य।

आपकी ही सेवा में सुदर्शन जी का पत्र भी जा रहा है। उन्हें भिजवा देंगे और पूरी चेष्टा करेंगे कि वे अवश्य आवें। आप, जोशी जी और सुदर्शन जी आ गए तो सम्मेलन सफल रहेगा। कार्य-कर्ताओं का उत्साह विजयी होगा। सभी लोगों को उल्लास होगा।

आशा करता हूँ अपने निश्चिय पर दुबारा विचार करेंगे।

आपका
दिनकर

पो. ऑ. सहरसा
जिला (भागलपुर)
8-3-37

पूजनीय चतुर्वेदी जी,

प्रणाम !

ब्रजशंकर जी से भेंट हुई होगी। मैं विशाल भारत से गैरहाजिर रहने के लिए बड़ा लज्जित हूँ। यह कविता रसवन्ती में ओपनिंग होने को थी। किन्तु साहित्यांक में लिखना जरूरी है इसलिए इसे ही भेज रहा हूँ। आशा है पसन्द आएगी। अपनी सम्मति लिखेंगे।

चार महीने के अंदर एक अंक वि. भा. का मिला है। कृपया पत्र बराबर लिखें जिससे मैं साहित्यिक बना रहूँ।

आपने शर्मा जी को पत्र लिखा था उसकी बातें घट रही हैं। The burden of failing is always on my heart that my life is being exploited. I don't know what I shall have to do.

यहाँ मैं 12 मई तक तो जरूर हूँ। उसके बाद भी रह जाऊँ तो कोई अचरज नहीं। पत्र यहीं के पते पर भेजें। वि. भा. भी यहीं आवेगा।

आपके पत्र की प्रतिक्षा में,

आपका विनीत
दिनकर

पो. ऑ. बेगूसराय (मुँगेर)
5-11-36

श्रद्धेयवरेषु,

प्रणाम!

मैं 12 नवम्बर तक यहाँ हूँ। फिर मुँगेर जाऊँगा।

सम्मेलन के सभापति बाबू ब्रजनन्दन सहाय चुने गए। स्वीकृति भी दे दी है। शिवपूजन जी ने फिर अस्वीकार कर दिया। कवि सम्मेलन के लिए प्रो. अक्षयवट मिश्र और बटोहिया के कवि रघुवीर बाबू के नाम चुने गए है। यहाँ की स्वागत-समिति ने आपके सजेशन को (योगी वाले लेख को) सभा में रखा था। इसके लिए आपको धन्यवाद। यहाँ वाले बहुत चाहते है कि आप यहाँ सम्मेलन के अवसर पर आवें।

भवानी दयाल जी का फोटो और सम्भव हो तो सकल नारायण जी का फोटो भिजवा दें तो बड़ी कृपा हो। इन दोनों के लिए आपका ही भरोसा है। सुदर्शन जी का आना भी नितान्त आवश्यक है।

विशाल भारत नारी-अंक मेरे पास नहीं आया। क्यों? अब मैं फिर से नियमित रूप से विशाल भारत में लिखा करूँगा।

प्रेमचंद जी के लिए आप क्या कर रहे हैं? विशेषांक निकाल सकेंगे? उत्तर दीजिए।

आपका
दिनकर

बेगूसराय
8-12-1936

श्रद्धेय चतुर्वेदी जी,

प्रणाम!

आपका कृपा-कार्ड मिला। हम लोगों के बीच कभी गलतफहमी हो ही नहीं सकती। इतना आप निश्चिन्त समझें। मिलने पर मैं बताऊँगा कि मरण कविता अस्पष्ट सी क्यों लगती है।

विशाल भारत की विज्ञप्तियाँ बाँटने को यहाँ बाबू कपिलदेव नारायण सिंह जी सुहृद हैं ही। अपने आदमी हैं, चिन्ता की कोई बात नहीं। आप नोटिस अवश्य भेज दें और उन्हीं के नाम से। मैंने कह दिया है।

दु:ख है कि मुझे 11 दिसम्बर को बेतिया के पास शिकारपुर ऑफिस का चार्ज लेना है। 15 से यहाँ सभा होगी। दो दिन की छुट्टी है लेकिन शिकारपुर से बेगूसराय 16 घण्टे की यात्रा है। मुझे एक दिन की और भी छुट्टी लेनी पड़ेगी। मैं अभी तक यह नहीं सोचता कि मुझे छुट्टी नहीं मिल सकेगी। सरकार को मेरी जरूरत बेमौके हुई। चाहे जो हो मैं आऊँगा अवश्य।

आप क्यों नहीं आते? अगर आप नहीं आये तो सुदर्शन जी और जोशी जी भी नहीं आ सकेंगे। और तब सम्मेलन एक घराऊ खेल ही रहेगा। सम्मेलन की सफलता आप महापुरुषों के सहयोग पर ही निर्भर है। मैं आपको सांजलि प्रार्थना करता हूँ कि आप अपने निश्चिय को बदलने की कोशिश करें। यों आपके कॉमन सेन्स में मुझे विश्वास है और आप जो कुछ दृढ़ता पूर्वक करेंगे उसे मैं अच्छा ही समझूँगा, लेकिन आप आवें अवश्य।

आपकी ही सेवा में सुदर्शन जी का पत्र भी जा रहा है। उन्हें भिजवा देंगे और पूरी चेष्टा करेंगे कि वे अवश्य आवें। आप, जोशी जी और सुदर्शन जी आ गए तो सम्मेलन सफल रहेगा। कार्य-कर्ताओं का उत्साह विजयी होगा। सभी लोगों को उल्लास होगा।

आशा करता हूँ अपने निश्चिय पर दुबारा विचार करेंगे।

आपका
दिनकर

सहरसा
19-5-37

श्रद्धेय चतुर्वेदी जी,

प्रणाम!

आपकी इस वर्द्धमती उदासीनता का कारण क्या है? जनवरी, एप्रिल और मई का वि. भारत मुझे अब तक मिला नहीं। रसवन्ती कविता किस अंक में गई है, इसका पता नहीं। आप इन दिनों किस अवस्था में हैं, क्या लिख रहे हैं आदि बातें स्पष्ट लिखने की कृपा करें।

इधर मैंने पटने के 'साहित्य' के लिए 'काव्य-समीक्षा का दिशा-निर्देश' नामक एक लेख लिखा है आप जब उसे पढ़ें तो अपनी सम्मति लिखेंगे। द्विज जी ने उसे बहुत पसंद किया है। भारतीय भवन छपरा के अधिवेशन में अध्यक्ष पद से दिया गया मेरा अभिभाषण अप्रकाशित है। कहिए तो प्रकाशन के लिए भेज दूँ। It is a Socio-literary thing of some interest, I think.

आपका
दिनकर

पो. ऑ सहरसा
जिला भागलपुर 1-10-37

मान्यवर चतुर्वेदी जी,

प्रणाम!

आपके पत्र मिलते गए हैं। लज्जित हूँ कि अब तक उत्तर नहीं भेज सका। कारण यह है कि मैं पटने अस्पताल में बीमार था। उसके बाद जब से यहाँ आया हूँ, स्वास्थ्य में कोई उन्नति होती नहीं दीखती। यहाँ की जलवायु दूषित है। फिर कार्याधिक्य भी रहा, और आलस्य तो जैसे मेरे स्वभाव का अंग बन गया है।

छपने वाला भाषण साहित्यिक है और साहित्यांक में जाने के योग्य भी। किन्तु देखता हूँ अब समय नहीं रहा। अगर 15 दिन भी बाकी हों तो लिखें मैं उसे संशोधित करके भेज दूँ।

गीत-अगीत कविता मैंने हाल ही में लिखी है। मुझे तो बहुत पसन्द है। इसीलिए साहित्यांक में भेज रहा हूँ। ब्रजमोहन जी को दिखा कर उनकी सम्मति और अपनी राय लिखेंगे कि आप लोगों को कैसी लगी।

बेनीपुरी से भेंट हुई थी। उससे मालूम हुआ कि आप विशाल भारत छोड़ रहे हैं। सुन कर दु:ख हुआ कि पारिवारिक विपत्ति ने साहित्य से आपको छीन लिया। आपके इस काम से हिन्दी संसार की हानि होगी। किन्तु, आप अपनी स्थिति के खुद जिम्मेदार हैं। मैं तो कहूँगा कि घर भी सँभालिए और पत्र भी।

अज्ञेय जी विशाल भारत ऑफिस में आ गए क्या? उनसे मेरा विनत प्रणाम निवेदन करें और कह दें कि मैं भी उनका एक छोटा सा प्रशंसक हूँ। इधर उनकी कविताएँ बड़े शौक से पढ़ी हैं। काव्य में भी वह एक नए क्षितिज से आ रहे हैं। उनकी 'एकायन' कब तक प्रकाशित होगी?

विशाल भारत की कविता का स्टैण्डर्ड नीचे जा रहा है। क्या कैसी भी कविताएँ जरूर छपनी चाहिए?

मैंने तो उत्तर में देर की किन्तु आपसे उत्तर 7 अक्टूबर के पहले चाहता हूँ।

आपका
दिनकर

पुनश्च:-

मदरी राज कवि सम्मेलन के आयोजक ने मेरे पास मार्ग-व्यय भेज दिया है। मैं पहले राजी हो गया था किन्तु अब स्वास्थ्य के कारण जाना नहीं चाहता हूँ। सम्मेलन 16 अक्टूबर को है। 19 को मुझे ऑफिस में लौट आना चाहिये। यू.पी. से कुछ अकेला जैसा भी लगूँगा अगर बच्चन और भगवती बाबू वहाँ जा रहे हों तब तो जाने में आनन्द आ सकता है। आपकी राय जानना चाहता हूँ लिखें।

पो.ऑ. (पटना)
मिति
6-1-38

मान्यवर,

प्रणाम!

पता चला है कि इन दिनों आप ओरछा में हैं। इसी आशा से पत्र लिख रहा हूँ।

ब्रजमोहन जी का स्वर्गवास बड़ी ही दुखद घटना है। मैं अनुमान कर सकता हूँ कि आपके हृदय पर कैसी गहरी चोट लगी होगी। प्रसाद जी गए, प्रेमचंद गए, रामदास जी गए सबसे बढ़कर मेरे पितृवत्पूज्य जायसवाल जी चले गए, किन्तु ब्रजमोहन जी का जाना सबसे अधिक दारुण जान पड़ा। हो सकता है कि मेरा व्यक्तिगत खिंचाव इसका कारण हो, किन्तु लग मुझे ऐसा ही रहा है। एक जिन्दा दिल साहित्य-शिल्पी चला गया यह तो सभी को मानना ही पड़ेगा। याद कीजिये उन मुठ्ठी भर पसलियों की जिनसे आनन्द और विनोद के फव्वारे चलते रहते थे। वि. भा. में जब कभी उनका लेख छपता था मैं सबसे पहले उसे ही पढ़ता था। कलकत्ते में उनसे जो मुलाकात हुई थी वह भूलने की चीज नहीं है। Since then I was always conscious that it was an attainment to know that invalid frame, the little storehouse of so many noble ideas and ready arts.

संस्मरणों का लेखन बिहार में बदनाम हो गया है। जायसवाल जी के स्वर्गीय होने पर मैं चुप रह गया। किन्तु, ब्रजमोहन जी को अपनी श्रद्धांजलि, अर्पित अवश्य करूँगा। आप कृपा करके उनका एक संक्षिप्त परिचय भेजिए। मैंने जो कुछ देखा वह लिखूँगा ही किन्तु, आप अपने इम्प्रेसन का सार कुछ उदाहरणों के साथ भेजने का कष्ट करें।

मेरी पुस्तक फरवरी में निकल जायेगी। अपना कुशल लिखेंगे।

आपका
दिनकर

पो.ऑ. मधुबनी
जिला दरभंगा
10-12-38

मान्यवर,

प्रणाम!

आपका कृपा-कार्ड (यह भी हिन्दुस्तानी है) कल मिला। बड़ी कृपा। लेकिन धन्य हैं आप? पर साल दो पत्र आपके नाम लिखे। उत्तर नहीं आने पर सोचा शायद आप वि. भारत के साथ ही हम लोगों से भी पल्ला झाड़ भागे हैं। निराश होकर बैठ गया था, तब आपकी साढ़े तीन पंक्तियों वाली चिट्ठी आती है। धन्य-धन्य तुम धन्य विभीसन।

ग्रन्थ की बात। 'हुंकार' छापेखाने में पड़ गया होगा। उसमें हाहाकार, दिल्ली, विपथगा, भविष्य की आहट, वसन्त के नाम पर,परिचय आदि उग्र कविताएँ रहेंगी। 'रसवन्ती' बेचारी का लग्न ही नहीं बैठ रहा है। इधर उसकी वेष-भूषा में काफी उन्नति हुई है। चापल्य-जन्य पुरुषता के दूर हो जाने से अब वह सचमुच यौवन के रस में भीगी हुई रहस्य-मधुरा रसवन्ती हो उठी है। विश्वास है आप जैसे अक्खड़ रसिक उसके 'दृग बान' से विद्ध होकर तड़पे बिना नहीं रहेंगे। योग्य प्रकाशक के अभाव में इतनी देर हो गई। लेकिन अब यह विलम्ब असह्य है। जनवरी के प्रथम सप्ताह तक कहीं न कहीं भेज दूँगा। उम्मीद है कि मार्च के पहले ही आप उसे पा लेंगे।

एक तीसरी पुस्तक 'द्वन्द्व गीत' भी प्रायः तैयार है। धूल के हीरे नाम से मैंने जो पद लिखे थे वे अब सौ के लगभग आ गये हैं। हिन्दी में रूबाइयों की धूम, तीसरे साल तक रही। मैं जरा देर करके आ रहा हूँ। लेकिन इसीलिये शायद दुरुस्त भी। रसवन्ती के साथ वह भी निकल जायेगी। मैं तो इस चेष्टा में हूँ कि शीघ्र पुस्तकें छप जाँय।

इन तीनों पुस्तकों के निकल जाने पर एक अभिनव अध्याय में प्रवेश करूँगा। इधर आपसे बिछुड़ जाने पर कुछ अभाव सा अनुभव कर रहा हूँ।
शायद उस Void को आपका पत्र-व्यवहार भर दे।

अमरनाथ जी की कृपा के लिए उन्हें धन्यवाद।

आशा है उत्तर अवश्य देंगे और लिफाफे में। तीन पैसे का कार्ड और चार के लिफाफे। अब जो कार्ड का प्रयोग करे उसे क्या कहिये?

दिनकर

श्री रामानुज प्रसाद सिंह के प्रति

वारसा
30.11.55

प्रिय भोला,

लंदन से भेजा हुआ पत्र मिला होगा। वारसा हम 24 को आए और तभी से पार्टियों, सम्मेलनों, मुलाकातों आदि में व्यस्त रहे हैं। अन्तर्राष्ट्रीय डेलिगेशन में जाने के लिए स्वास्थ्य मजबूत चाहिए। बड़ा परिश्रम करना पड़ता है।

परसों International evening of poetry नाम से एक अंतर्राष्ट्रीय कवि सम्मेलन हुआ, जिसमें 30 देशों के कोई 44 कवि वर्तमान थे। सूची में मेरा नम्बर 12वाँ था। किन्तु, तुम्हें जान कर खुशी होगी कि कवि सम्मेलन भारत वर्ष के हाथ रहा। अपनी भाषा की कविता तो सब को प्यारी लगती है। जहाँ अनेक भाषाओं का सम्मेलन हो, वहां ध्वनि और अनुवाद से व्यंजित अर्थ ही काम करता है। इस काम में हिन्दी बड़ी ही क्षमता वाली भाषा सिद्ध हुई। परसों ही वारसा यूनिवर्सिटी में मेरा Indian Poetry पर भाषण भी हुआ।

2-12 को हम लंदन जायेंगे और वहाँ 10 तक रहेंगे। फिर हम पेरिस, जेनेवा, रोम आदि होते हुए 22 दिसम्बर तक बम्बई पहुँचना चाहते हैं।

यहाँ का जीवन मुक्त, प्रफुल्लित और उल्लास से युक्त है। राजनीति की बातें कोई नहीं बोलता। कवि, गायक और कलाकार यहाँ की जनता के सर्वश्रेष्ठ सदस्य हैं। वे ही अमीर भी हैं। युवक दल बाँध कर देश और सरकार को मुक्त सहयोग दे रहे हैं और सारा देश जोर से प्रगति कर रहा है। मामूली-से-मामूली कलाकार को जनता इतने आनन्द से उछालती है कि चित्त प्रसन्न हो जाता है। कला की पूजा मैंने यहीं देखी।

तुम्हारा
रामधारी

श्री राजेश्वर सिंह के प्रति

5,सफदरजंग लेन, नई दिल्ली
23-3-71

प्रियवर,

बुढ़ापे की मुसीबत को जानते हो?
उस दर्द को पहचानते हो, जो बुढ़ापे के सीने में उठता है?
बुढ़ापे की मुसीबत बुढ़ापा नहीं, जवानी है।
यह भी एक अबूझ कहानी है कि शरीर बूढ़ा होने पर भी
मन नहीं मरता है।
जिन रंगीनियों में जवानी गुजरी है, बुढ़ापा ऊँघता-ऊँघता भी उन्हें याद करता है।

आपका
रामधारी सिंह दिनकर

श्री सुधाकर पाण्डेय

राजेन्द्र नगर, पटना-16
31-8-72

प्रिय सुधाकर जी,

बिहार के श्री लक्ष्मीनारायण शर्मा 'मुकुर' ने पण्डित किशोरीदास जी वाजपेयी की व्याकरण-संबधी स्थापनाओं की आलोचनाएँ करते हुए हिन्दी व्याकरण पर लगभग दो-सौ पृष्ठों का एक ग्रंथ लिखा है। रूस में एक हिन्दी-विद्वान हैं श्री दीमशित्स। हिन्दी-व्याकरण पर उनके भी कई लेख हिन्दी में छपे थे। श्री लक्ष्मीनारायण शर्मा 'मुकुर' ने श्री दीमशित्स की भी अनेक भ्रांतियों का निवारण किया है। 'मुकुर' जी के लेख मैंने देखे हैं।

मैं चाहता हूँ कि यह ग्रन्थ 'नागरी-प्रचारिणी-सभा' अथवा 'सम्मेलन' द्वारा प्रकाशित कर दिया जाय। आप दोनों संस्थाओं के मंत्री हैं। अतएव आपको लिख देने के बाद मैं निश्चिंत हो गया कि यह ग्रंथ छप जायगा।

मैंने सुझाया है कि 'मुकुर' जी अपने ग्रन्थ का नाम 'हिन्दी-व्याकरण पर नया प्रकाश' रखें।

आपका
रामधारी सिंह दिनकर

डॉ. शेखरचन्द्र जैन

पटना-16
5-1-73

प्रियवर,

आपने ''राष्ट्रीय कवि दिनकर और उनकी काव्यकला'' नाम से मेरे साहित्य के एक पक्ष पर जो थीसिस लिखी है, उसे मैंने देखा है। आपके परिश्रम की मैं प्रशंसा करता हूँ। इस ग्रन्थ के विषय में मुझे इससे अधिक कुछ नहीं कहना चाहिए।

प्राचीन काल में जो शास्त्र बने, उनमें कहा गया था कि जब तक कवि जीवित है, उसके आशय का वर्णन मत करो। किन्तु अब तो शास्त्र की इस आज्ञा का पालन कही नहीं हो रहा है।

फिर भी यही बात सच है कि जब तक कवि जीवित है, तब तक उसकी सही समीक्षा नहीं हो सकती। काल जब कवि के शरीर को मंच पर से नेपथ्य में खींच लेता है, तब जनता के सामने कवि नहीं रहता, केवल उसकी कविता बच जाती है। उस समय कविता की जो समालोचना होती है, कवि का जो मूल्यांकन होता है, वही इतिहास का अंग बनता है।

मैं आशीर्वाद देता हूँ कि आप खूब फूलें-फलें और साहित्य-सेवा के क्षेत्र में डटे रहें।

आपका
रामधारी सिंह दिनकर

डॉ. विवेकी राय के प्रति

आर्यकुमार रोड, पटना-4
1.1.58

प्रिय राय जी,

आज दिल्ली से लौटने पर आपका 20-12-57 का कृपा पत्र मिला। आपकी कृपा है कि इतनी गम्भीरता से मेरी प्रवृत्तियों पर विचार करते रहते हैं।

शासन की छाया मेरे लिए नयी नहीं है। हाँ, मेरे आलोचकों को यह बुरा अवश्य लगा कि मैं संसद का सदस्य क्यों हो गया। मैं स्कूल का शिक्षक था, सब-रजिस्ट्रार था, युद्ध के समय प्रचार अफसर था, कांग्रेसी सरकार का प्रचार अफसर था और सबके बाद में प्रोफेसर। क्या ये सभी पद रचनात्मक प्रतिभा के उपयुक्त थे? और तो और, आपने प्रोफेसरी करते हुए कितने कवियों को अच्छी कविताएँ लिखते देखा है? मगर, जब मैं इन पदों पर था, लोग समझते थे, मैं ठीक जगह पर हूँ। केवल अब उन्हें लगता है कि मैं खतरों के बीच हूँ। ठीक जगह कवि को कहाँ मिलती है? कविता का मेल किसी भी पद से नहीं बैठता और साहस तथा शक्ति हो तो सभी पदों से बैठता है। कम से कम, मेरा तो यही अनुभव है।

नौकरी(और उसके साथ लक्ष-मूल्य पेंशन का मोह) मैंने 1952 में छोड़ी। तब से मेरी पुस्तकें कौन-कौन निकली हैं ? नील कुसुम, संस्कृति के चार अध्याय, नीम के पत्ते, दिल्ली, रेती के फूल, चक्रवाल, उजली आग, देश-विदेश, सीपी और शंख, नये सुभाषित, राष्ट्रभाषा और राष्ट्रीय एकता, वेणुवन और काव्य की भूमिका (प्रेस से निकली नहीं है, महीने भर में आ जायेगी।) उर्वशी काव्य पर काम चल रहा है। पाँच साल में 14 पुस्तकें क्या कम होती हैं? मगर, अब हिन्दी में पढ़ता कौन है? लोग यही देखने में मशगूल हैं कि मिट्टी के पाँव किसके कितने निकलते हैं। और संसद की सदस्यता को एक समय मैंने भी भूषण समझा था। नहीं तो उसके लिये क्लास-1 की नौकरी क्यों छोड़ता ? किन्तु वह शौक भी अब पूरा हो गया। और अब यह भूषण भी किसी भी समय उतर सकता है बिना किसी सोच-विचार के। 'सुमन'-माल जिमि कंठ ते गिरत न जान्यौ नाग।'

आपने 'दिल्ली' कविता में जोश का जो उतार देखा है, वह उतार नहीं, चढ़ाव का दृष्टान्त है। सुबह के समय फूल पर शबनम होती है, मगर, दोपहरी के फूल पर तो शबनम होती नहीं। इतने से भेद को ह्रास समझना ठीक नहीं है। साहित्य में जजमेंट देना परिपक्व बुद्धि का काम है। बल्कि, कविता पर निर्णय देना कविता रचने से भी अधिक बड़ा काम है। आपके सामने मेरे और भी कई परम भावुक मित्र हैं जो 'रसवन्ती' और 'रेणुका' में भावुकता का अभाव देख कर मुझे कोसते रहते हैं। और यह सत्य है कि मैं भावुकता की भूमि से आगे निकल गया हूँ। मैं वापस जाना चाहता भी नहीं। जिसकी 'रसवन्ती', 'रेणुका', 'हुंकार' और 'कुरुक्षेत्र' के आप आशिक रहे हैं, उसके 'नील कुसुम' को भी सहानुभूति से देखिये। अपने पचासवें वर्ष में आकर कोई अविकसित मनुष्य ही भावुकता को अपनी सम्पत्ति मानेगा। यों, 'नील कुसुम' में भी भावुकता से लदी कई कविताएँ हैं जिनके कारण मेरी प्रशंसा नहीं, आलोचना की जानी चाहिए।

गाँव की सेवा से आपका क्या तात्पर्य है, मैं नहीं जानता। गाँव वाले आपको क्या करने के लिए कहते हैं ? मुझसे तो वे बहुत काम लेते हैं और फिर कलह-प्रपंच आदि से बाज भी नहीं आते। गाँव नरक है। अपने गाँव की नारकीयता कम करने में मैं बचपन से लगातार जुटा रहा हूँ। लेकिन, सुधार होता नहीं। मैं ग्राम-सेवा के बारे में आपको कोई राय नहीं दे सकता। हाँ, साहित्य-सेवा कहीं भी रह कर की जा सकती है यदि अपने लिये आप चार-छः घंटे का एकांत निकाल सकें। एकांत नहीं तो साहित्य-सेवा नहीं। एकांत उपलब्ध है तो सारी साधना चल सकती है।

कमलापति जी वाला पत्र आपने कहाँ देखा?

आपका
दिनकर

डॉ. लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु'

मीठापुर, पटना
9-1-46

प्रिय सुधांशु जी!

मुझे आशा है कि मैं 3 फरवरी या 2 फरवरी को भी आपकी सेवा में पूर्णिया पहुँच जाऊँगा। अगर तब तक छुट्टी पर नहीं गया तो पहली को मैं बेगूसराय जाऊँगा। सुहृद को लिख दीजिये। वहाँ से वह मेरे साथ हो लेगा।

लेकिन आप पर दो इलजाम हैं।

(1) यह कि आपको मुझे आज्ञा देने में 'साहस' करना पड़ा है।
(क्या विवशता ही अहंकार है?)

(2) यह कि आप पटने आये किन्तु, मुझे इसकी खबर नहीं मिली।
कुरूक्षेत्र तैयार है। सुनाने को साथ लाऊँगा अगर तब तक कॉपी प्रेस में नहीं चली गई।

शेष कुशल है।

आपका
दिनकर

मुजफ्फरपुर
20-4-51

प्रिय सुधांशु जी!

आपको हरचन्द कहा कि आप बाबूसाहब से बात कीजिये। मगर, आप पर किसी के भी अनुरोध का कोई असर नहीं होता है। मैंने जो आशंका प्रकट की थी कि कृपानाथ आदि उपद्रव करेंगे वह सच निकली है। कल सुना कि अर्थ विभाग मेरे वेतन पर नया प्रश्नचिह्न लगा रहा है। एक बार यह निर्णय हुआ था कि He will get what he is getting as Deputy Director of Publicity. अब उससे भी नीचे लाने की बात है। अगर यह सच है तो इसे मैं षडयंत्र कहता हूँ। दु:ख यह है कि इस षडयंत्र का ज्ञान बाबूसाहब को हो नहीं पायेगा और आपको अगर हो भी गया तो जिस सामुद्रिक गंभीरता का आपने वरण किया है उसकी बाड़वाग्नि में वह आसानी से पच जायगा। फिर भी सूचना दे देना मेरा काम है। कुछ करना हो तो पत्र पाते ही मोटर उठा कर खुद जाइये। टेलीफोन में मेरा विश्वास नहीं है। अन्यथा अपने ब्रह्मचर्य की रक्षा करते रहिये, क्योंकि मैं तो उसके चलते भी आपका प्रशंसक हूँ।

आपका
दिनकर

डॉ शिव मंगल सिंह 'सुमन'

चौधरी टोला, पटना
27-10-53

प्रिय भाई!

मेरी एक पोती तीन साल की है। दूसरी भी हुई है, जिसकी आज छठी है। शाम को श्रीमती जी ने गर्म दूध से अपना चेहरा जला लिया। उनका उपचार चल रहा है। इस प्रकार, घर में सुख और दु:ख दोनों विद्यमान हैं। और पस्ती में बैठे-बैठे मुझे तुम्हारी याद आ रही है। अय हर आदमी से साँसो का हिसाब माँगने वाले, कुछ अपनी साँसों का भी हिसाब दो। तुम कविताएँ कम लिखने लगे हो। साल में एक दर्जन नहीं लिखोगे तो फिर जवानी को धिक्कार। चालीस के बाद तो तीन लिखना भी दूभर हो जाएगा। और अपनी भाषा में प्रशंसक कम, निन्दक अधिक जन्म लेते हैं। इकबाल ने, शायद, सोलह साल कविता की कोई पुस्तक उर्दू में नहीं निकाली थी और इलियट के वेस्ट लैंड से फोर क्वार्ट्रेट तक की दूरी भी बीस साल की है। मगर, हिन्दी में कोई ऐसा करे तो उसकी मृत्यु का ढिंढोरा सब लोग पीटने लगते हैं।

हिन्दी कविता की प्रगति अवरूद्ध है। हर बारह साल के बाद नये क्षितिज का निर्माण होना चाहिए, आशा के विरूद्ध दिशा से किसी कवि को उतरना चाहिए। मैं चाहता हूँ कि तुम अपने आपसे एक प्रश्न करो कि तुमने अपने हिस्से के नये क्षितिज का निर्माण कर लिया या वह काम अभी बाकी है। मेरे ख्याल से, तुम्हारा क्षितिज अभी तक पूर्ण रूप से उभर कर सामने नहीं आया है।,

और कवि की संकीर्णता की वृद्धि कवि-सम्मेलनों में होती है, यह तुम जान लो। हम सभी लोगों को भागना चाहिए इन सम्मेलनों से। मैं तो कोशिश करके हार गया, मगर, कवि-सम्मेलनों से छुटकारा नहीं मिलता। बेबसी है। फिर भी जिस सत्य को अनुभव करता हूँ, तुम्हें बता रहा हूँ। मैं तुम्हारा गुरु नहीं, अग्रज नहीं, एक पीठ का भाई हूँ, इसलिए, हर बात कह सकता हूँ और तुम्हें भी यही अधिकार देता हूँ।

कविता की भूमि जकड़ी जा रही है। ऐसी चीजों की जरूरत है जो आलोचकों को अनुपस्थित मानकर लिखी जाएँ, जिन्हें जनता आसानी से समझ सके और समझ कर आनंद उठा सके। और ऐसी चीजों की भी जरूरत है जिनके भीतर से कवि अपने आप पर आरी चलाता हो, अपने आप को चीरता हो, जिनके भीतर से उसके दिमाग के फटने की आवाज सुनायी देती हो। आशा है, संकेत समझ रहे हो।

और आज ही एक कविता लिखी है जिसका नाम 'संकेत' रखा है। दो पद उसके ये हैं:-

दूँ तुमको जीभ उधार? सूर्य, क्या बोलोगे?
भाषा जिनकी मौजूद, भाव वे जूठे हैं।
हैं भेद अछूते जो, उनको कहना चाहो
तो वाणी के साधन समस्त ये झूठे हैं।
संकेतो से आगे वाणी की राह नहीं,
कुछ लाभ नहीं किरणों को मुखर बनाने से।
रव की झंकारों से न भेद खुल पायेगा,
जो खुला नहीं नीरव प्रकाश फैलाने से।

मैं अपने भीतर थकान अनुभव करने लगा हूँ। लगता है, अब तक जब भी रचना की समाधि में जाता था, मेरी मुद्रा तनी हुई रस्सी के समान हो जाती थी और उसी मुद्रा में अच्छी कविताएँ लिखा करता था। मगर, अब तनाव को मन बर्दाश्त नहीं करता, न इतना अच्छा स्वास्थ्य ही रह गया है कि तनाव का संकट झेल सकूँ। इसलिए, अब जो नई टेकनिक पसन्द आ रही है उसके पीछे कुछ शारीरिक शिथिलता भी काम कर रही है। मम्मट ने काव्य के कारणों में एक कारण स्वास्थ्य को भी माना है। वह बहुत ठीक है।

मगर, तनाव की कविता भी खूब होती है। मैं अपनी मुट्ठी से मशाल फेंक रहा हूँ। तुम उसे बायें हाथ में ले लो। दाहिने में तो तुम अपनी मशाल ले आये हो। भगवान करे तुम्हारे हाथ में यह मशाल अप्रतिम तेज से जले।

But mind you my dear, the greatest force is in the greatest restraint and when you begin to write less, you will begin to say more.

बक गया हूँ जुनूँ में क्या-क्या, कुछ न समझे खुदा करे कोई।

सस्नेह
दिनकर

आर्यकुमार रोड, पटना-4
18-11-60

प्रिय भाई,

तुम्हारा 12-11 का पत्र आज मिला। यह जानकर प्रसन्नता हुई कि तुम पीपल में लटकने को वापस फिर आ रहे हो। पूरी प्रसन्नता तब होगी जब, सचमुच, लौट आओगे और अँधेरे को फाड़ने के लिए फिर मशालें चलाना शुरू कर दोगे। मशाले जलती बहुत हैं, चलती ही नहीं। साम्यवाद को कोसते-कोसते साहित्य अपना आदर्श भी भूल गया है।

जरा चिराग जलाओ, बड़ा अँधेरा है,
जरा नकाब उठाओ, बड़ा अँधेरा है।

अध्ययन की दरार भरने लगो तो मेरी रचनाएँ भी देख लेना जो आजकल, ज्ञानोदय, कल्पना और कादम्बिनी में इसी साल अगस्त से इधर निकली हैं।

अब सुन लो कि मास से बीमार चल रहा हूँ। कठिन पथ्य पर जी रहा हूँ जिसमें चावल, आटा, दूध, और मीठे फलों का सर्वथा अभाव है। अक्तूबर से चक्कर आ रहा है। कभी-कभी यह भी सोचना पड़ा है कि महायात्रा नहीं तो उसका समारंभ समीप है। किन्तु, अब सँभल रहा हूँ और 30 नवम्बर तक पूरी तरह सँभल जाऊँगा। दिल्ली जाना अब उसके बाद ही होगा। मगर, और कोई यात्रा नहीं होगी। प्रभाग को कहो कि क्षमा करे। मुहम्मद पहाड़ से न टकरायें। तुम्हें क.स. से अब अजीर्ण हुआ लगता है। मैंने तो 24 जनवरी 1958 को ही उसे व्रत लेकर छोड़ दिया।

तुम्हारा
दिनकर

पटना
28.12.62

प्रियवर,

तुम्हारा पत्र घूम कर यहाँ पटने में मिला और काव्य रचना में व्यस्त रहने के कारण उसका उत्तर मैं आज दे रहा हूँ। मेरा स्वास्थ्य ऐसा नहीं है कि दौड़-दौड़ कर देश में दहाड़ता फिरूँ। इन दिनों कवियों की पूछ बड़े जोर की है। दो-एक पत्र हर रोज मेरे पास भी आते हैं। लेकिन, सबके पाँव पकड़ता चल रहा हूँ। तुम भी अपने पाँव बढ़ा दो। मेरा इसी में कल्याण है। लाज न मैं अपनी रख सकता हूँ, न तुम्हारी।

बेशर्म तो तुम हो। जब तक कोई लिखवाये नहीं, अपने मन से पत्र क्यों लिखोगे?

लेकिन कविताएँ लिख रहा हूँ।

तुम्हारा
दिनकर

11, केनिंग लेन, नई दिल्ली
18-9-63

प्रिय भाई,

तुम्हारा 13-9 का पत्र मिला.... कहना चाहिए प्रेम-पत्र मिला। 29 नवम्बर के लिए अभी से किसी कार्यक्रम में बँध जाना शक्य नहीं है।

मैं इधर पारिवारिक कलह के कारण घोर रूप से दु:खी और संकटग्रस्त रहा हूँ। वे स्थितियाँ सुलझ जाँय तभी महाकाल के घर आने की बात सोच सकता हूँ।

तुम तो मेरे लिए गूलर के फूल हो गये।

तुम्हारा
दिनकर

सम्पादक: धर्मयुग

नवम्बर, 1972

धर्मयुग के 22 अक्तूबर, 1972 वाले अंक में अपने बारे में आदरणीय पंडित पद्मकांत जी का कठोर पत्र मैंने पढ़ा। 'रिसि अति बड़ि लघु चूक हमारी।' सरकारी कृपा चाहने वाले व्यक्ति पद्मकांत जी ही थे, यह मंतव्य मेरा नहीं था, लेकिन डायरी में मैंने काट-कूट तो की है, जोड़ा कुछ भी नहीं है। मैं मानता हूँ कि डायरी के उस अंश से जो ध्वनि निकलती है, उससे पद्मकांत जी का रूष्ट होना अस्वाभाविक नहीं हैं। मैं उनसे क्षमा माँगता हूँ। मेरा अभिप्राय उन लोगों से था, जो दिल्ली में ही रहते थे।

इससे भी अधिक ग्लानि मुझे इस बात की है कि पद्मकांत जी मेरे दरवाजे से अप्रसन्न लौटे। उस समय की परिस्थिति का स्मरण मुझे नहीं है, न मैं यही याद कर पाता हूँ कि उस दिन मैं किस उजलत में था। यह तो मुझे याद है कि पद्मकांत जी ने मुझे कोई कविता भेजी थी, लेकिन स्वर्गीय श्री गंगाप्रसाद पाण्डेय से मेरी क्या बात हुई थी, इसका भी स्मरण मुझे बिल्कुल नहीं है।

शेक्सपियर ने तीन तरह के बड़ों का उल्लेख किया है। एक वह जो बड़ा पैदा होता है, दूसरा वह जो बड़प्पन हासिल करता है और तीसरा वह जिस पर बड़प्पन थोप दिया जाता है। एक चौथा व्यक्ति भी हो सकता है जो बड़े वंश होने के कारण या साधन-संपन्न होने के कारण बड़प्पन को दबोच लेता है। अपने जानते मैं इनमें से किसी भी कोटि में नहीं आता हूँ। असल में मैं महान-टहान हूँ ही नहीं। मैं तो मामूली गृहस्थ हूँ, जो नौकरियाँ कर अपने और अपने परिवार का पेट पालता रहा है और वंश में जनमी कन्याओं का विवाह रचवाता रहा है। 'कुरूक्षेत्र' और 'उर्वशी' की रचना मेरी असली उपलब्धि नहीं है। मेरी वास्तविक उपलब्धि यह है कि परिवार के शकट को हाँफ-हाँफ कर खींचते हुए मैंने 9 लड़कियों के ब्याह रचवाये हैं। अगर यह मेरी महत्ता है तो उसे मैं स्वीकार करता हूँ।

मगर यह सब फालतू बातें हैं। मुख्य विषय यह है कि हिन्दी को संस्कृतनिष्ठ होना चाहिए या नहीं। पूज्य पं॰ मदनमोहन मालवीय जी के चरणों तक पहुँचने का सुयोग मुझे नहीं मिला था। किन्तु पूजनीय टंडन जी की संगति थोड़ी मुझे भी मिली थी। टंडन जी आसान हिन्दी के पक्षपाती थे। मैं भी आसान हिन्दी चाहता हूँ और मानता हूँ कि यह आदर्श हिन्दी अमृतलाल नागर लिख रहे हैं, कमलेश्वर लिख रहे हैं, हरिशंकर परसाई लिख रहे हैं और सबसे बढ़ कर अमृतराय लिख रहे हैं।

किन्तु हुआ क्या? संसदीय कार्यों के लिए हिन्दी-शब्दों की जरूरत पड़ी, स्पीकर महोदय ने विद्वानों की एक बड़ी समिति का निर्माण किया और पूज्य टंडन जी को उसका अध्यक्ष बना दिया। इस समिति में भारत की सभी भाषाओं के विद्वान रखे गये थे और समिति की कोशिश यह थी कि शब्द जहाँ तक संभव हो, आसान रखे जायें। किन्तु हिन्दी के प्रतिनिधियों की उस समिति में चली नहीं। अहिन्दी-भाषी विद्वान, कदम-कदम पर अड़ते रहे कि शब्द, संस्कृति के ही होने चाहिए नहीं तो उन्हें सार्वदेशिक स्वीकृति नहीं मिलेगी और अन्ततः समिति ने जो शब्द-कोश तैयार किया, उसमें बहुलता संस्कृत-शब्दों की ही रही।

जब कानून की शब्दावली बनने लगी तब भी यही हाल हुआ। 'मुद्दई' और 'मुद्दालेह' शब्द हिन्दी से इस लिए निकाल दिये गये कि अहिन्दी-भाषा विद्वान वादी' और 'प्रतिवादी' रखना चाहते थे। 'चोट' शब्द इसलिए निकाल दिया गया कि मराठी में उसका अर्थ अश्लील होता है। और 'चूक' शब्द इस लिए हटा दिया गया कि ओड़िया में उसका अर्थ अश्लील होता है।

एक पुनरीक्षण समिति का अध्यक्ष मैं भी था। समिति की बैठकों में मैं हिन्दी के प्रतिनिधियों को राजी कर लेता था कि वे फारसी या अरबी के शब्द स्वीकार कर लें। लेकिन तब कोई कन्नड़ या मलयालम भाषी विद्वान, कोश लेकर खड़ा हो जाता था और कहता था कि संस्कृति-शब्द ही उसे स्वीकार्य है।

इतने दिनों का मेरा अनुभव यह बतलाता है कि या तो हिन्दी राजभाषा के रूप में सफल ही नहीं होगी या होगी तो

संस्कृतनिष्ठ होकर ही होगी। कभी-कभी मैं सोचता हूँ कि यदि 14 सितम्बर 1949 तक गांधी जी जीवित रहते तो कांग्रेस पार्टी में बहुमत हिन्दुस्तानी को ही मिलता। लेकिन जब उसे सार्वदेशिक बनाने की कोशिश की जाती तब हिन्दुस्तानी को भी उसी रास्ते पर जाना पड़ता जिस पर हिन्दी को जाना पड़ रहा है। गांधी जी के समय में हमारी कल्पना यह थी कि हिन्दी और उर्दू की समस्या निबट जाये तो तो भाषा की सारी समस्याएँ खत्म हो जायेंगी। मगर स्वराज्य के बाद से देश की प्रत्येक भाषा हिन्दी पर प्रभाव डालने लगी है। उर्दू, जो हिन्दी की असली सहेली थी, वह उसकी पन्द्रह बहनों में से एक रह गयी है। इतिहास के इस प्रवाह को रोकना वांछनीय है या नहीं, इस विषय में मतभेद हो सकता है, लेकिन यह कार्य कठिन है, इससे इनकार नहीं किया जा सकता।

सन् 1962 में हम लोगों ने जिस भाषा का विरोध किया था, वह हिन्दी और उर्दू, दोनों का विकृत रूप थी। उर्दू, उर्दू रखी जा रही थी, मगर हिन्दी को बिगाड़ा जा रहा था। वह हिन्दी की प्रकृति के साथ मनमाना अत्याचार था।

सन् 1962 ई. में बुलेटिनों की विकृत भाषा की मैंने जो समीक्षा तैयार की थी, उसकी एक प्रति मैं आपको भेज रहा हूँ। आप अगर उसे छाप दें तो मैं भी पद्मकांत जी को वही शेर सुना दूँगा, जो शेर उन्होंने मुझे सुनाया है –

यारब, न वो समझे हैं, न समझेंगे मेरी बात
दे और दिल उनको जो न दे मुझको जुबाँ और।

रामधारी सिंह दिनकर

श्री मन्मथ नाथ गुप्त

9, अलीपुर पार्क प्लेस, कलकत्ता
7-7-61

प्रिय मन्मथ बाबू,

सप्रेम वन्दे।

आपका पत्र मिला। पुस्तक की तीन प्रतियाँ मेरे लिखने पर प्रकाशक जी ने भेजी थीं। सो, आपका पत्र पुस्तक देख लेने के बाद मिला।

बच्चन जी ने आपको जो बधाई भेजी उससे मुझे प्रसन्नता हुई। अपनी (यानी हमारी) पीढ़ी में अब कितने लोग हैं जो चीज पसंद आवे तो अपनी प्रतिक्रिया लिख भेजने का कष्ट करेंगे। गनीमत है कि हमसूरत यहाँ दो चार बैठे हैं। बच्चन ईमानदार और साथ-साथ जानदार आदमी हैं।

पुस्तक के दोष जो मैंने देखे हैं, नीचे लिख रहा हूँ।

जीवनी-भाग के पृष्ठ 33 का दूसरा पैरा देखिये। आपका ध्येय कुरुक्षेत्र से पूर्व की कविताओं का उद्धरण देना था, किन्तु, एक को छोड़ कर सभी उद्धरण कुरूक्षेत्र के बाद के हैं।

यतीनदास 62वें दिन मरे थे या तिरसठवें दिन? शायद, आपकी ही बात ठीक होगी। परिशिष्ट 1 अत्यन्त संक्षिप्त है।

परिशिष्ट 2 के 142 पृष्ठ पर ऊपर ही – क्रम-संख्या गलत है। 35 के बाद 36 और तब 37 होना चाहिए था।

प्रकाशक जी की एक कंजूसी मुझे रूचि नहीं। फोटो ग्लेज्ड कागज पर लेकर ब्लाक बनवाना था। मेरा सुझाव उन्होंने महज 10-12 रुपये बचाने के लिए टाल दिया। मगर, अपने चेहरे में जितनी दिलचस्पी मुझे है, उतनी विश्वनाथ जी को क्यों होगी?

मैं यहाँ से 12 जुलाई की रात को पटने प्रस्थान करूँगा। उस दिन उर्वशी की प्रतियाँ आपको और चन्द्रगुप्त जी को, शायद , भेज कर ही जाऊँगा। दिल्ली 20 के बाद पहुँचना चाहता हूँ। ज्योति बाबू से स्टाम्प्ड रसीद लिखवा कर पटने के पते पर भेज दीजिये।

आपका
दिनकर

डॉ. चन्द्रदेव सिंह

आर्यकुमार रोड, पटना
13-4-63

प्रियवर,

कविता मिली। पढ़कर बड़ा मजा आया। मुझे आपने जो गालियाँ दी होंगी, उन्हें मैंने नहीं देखा, न आज से पहले यह बात मुझे मालूम थी। लेकिन अच्छा हुआ कि आपने स्वयं अपना मार्जन कर लिया। यह शुद्ध हृदय का लक्षण है, यह इस बात का संकेत है कि आप वैयक्तिक मालिन्य से ऊपर रहना चाहते हैं। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में चरित्र ही प्रधान है।

'परशुराम की प्रतिक्षा' से दो प्रकार के लोग बहुत नाराज हैं। एक वे जो यह समझते हैं कि चीनी-आक्रमण के विरूद्ध जगने वाला क्रोध जल्दी शांत हो जाए, नहीं तो यह क्रोध देश की प्रगतिशील प्रवृत्तियों के विरूद्ध पड़ेगा। दूसरे वे लोग जो यह समझते हैं कि युद्ध का जवाब युद्ध से न देने की भावना यदि बढ़ी तो वह गांधी-धर्म के प्रतिकूल जायगी।

मेरे जानते दोनों-के-दोनों गलती पर हैं। भारत साम्यवादी हो जाए तब भी चीन से उसकी खटपट चलती रहेगी जैसे रूस के साथ चल रही है। और गांधी धर्म को भी मैं एक दूसरे रूप में समझता हूँ। गाँधीजी कहते थे, कायरता सबसे बुरी चीज है। उनके बहुत से शिष्य ऐसे हैं, जो केवल यह मानते हैं कि अहिंसा सबसे अच्छी चीज है। लेकिन जो कायर भी नहीं है और अहिंसक भी नहीं, वह क्या करे? इस सवाल का जवाब गांधीजी के पास था, लेकिन, सर्वोदय वालों के पास नहीं है। इसलिए उनमें से कुछ लोग मुझे हिंसावादी मानकर मेरी निन्दा करते हैं।

पिछले 15 वर्षों में देश कहाँ से कहाँ पहुँचा है, यह बात मेरे प्रसंग में भी देखी जा सकती है। 1946 में 'कुरुक्षेत्र' निकला था। उसी में यह पंक्ति थी '' जिनको सहारा नहीं भुज के प्रताप का है, बैठते भरोसा किए वे ही आत्मबल का।'' लेकिन कुरुक्षेत्र पर द्वेष के उतने तीखे बाण नहीं बरसे थे जितने परशुराम पर बरस रहे हैं। 27 साल की अहिंसा-साधना का नतीजा यह निकला कि छह लाख हिन्दू और मुसलमान पाप की तलवार से काटे गये। यदि देश की निर्वीर्यता नहीं टूटी, तो वह कितना बलिदान लेगी, यह कवि और चिंतक समझ सकते हैं। बाकी लोगों की समझ में यह बात तब आयेगी जब दुर्घटना घटित हो चुकेगी। कितना लिखूँ? केवल आपको धन्यवाद देता हूँ। आप बड़े अच्छे हैं।

आपका
दिनकर

राजेन्द्र नगर, पटना-16
12-6-72

प्रिय चन्द्रदेव,

तुम्हारी बड़ी कृपा है कि नैनीताल में तुम्हें मेरी याद आयी।

हिन्दी-ग्रंथ-अकादमी के चेयरमैनशिप का ऑफर सरकार की ओर से आया था। तुम जानते हो कि उस पद पर अभी सुधांशुजी काम कर रहे हैं। वे रुग्ण तो हैं ही, अभी भारी विपत्ति में भी हैं। अपने पद पर वे बने रहें तो उससे उन्हें थोड़ा ढाढ़स रहेगा। यही सब सोच कर मैंने ऑफर को स्वीकार नहीं किया। वैसे काम की मुझे जरूरत है। माथे पर अनाथ पोते-पोतियों का बोझ है जो मुझे अब क्षण भर को भी निश्चिन्त होने नहीं देता।

क्या करूँ, कुछ समझ में नहीं आता है।

हम जिस समाज में जी रहे हैं, उसके प्रोप्रायटर राजनीतिज्ञ हैं, मैनेजर अफसर हैं, बुद्धिजीवी मजदूर हैं। बूढ़ा मजदूर भर-पेट मजदूरी नहीं कमा सकता, वही हाल मेरा है। सरस्वती और लक्ष्मी के बैर को बुझाने की कोशिश मैं जीवन-भर करता रहा, लेकिन वह बैर बुझा नहीं। अभी तो वह जरा तेज ही हो गया है। भावुकता में विलाप की बातें लिख गया, क्षमा करना। भगवान तुम्हें सुखी रखें।

तुम्हारा
दिनकर

श्री कन्हैयालाल फूलफगर के प्रति

राजेन्द्रनगर, पटना-१६
११-१२-७३

प्रियवर,

आपका ८ का पत्र आज मिला। मैं १५ के भोर 12 Down से पहुँच रहा हूँ। शान्तिप्रसादजी के यहाँ ठहरूँगा। आप वहाँ तुरन्त खबर दे दें कि गाड़ी आवे। आपका आदमी भी मौजूद रहे।

१६ तारीख का टिकट करवा लिया सो ठीक है। लेकिन पटने से मैं १९ के भोर ही चलूँगा, २० के भोर मुझे दिल्ली पहुँच जाना है। इस गलती को हर कोशिश करके सुधारिये।

मैंने दिल्ली से आपको दो पत्र भेजे हैं। क्या आपको वे मिले नहीं?लगता है, इस बार मैं विपद में फँसा हूँ। प्रभुदयालजी को 'हाँ' कह देने का यह दण्ड है।

१७ और १८ पटना रहकर मुझे १९ के भोर ११ UP से चल देना है, इसका प्रबन्ध जैसे भी हो, करें। नहीं तो कलकत्ता पहुँचकर भी मैं सभा में नहीं आऊँगा।

आज Mitraparisad के पते पर आपको एक्सप्रेस तार भी भेजा है।
Please be quick.

आपका
दिनकर

संगीत-निदेशक श्री जयदेव के प्रति

३१, सरदार पटेल रोड, नई दिल्ली
४-३-७४

प्रिय जयदेव जी,

श्री बालकवि बैरागी ने एक पत्र लिखा है कि आपने मेरी उर्वशी कविता को स्वर दिया है और आप उसे रेकार्ड करवाना चाहते हैं। यह सुख का विषय है। रेकार्ड करने वाली कम्पनी मेरे पास अपना प्रस्ताव भेजे। आप जिस शर्त पर अनुमति देने को कहेंगे, मैं अनुमति दे दूँगा। केवल कैसेट सुनकर यह समझना चाहता हूँ कि चीज उतरी कैसी है। बम्बई में मेरे एक मित्र हैं:-

श्री सुरेन्द्रसिंह, टेलीफोन ३६९५८३
I-B-1, गिरिराज, अल्टा माउन्ट रोड
बम्बई-२६

सुरेन्द्र खुद गवैया भी हैं। मैं उन्हें लिख रहा हूँ। वे आपसे सम्पर्क करेंगे। शेष कुशल है।

आपका
रामधारी सिंह दिनकर

डॉ॰ हरिवंशराय बच्चन के प्रति

११४, मालचामार्ग,
चाणक्य पुरी, नई दिल्ली
२४-३-७४

प्रिय भाई,

आनन्ददायी कार्ड मिला। तुम्हें बाबा बनने पर बधाई, तेजी जी को दादी बनने पर बधाई। बच्ची को आशीर्वाद। उसके माता पिता को आशीर्वाद।

मेरी पोती का विवाह २८ जनवरी को हो गया। आशीर्वाद दो कि वर और वधू सुखी रहें। मेरा छोटा बेटा मुझसे बेतरह नाराज है। विवाह के बाद जब पटना गया, मैंने रामसेवक (स्वर्गीय पुत्र) के परिवार को तथा अपने पुस्तकालय को उसी आर्यकुमार रोड वाले घर में पहुँचा दिया। मैं तो मई १९७३ से अनिकेतन घूम रहा हूँ। देखें, पिता श्री रामचन्द्र कहीं स्थापित भी करेंगे या यों ही घुमाते रहेंगे। लॉजिक गलत। पुरुषार्थ झूठा। केवल राम की इच्छा ठीक।

तुम्हारा
दिनकर

दिनकर जी की मृत्यु के एक मास पूर्व बच्चनजी के नाम लिखा हुआ यह अन्तिम पत्र है।

'धर्मयुग' से साभार। –सम्पादक

प्रोफेसर के॰ दोइ (जापान) के प्रति

Aryakumar Road,
Patna-4
The 6th July, 1957

Dear Shri Doi,

Thank you very much for your kind letter of the 18th June, 1957. I am very glad to know that my book "Sanskriti Ke Char Adhyay" has attracted your notice and you want to translate it into Japanese. I give you permission for the same on the terms and conditions mentioned in your letter. I also agree with you that the translation should appear in two parts, the later two chapters appearing first. If you want the preface, written by Pandit Nehru, to accompany the transplation, please write to me so that I may send the original English version of the preface to you. Panditji had written the preface originally in English.

No, I have not received the book-review, written by Prof. WATANABE. I should be glad to receive a copy of the same from you.

By the way, could you send me about two dozens of modern Japanese poems, rendered faithfully into Hindi prose from which translations into Hindi verse could be prepared? I want to do the job myself.

I had the good fortune of meeting your poet NOGUCHI when he had visited our country in 1935. At that time some of Prof. NOGUCHI's poems were rendered into Hindi and received well by the people. Since then, no modern Japanese poems have been translated here.

With kind regards,

Yours sincerely,
R.D. SINHA

कानटून

१७-११-५७

प्रिय नुनू,

आज चीन-प्रवास का अन्तिम दिन है। कल प्रात:काल इस शहर से ट्रेन से चलूँगा ७:११ बजे भोर में, और हांगकांग पहुँचूँगा ११ बजे। १८, १९, २० ये रातें हांगकांग में बीतेंगी। २१ को बैंकाक जाऊँगा। २१, २२ ये रातें बैंकाक में। श्री आनन्दमोहन सहाय Ambassador मेरे मित्र हैं। अगर छुट्टी पर नहीं गये हों तो उनसे भेंट होगी। २३ को रंगून पहुँचूँगा। २४ को रंगून में बर्मादेशीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का जलसा है। उसका उद्घाटन करूँगा और २५ को अवश्य-अवश्य कलकत्ता पहुँच जाने का विचार है। कामेश्वर को लिख दिया है कि २६ की रात में दिल्ली-एक्सप्रेस से मेरी सीट रिजर्व करवा रखे कि मैं २७ के प्रात:काल आठ बजे पटने पहुँच जाऊँ। २८ या २९ को दिल्ली चला जाऊँगा। अगर सम्मेलन का मुँगेर-अधिवेशन हो रहा है तो मुझे दिल्ली से फौरन वापस होना होगा। २६ के प्रात:काल कलकत्ते से फोन भी करके तुमसे बतियाने का विचार है सुबह ९ बजे तक। यह समाचार तुम ब्रजशंकरजी को दे दोगे।

यात्रा अच्छी रही या नहीं, ठीक नहीं कह सकता। पीकिंग और शंघाई-रेडियो से वार्त्ताएँ दीं, वे ब्रजशंकरजी को भेज चुका हूँ। अंग्रेजी विश्वविद्यालय शंघाई-विश्वविद्यालय और कानटून-विश्वविद्यालय में अंग्रेजी जानने वाले छात्रों और प्राध्यापकों के समक्ष भाषण दिये, बातें कीं। विषय भारतीय संस्कृति, साहित्य, कला और राजनीति। प्राइम-मिनिस्टर से मिला, ढेर साहित्यिकों से मिला, प्राचीन चीन के अवशेष देखे, नये चीन की उमंग देखी, और सबसे बढ़कर चीन के दर्पण में भारत की कमजोरियाँ देखीं। मन पर भारी प्रभाव पड़ा है और इसके कारण मेरी प्रवृत्ति में परिवर्तन होंगे, ऐसा लगता है।

एक शिक्षा देश के लिए ला रहा हूँ। युवक कस कर व्यायाम करें, औरतें निकम्मी न रहकर घूमें-फिरे और अपने आपको सँभालना शुरू कर दें, नौकर को पुत्र और भाई की तरह रखो, केवल भाव से ही नहीं, धन और मन से भी, हलवाहों को घर का सदस्य समझो, धन जुगाना लोग छोड़ दें, किफायतसारी से काल लो, हर आदमी manual work भी करे, घर को बाहर और भीतर से फूलों से सजा दो। वैयक्तिक सम्पत्ति रहने वाली नहीं है, भारत में भी नहीं। कम-से-कम, भारत विनोबा पर आकर ठहरेगा अर्थात् जरूरत से फाजिल किसी के पास नहीं रहेगा। अपरिग्रह, निवृत्ति और अहंकार–विसर्जन के बिना नया समाज नहीं लाया जा सकता। अभी भारत में जो समाज चल रहा है उसे चलने देना प्रत्यक्ष अन्याय है। समाजवादी ढाँचे का समाज क्या है, इसे काँग्रेस के नेताओं को स्पष्ट करना होगा। गोल-मटोल ढंग से हम कब तक चलते रहेंगे?Our ideology must he clarified and the country must know the goal for which it is asked to work.

भोजन पसन्द का कहीं नहीं मिला। अर्धोपवास में भी चीनी चलती रही। पता नहीं क्यों इन्सुलीन खराब हो गई?शांघाई में दूसरी ली और अनभ्यास के कारण ठीक से काम नहीं करती है। कल शाम को मन अचानक बहुत उदास हो गया। आज ठीक है। पत्र जो पटने से भेजा वह कल यहाँ मिल गया। यह पत्र हांगकांग पहुँचकर छोड़ूँगा कल।

तुम्हारा

रामधारी

पदमा सचदेव के प्रति

नई दिल्ली
२९-९-६७

प्रिय पद्मा,

तुम्हारी पुस्तक 'मेरी कविता : मेरे गीत' की भूमिका पत्र के साथ संलग्न है। प्राप्ति की सूचना देना।
आशा है तुम स्वस्थ हो।

तुम्हारा
दिनकर

भूमिका:–

जब से स्वराज्य हुआ है, भारत की भाषाओं में जान आ गयी है। जिसमें जहाँ तक बढ़ने का दम है, वह वहाँ तक बढ़ने की कोशिश कर रही है। देश के कुछ बड़े-बढ़े लोग, जिन्होंने भारत की मिट्टी को नहीं समझा था, जो बड़े-बड़े शहरों में जनमे और वहीं बढ़कर अब वृद्ध हो गये हैं, जिन्होंने अंग्रेजी में दक्षता प्राप्त करके पहले अंग्रेजों को चकित किया और स्वराज्य के बाद से जो नये राजनीतिज्ञों को भी चकरा देने में कामयाब हो गये हैं, वे लोग कहते हैं कि भाषाओं का जागरण भारत के लिए सबसे बड़ा खतरा है। लेकिन, मुझ जैसे सिर-फिरे लोग यह समझते हैं कि भारत की भाषाएँ यदि नहीं जगीं, तो पार्सल से जो स्वराज्य १५ अगस्त १९४७ ई॰ को आया था, वह मुर्दा-का-मुर्दा पड़ा रहेगा। जनता को उसकी भाषा नहीं मिली, तो वह बढ़ेगी कैसे?वह अपने दु:ख-दर्द, उम्मीद और उमंग की अभिव्यक्ति क्या अंग्रेजी की मदद से करेगी?ऐसे सभी बड़े लोगों से मेरा एक ही सवाल है कि अगर जनता को उसकी भाषा मिलने वाली नहीं थी तो फिर स्वराज्य की ही ऐसी जल्दी क्या थी। शासन का लिबास तो बदल गया, मगर जनता के हृदय के भीतर उमंग का चिराग जलाने का रास्ता कब खुलेगा?

अंग्रेजी में कविताएँ लिखकर बहुत से हिन्दुस्तानियों ने हिन्दुस्तान वालों को चक्कर में डाल दिया। मानो वे कह रहे हों, देखा?जिस भाषा में तुम ठीक से बात नहीं कर सकते, उसमें हम कविताएँ लिखते हैं। मगर इन कविताओं को पढ़ा किसने?जो असली हिन्दुस्तानी हैं, वे अपनी कविताएँ अपनी भाषाओं में पढ़ते हैं और उन्हीं कविताओं पर झूमते भी हैं। रह गये अंग्रेज, सो वे तो अंग्रेजी में कविता लिखनेवाले हिन्दुस्तानियों को कवि ही नहीं मानते। आरू दत्त को भी नहीं, तोरू दत्त को भी नहीं, भारत-कोकिला को भी नहीं, हरीन्द्र चट्टोपाध्याय को भी नहीं। है इनमें से कोई कवि जिसकी कविता अंग्रेजी कविताओं के किसी भी प्रतिनिधि-संग्रह में स्थान पा सकी हो?और मेरे सामने "कामनवेल्थ एन्थालाजी" का नाम मत लीजिये। यह विशेषण ही बताता है कि संग्रह, साहित्य नहीं, राजनीति की दृष्टि से किया गया है।

कविता की असली भाषा कवि की मातृभाषा ही हो सकती है। सीखी हुई भाषा में ज्ञान का साहित्य लिखा जा सकता है, रस का साहित्य लिखा नहीं जा सकता। और रस-साहित्य में भी कविता और गीत के बीच भेद है। कविता में कुछ ज्ञान भी होता है, पाण्डित्य भी होता है, कवि की कारीगरी भी होती है। मगर गीत केवल रस की बूँद हैं, कवि के भीतरी व्यक्तित्व के प्रस्वेद हैं, उसके दर्द की खुशबू है। उनके लिए ज्ञान और पाण्डित्य साधक नहीं, बाधक ही होते हैं:–

इश्क को दिल में जगह दे 'अकबर',
इल्म से शायरी नही आती।

कभी सोचा है कि संस्कृत में गीत क्यों नहीं लिखे गये?संस्कृत का चलन कई हजार साल तक रहा, फिर भी जयदेव को छोड़कर और कोई कवि संस्कृत में नहीं हुआ जिसे हम गीतकार कह सकें। कारण स्पष्ट है। संस्कृत कभी भी

मातृभाषा नहीं थी। मातृभाषा, बराबर कोई-न-कोई प्राकृत रही थी। संस्कृत पर अधिकार सहज में प्राप्त नहीं होता था, वह प्राप्त किया जाता था।

गाथासप्तशती प्राकृत में जनमी, क्योंकि उसके भीतर पाण्डित्य नहीं, जनता के हृदय की भावनाएँ हैं। और गोवर्धनाचार्य जब संस्कृत में आर्या सप्तशती लिखने लगे, तब उन्हें अनभुव हुआ, मानों, वे नीचे बहनेवाले जल को नल के द्वारा ऊपर चढ़ा रहे हों।

और जो हाल संस्कृत का हुआ, वही हाल हिन्दी का रहा है। हिन्दी में कविताएँ अत्यन्त उच्चकोटि की लिखी जाती हैं, मगर असली गीत हिन्दी या उर्दू में नहीं लिखा जा सकता। यहाँ तक कि सिनेमा ने भी यह साबित कर दिया है कि उपभाषाओं अथवा जनपदीय भाषाओं का सहारा लिये बिना सच्चे गीत लिखे ही नहीं जा सकते और चूँकि सिनेमा वाले लोग उर्दू-परस्त हैं, इसलिए जनपदीय भाषाओं से रस लेना वे नहीं जानते। जैसे संस्कृत, प्राकृत से आगे बढ़े जाने के कारण गीतों की भाषा नहीं रही, वैसे ही गीतों की भाषा हिन्दी-क्षेत्रों में भी हिन्दी नहीं, डोगरी, पंजाबी, राजस्थानी, ब्रजभाषा, अवधी, बुन्देलखण्डी, भोजपुरी, मैथिली और अंगिका रह गयी हैं।

और डोगरी के गीत कितने विलक्षण होते हैं, यह देखकर आजकल मैं दंग हूँ। डोगरी की सहज कवयित्री श्रीमता पद्मा सचदेव का मैं बड़ा ही उपकार मानता हूँ कि उन्होंने मेरे घर आकर मुझे उस अद्‌भुत आध्यात्मिक सम्पत्ति का ज्ञान कराया जो डोगरी भाषा में बिखरी पड़ी है।

कविता में आजकल ज्ञान का युग चल रहा है। यानी कविता मर गयी है, उसकी लाश पर बड़े-बड़े पंडित कलाकार करीगरी और नक्काशी करके नोबुल-पुरस्कार पाते हैं और हम जब उनकी शुहरत से खिचकर उनकी कविताएँ पढ़ने लगते हैं, तब हमारा मोह-भंग हो जाता है।

पद्माजी ने डोगरी के लोकगीतों के सिवा कुछ अपनी कविताएँ भी मुझे सुनायी और उन्हें सुनकर मुझे लगा, मैं अपनी कलम फेंक दूँ, वही अच्छा है। क्योंकि जो बात पद्मा कहती है, वही असली कविता है और हममें हर कवि उस कविता से दूर, बहुत दूर हो गया है:-

यहाँ सरसों फूली हुई है,
मालूम नहीं, किसके भुलावे में आ गयी।
दूर तक खिलखिला रही है,
मानो, ब्रह्मा की अंजलि से बिखर गयी हो।
मालूम नहीं, किसके वियोग में
यह गोरी-पीली हो गयी है।
इसके बीज बिखरे हैं
चंबे, जम्मू और अखनूर में,
जी करता है, सारी की सारी बांध लूँ।
केसर और कँटीली झाड़ियाँ समेट लूँ।

गाथा को आर्या बनाने में जो मुसीबत गोवर्धन को झेलनी पड़ी थी, डोगरी को हिन्दी में ढालनेवालों की मुसीबत उससे जरा भी कम नहीं है। फिर भी जी करता है कि पद्मा के गीतों या कविताओं के कुछ और अनुवाद पाठकों के सामने बानगी की तौर पर जरूर परोस दूँ:-

क्या ये राजाओं के महल आपके हैं?

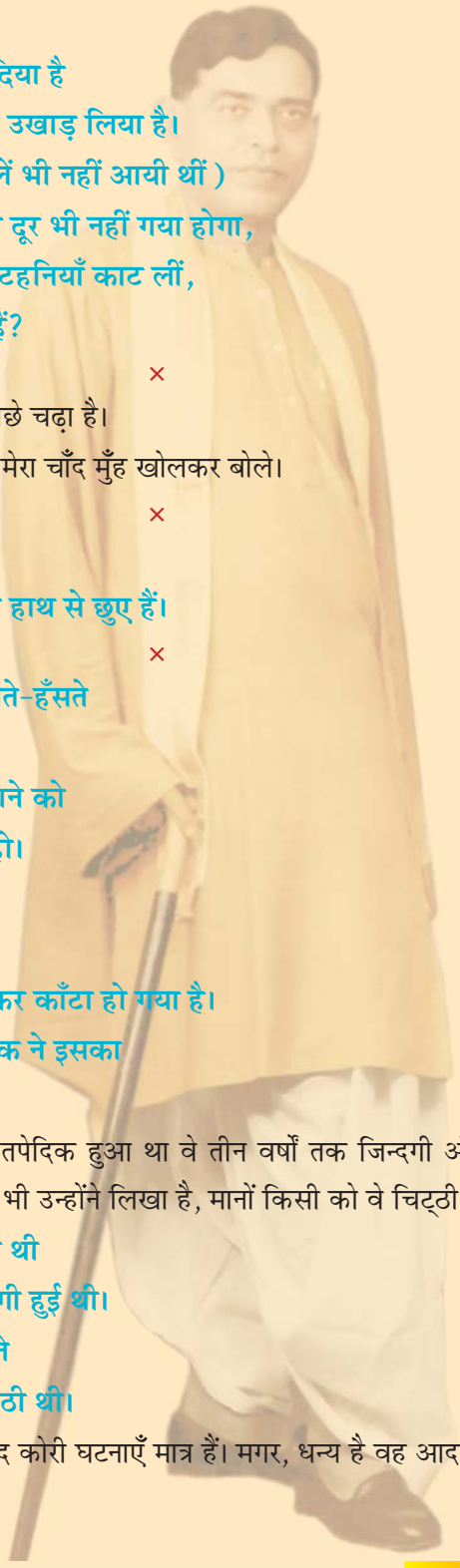

मेरा घर मुझ से छूट चुका है,
मैं राह भूल गयी हूँ।
बरसों पहले मेरी आँखों की ज्योति
मुझ से छिन चुकी है।
यह ज्योति छीन जिन्होंने
मुझे अन्धी बनाकर फेंक दिया है
मेरे बाग का पौधा जिन्होंने उखाड़ लिया है।
(उस पौधे पर अभी कोंपलें भी नहीं आयी थीं)
मेरा साजन तब तक ज्यादा दूर भी नहीं गया होगा,
तभी जिन्होंने मेरी काँपती टहनियाँ काट लीं,
क्या वे दरातियाँ आपकी हैं?

× × ×

मेरा चाँद बेर के दरख्त के पीछे चढ़ा है।
यह दरख्त कटवा दो जिससे मेरा चाँद मुँह खोलकर बोले।

× × ×

टसू वृक्ष के ये लाल फूल,
लगता है, विधाता ने अपने हाथ से छुए हैं।

× × ×

पहाड़ के पीछे से चाँद हँसते-हँसते
ऐसे धीरे-धीरे आता है
जैसे नयी दुलहन मुँह दिखाने को
धीरे-धीरे घूँघट उठा रही हो।
यह बासन्ती चाँद!
इसका अंग-अंग पीला है।
किसी के वियोग में सूख कर काँटा हो गया है।
या हो सकता है कि तपेदिक ने इसका
यह हाल किया है।

कवयित्री पद्मा को तपेदिक हुआ था वे तीन वर्षों तक जिन्दगी और मौत के बीच झूलती रही थीं। अपनी एक कविता में अपनी बीमारी का हाल भी उन्होंने लिखा है, मानों किसी को वे चिट्ठी लिख रही हों:–

मैं बहुत दिनों से बीमार थी
चारपाई से लगी हुई थी।
षुष्प अँधेरे में सोते-सोते
सुधबुध खो बैठी थी।

असली कविता शायद कोरी घटनाएँ मात्र हैं। मगर, धन्य है वह आदमी जो घटनाओं का रस, इतिहास का सत जुगा

सकता है। सच्ची कविता शायद नारियों के लिए अधिक स्वाभाविक है क्योंकि वे चुपचाप अन्याय सह कर इतिहास के सत का रक्षण करती हैं।

इस राह में इतनी सुनसान है
कि कोई पत्ता भी नहीं हिलता।
कहार जब तेजी से कदम उठाते हैं
तो मेरो मन काँप उठता है।
हाय, इस अन्धेरे में मैं
वह वस्तु ढूँढ रही हूँ
जो फेरों के समय मेरे हाथ में थी।
वे शब्द ढूँढ रही हूँ जो
आहुतियों के संग बोले गये थे।

पद्मा की जीवन दु:ख से भीगा हुआ जीवन है। मृत्यु की सीमा पर वह तीन साल सोयी रही थी। जो दु:खी होता है, उसे गुजरे हुए सुखों की याद कुछ ज्यादा सताती है:–

सखि! वे दिन कैसे थे?
वह वक्त कैसा था?
कड़वी बात जब किसी को न तो कही थी,
न किसी से सुनी थी।
वे दिन कितने मीठे थे,
जब सब कुछ सुन्दर दिखायी देता था।
जख्म कभी होता न था,
जो होता तो तुरन्त भर जाता था।
अब कैसे जख्म लगे हैं?
इनकी मरहम नहीं मिलती,
इनका रिसना बन्द नहीं होता,
इनका दर्द खाये जाता है।

यह बीमारी केवल पद्माजी की नहीं है। हर आदमी जिसका बचपन बीत गया, जो बच्चे की तरह सीधी बात बोलने में शर्म महसूस करता है, उसका यही हाल है। मेरा ख्याल है, पूरी सभ्यता का ही बचपन समाप्त हो गया है और वह इसी व्यस्कता की बीमारी से बीमार है।

डोगरी धन्य है। न जाने, इस भाषा के भीतर कैसे-कैसे रत्न छिपे हुए हैं। डोगरी के लोकगीतों के अनुवाद हिन्दी में अवश्य आने चाहिए और हिन्दी को उन सभी कवियों और लेखकों से परिचित कराना चाहिए जो इस पहाड़ की तरह खूबसूरत भाषा में लिख रहे हैं।

रामधारी सिंह दिनकर

रामधारीसिंह दिनकर

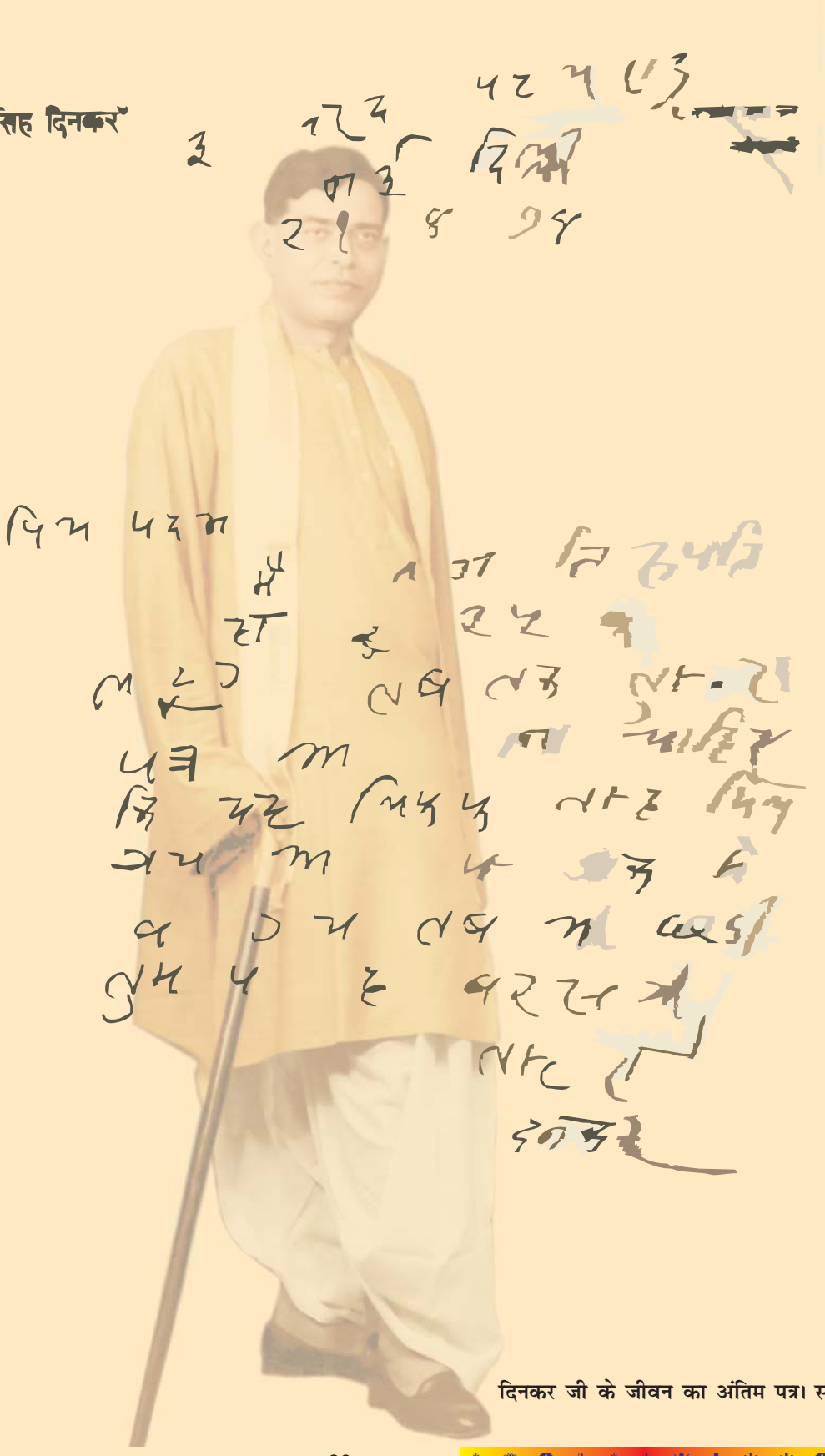

दिनकर जी के जीवन का अंतिम पत्र। संपादक

दिनकर के काव्य में राष्ट्रीयता के विविध आयाम

एम. वेंकटेश्वर

दिनकर राष्ट्रीय भाव-धारा के प्रमुख कवि हैं। इस प्रसंग में ध्यान देने की बात यह है कि राष्ट्रीय भाव-धारा में कई अंतर्धाराएँ हैं, जैसे राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम की कई धाराएँ हैं। सभी धाराओं में समानता एक बात में है कि वे सभी ब्रिटिश सत्ता से भारत को मुक्त करने के पक्ष में हैं। सभी स्वतंत्रता के पक्ष में हैं, लेकिन अंग्रेजों से लड़ने के तरीकों के बारे में, स्वतंत्रता के स्वरूप के बारे में, स्वतंत्र भारत की व्यवस्था के बारे में उनमें तीखा मतभेद है। यह मतभेद राजनीति में ही नहीं, साहित्य में भी स्पष्टत: प्रतिबिंबित होता जा रहा है। राष्ट्रीय कविता से जो रूढ़ अर्थ लिया जाता रहा है, वह यही है कि प्रत्यक्षत: स्वाधीनता संग्राम को विषय बनाकर लिखी गयी कविता राष्ट्रीय कविता है।

''राष्ट्रीय कविता क्या है? राष्ट्रीय कविता केवल खून, फाँसी, हथकड़ी, बेड़ियों की कविता नहीं है। राष्ट्र की प्रत्येक चीज पवित्र है, गौरव की वस्तु है। राष्ट्र को मैं महान् विशाल मानता हूँ। इसे मैं समस्त भूत काल से लेकर भविष्य काल की नाप से नापता हूँ। ऐसी ही सनातन राष्ट्रवाणी है। राष्ट्रीय कविता घुंघरू बांधकर ही मनोरंजन नहीं करती या मधुर आलापों से माधव का गायन नहीं करती प्रत्युत् वह युद्ध के प्रभात काल में लंका कांड का भीषण रूप भी धारण कर लेती है और सैनिकों को बलि पथ पर आमंत्रित करती है।'' **माखनलाल चतुर्वेदी।**

माखनलाल चतुर्वेदी ने राष्ट्रीय कविता की जो विशेषता अपनी उपर्युक्त परिभाषा में दी है, दिनकर का समस्त काव्य उन विशेषताओं से ओत-प्रोत है। कविता में उनका प्रवेश विद्रोही राष्ट्रकवि के रूप में हुआ। जिस क्रांति और जिस राष्ट्रप्रेम की भावना को लेकर दिनकर ने काव्य क्षेत्र में प्रवेश किया, उसे भावात्मक गहनता और वैचारिक उत्कृष्टता के साथ वे अपने सम्पूर्ण काव्य-जीवन में प्रमुख स्थान देते रहे। उन्हें प्रारंभ से ही विद्रोहों और विरोधों से सहानुभूति रही है। उन्होंने गांधी की पूजा अंगारों से की है। दिनकर की राष्ट्रीयता को गांधी युग की विद्रोही राष्ट्रीयता की संज्ञा दी जाती है। उर्वशी के रचना काल में उनकी मानसिकता काम और अध्यात्म के अन्तर्सम्बन्धो को व्याख्यायित करती उलझी हुई दिखाई देती है फिर भी उनके हृदय में देश में व्याप्त अशांति के प्रति भारी रोष और आक्रोश की आग निरंतर धधकती रही। यह आग चीनी आक्रमण के समय एक बार फिर 'परशुराम की प्रतीक्षा' कविता में ज्वाला बनकर फूट पड़ी। इस कविता के सम्बन्ध में माखनलाल चतुर्वेदी ने कहा है-- ''इस कविता में तपन है, ज्वाला है और वर्तमान युग के लिए क्या नहीं है। दिनकर के इसी रूप को मैं देखना चाहता था। वह इस युग की ज्वालमाला है। दिनकर के काव्य में राष्ट्रीयता के तीन सोपान हैं- प्रथम सोपान के अंतर्गत दिनकर की वे कविताएँ आती हैं जिनमें तीव्र देश प्रेम की भावना के साथ तीव्र सामयिक प्रेरणा का समन्वय है। द्वितीय सोपान के अंतर्गत वे रचनाएँ आती हैं जिनमें इतिहास दृष्टि प्रधान है। देश प्रेम की भावना को अतीत के जीवन मूल्यों के प्रति आस्था के माध्यम से व्यक्त किया गया है। कुरूक्षेत्र और रश्मिरथी के अतिरिक्त अनेक स्फुट कविताओं में राष्ट्रीय

भावना के इसी रूप की व्यंजना है। तीसरे सोपान के अंतर्गत वे रचनाएँ आती हैं जिनमें देश की भावना उतनी तीव्र और स्थायी नहीं है जितनी सामयिक प्रेरणा। दिल्ली, नीम के पत्ते और हुंकार - संग्रह की कविताएं इसके अंतर्गत आती हैं। राष्ट्रीय काव्य की आंतरिक प्रेरणा देश प्रेम की भावना होती है। यह भावना राष्ट्रकवि का काव्य शक्ति - केन्द्र है। यह शक्ति - केन्द्र जितना ही पुष्ट होता है, कविता भी उतनी ही प्रभावी होती है। दिनकर के काव्य का शक्ति - केन्द्र है राष्ट्रप्रेम। उन्होंने अपने काव्य जीवन के प्रारंभ से ही देश की प्रत्येक धड़कन को पहचाना है। उन्हें जनचेतना को आंदोलित करने वाली छोटी से छोटी घटना ने स्पंदित किया है और उन्होंने अपनी भावना की ऊष्मा से उसे वाणी दी है। दिनकर की काव्य-चेतना का विकास भारतीय स्वाधीनता आंदोलन से जुड़ी घटनाओं के साथ हुआ है। उनकी काव्य रचनाएँ उस काल के इतिहास की साक्षी रही हैं।

अंग्रेजों ने सन् 1929 में जब दिल्ली पर आधिपत्य का जश्न मनाया था, उसी वर्ष भगत सिंह पकड़े गये और लाहौर कांग्रेस में पूर्ण स्वाधीनता का प्रस्ताव पारित हुआ। सन 1930 से सत्याग्रह आंदोलन शुरू हुआ और देश भर में अंग्रेजों का दमन चक्र जोरों से चल पड़ा। दिनकर ने दमन और उत्सव के विरोधाभास को रेखांकित करते हुए 'दिल्ली' कविता लिखी --

''और कहें क्या? धरा न धंसती,
हुंकारता न गगन संघाती।
हाय बंदिनी मां के सम्मुख,
सुत की निष्ठुर बलि चढ़ जाती।''

''अपनी गर्दन रेत-रेत असि की तीखी धारों पर
राजहंस बलिदान चढ़ाते, मां की हुंकारों पर।
पगली! देख जरा
क्या ऐसी मर मिटने की तैयारी है
जादू चले न धुन के पक्के इन बनजारों पर।''

सन् 1942 में कांग्रेस ने 'भारत छोड़ो' का नारा दिया। भारत की साम्यवादी पार्टी ने कांग्रेस का साथ नहीं दिया। क्योंकि रूस, जर्मनी के साथ युद्ध में मित्र देशों (इंग्लैंड, फ्राँस, रूस और अमेरिका) के साथ था। इसलिए भारत में स्थित साम्यवादियों ने रूस के इशारे पर अंग्रेजों का साथ दिया। परिणाम स्वरूप देश के शीर्ष नेता जेलों में बंद हो गये। इस अवसर पर दिनकर ने देश की व्यथा को 'दिल्ली और मास्को' कविता में आवेग के साथ व्यक्त किया--

''दहक रही मिट्टी स्वदेश की,
खौल रहा गंगा का पानी।
प्रचीरों में गरज रही है,
ज़ंज़ीरों में कसी जवानी।''

''यह सिद्धाग्नि प्रबुद्ध देश की जड़ता हरने वाली
जन जन के मन में बन पौरुष
शिखा विहरने वाली।
अर्पित करो समिध हे? समता के अभिमानी
इसी कुंड से निकलेगी भारत की लाल भवानी।''

सन् 1954 में रचित कविता -'भारत का रेशमी नगर' में राजधानी दिल्ली के वैभव और देश में व्याप्त अभावों की विषमता का अति संवेदनशील चित्र प्रस्तुत किया गया है। इस कविता में रेशमी नगर में रहने वाले देश के भाग्य विधाताओं को चेतावनी दी गई है-

''समझाए उनको कौन नहीं भारत वैसा,
दिल्ली के दर्पण में जैसा वह जगता है।
भारत धूलों से भरा आंसुओं से गीला,
भारत अब भी विपत्ति के घेरे में।''

''दिल्ली में तो है खूब ज्योति की चहल-पहल,
पर, भटक रहा है सारा देश अंधेरे में।
ऐसा टूटेगा मोह कि एक दिन के भीतर
इस राग रंग की पूरी बरबादी होगी।''

देश के अगणित नेताओं ने स्वतंत्रता आंदोलन में

अपने प्राणों की आहुति दी। किन्तु स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद स्वार्थी नेताओं ने सारे नैतिक मूल्यों को भुला दिया। वे जनता के दु:ख-दर्द को भूल गये। देश में मोह भंग की स्थिति पैदा हो गई। दिनकर देश की इस दयनीय दशा से चिंतित होते हैं। वे अपने मनोभावों को 'नीम के पत्ते' कविता में अभिव्यक्त करते हैं--

''झेलेगा यह बलिदान!
भूख की घनी चोट सह पायेगा
आ पड़ी विपदा तो क्या
प्रताप - सा घास चबा पायेगा?
है बड़ी बात आज़ादी का पाना ही
नहीं जुगाना भी
बलि एक बार ही नहीं
उसे फिर-फिर पड़ता दुहराना भी।''

देश में आजादी के बाद कुर्सी और पदों के लिए जो छीना-झपटी प्रारंभ हुई और जो आज भी जारी है, उसका दर्द दिनकर को बराबर कचोटता रहा। इस दर्द को अपनी कविता के माध्यम से वे देशवासियों को सुनाकर उन्हें सतत् सचेत करते रहे। स्वतंत्रता की पहली वर्षगांठ पर देश की दुर्दशा का वे बेबाक चित्र प्रस्तुत करते हैं -

''आज़ादी आई नहीं विकट कुहराम मचा
है मची हुई अच्छों-अच्छों में मारपीट
कहते हैं जो थे साधु सदी से पाक साफ़
डुबकियाँ लगा वे भी अब पानी पीते हैं
बिक रही आग के मोल आज हर जिंस मगर
अफ़सोस आदमीयत की ही कीमत न रही।''

(नीम के पत्ते)

स्वाधीनता प्राप्ति के वर्षों बाद भी जब देश की हालत नहीं सुधरती हुई दिखाई देती है; गरीबी, शोषण, बेरोजगारी, और भुखमरी की स्थिति के साथ-साथ भ्रष्टाचार का बढ़ता प्रकोप जन-जीवन को अस्त-व्यस्त करता हुआ दिखाई देता है तो दिनकर अपनी कलम उठाते हैं और राजनेताओं को ललकारते हैं --

''आगे बढ़ खड़ा-खड़ा इसकी आशा में समय बिताता है
जिनकी थी आस बहुत तुझको वे चले गये तहखानों में।''

(नीम के पत्ते)

दिनकर की क्रांति-चेतना और विद्रोह के सबसे तीखे तेवर 'कुरुक्षेत्र' महाकाव्य में दिखाई देत हैं। दिनकर की राष्ट्रीयता निश्चित ही उग्र राष्ट्रीयता है। अन्याय, अधर्म और असत्य के सम्मुख वे कभी हार नहीं मानते हैं। अधर्मी आततायी कौरव सेना को हर युग में हारना ही होता है। आपद्धर्म हेतु युद्ध के औचित्य को दिनकर ने इस महाकाव्य में स्थापित किया है। 'कुरुक्षेत्र' का युद्ध-दर्शन सर्वकालिक और सर्वजनीन सत्य का प्रतीक है। स्वत्व की रक्षा और स्थायी शांति की स्थापना हेतु जब युद्ध अनिवार्य हो जाए तो शस्त्र उठाना ही वीरोचित धर्म है क्योंकि हिंस्र पशु जब घेर लेते हैं तो केवल आत्मबल से अपनी रक्षा असंभव है। उस समय हिंसा से ही पशु का वध करना होता है। स्वत्व की रक्षा के लिए हर प्रकार का संघर्ष उचित और न्यायपूर्ण ही होता है-

''छीनता हो स्वत्व कोई, और तू,
त्याग तप से काम ले, यह पाप है,
पुण्य है विच्छिन्न कर देना उसे,
बढ़ रहा तेरी तरफ़ जो हाथ है।''

(कुरुक्षेत्र - द्वितीय सर्ग)

जब मनुष्य के स्वार्थ परस्पर टकराते हैं तब, युद्ध की स्थिति उत्पन्न होता है-

''युद्ध को तुम निंद्य कहते हो, मगर,
जब तलक हैं उठ रही चिनगारियां
भिन्न स्वार्थों के कुलिश - संघर्ष की,
युद्ध तब तक विश्व में अनिवार्य है।''

(कुरुक्षेत्र - द्वितीय सर्ग)

दिनकर युद्ध के कारणों का विश्लेषण करते हुए कहते हैं -

''शांति नहीं तब तक जब तक,
सुख-भाग न नर का सम हो,
नहीं किसी को बहुत अधिक हो,
नहीं किसी को कम हो।''

(कुरुक्षेत्र - तृतीय सर्ग)

कुरुक्षेत्र महाकाव्य में दिनकर की राष्ट्रवादी दृष्टि स्वाभिमान की रक्षा के लिए, न्याय और धर्म की स्थापना के लिए, अन्याय का अंत करने के लिए, हर युग में कुरुक्षेत्र संग्राम के औचित्य को दर्शाती है। कवि के यही भाव चीन के आक्रमण के समय एक बार फिर अपने पूरे आवेग और आवेश के साथ 'परशुराम की प्रतीक्षा' काव्य में फूट पड़ते हैं। इसमें भी कवि ने स्वत्व की रक्षा के लिए युद्ध की अनिवार्यता का उद्घोष करते हुए देशवासियों को शस्त्र धारण करने के लिए उद्बोधित किया है-

''छोड़ो मत अपनी आन शीश कट जाए,
मत झुको अनल पर भले व्योम फट जाए,
दो बार नहीं यमराज कंठ धरता है
मरता है जो वह एक बार मरता है।''

(परशुराम की प्रतीक्षा)

चीनी आक्रमण और उस युद्ध में भारत की पराजय ने भारतीय जन-मानस को हिलाकर रख दिया था। सारा देश पराजय की ग्लानि में डूब गया था। चीन के विश्वासघातपूर्ण रवैये से नेहरू जैसे नेता विक्षुब्ध हो चुके थे। ऐसी संकट की घड़ी में देश की भावनात्मक एकता ने विश्व के सम्मुख राष्ट्रीयता की एक बहुत सुंदर छवि प्रस्तुत की। दिनकर ने 'जनता जगी हुई' कविता में इसी एकता और उत्साह का ओजस्वी शैली में चित्रण किया है-

''भरत भूमि में किसी पुण्य शावक ने किया प्रवेश
धधक उठा है एक दीप-सी लौ - सा सारा देश
खौल रही नदियां मेघों में शंपा लहक रही है।
फट पड़ने को विफल
शैल की छाती दहक रही है।''

दिनकर अपने देश की पहचान इस देश के उदात्त आदर्शों और उनके लिए मर मिटने वाले महान् पुरुषों के आत्मदान से करवाना चाहते हैं। उनके विचार से भारत की महानता यहाँ की मानवतावादी संस्कृति से स्थापित हुई है जिसका मूल आधार समानता, न्याय, त्याग, तपस्या, साधना, क्षमा, दया, करुणा, जैसे उच्च कोटि के मानव-मूल्य हैं-

''भारत एक स्वप्न भू को ऊपर ले जाने वाला,
भारत एक विचार स्वर्ग को भू पर लाने वाला।
भारता एक भाव जिसे पाकर मनुष्य जगता है,
भारत एक जलज
जिस पर जल का न दाग लगता है।
भारत है संज्ञा विराग की उज्जवल आत्म उदय की,
भारत है आत्मा मनुष्य की सबसे बड़ी विजय की।''

(नील कुसुम)

दिनकर की कल्पना का भारत इस रूप में परिभाषित हुआ है-

''जहाँ त्याग माधुर्यपूर्ण हो, जहाँ भोग निष्काम
समरस हो कामना वहीं भारत को करो प्रणाम।''

(नील कुसुम)

दिनकर की काव्य-चेतना मुख्यत: सांस्कृतिक मूल्यों से युक्त राष्ट्रीयता के परम तत्व से संबद्ध है। उर्वशी जैसे कामाध्यात्म चिंतन-प्रधान महाकाव्य की रचना ने दिनकर को आध्यात्मिक विचारकों की श्रेणी में स्थापित किया। इसी के समकक्ष उनका राष्ट्रवादी काव्य और सांस्कृतिक गद्य उन्हें विश्व साहित्य में अमरता प्रदान करता है।

संपर्क सूत्र : फ्लैट नं॰ 310, कंचर्ला टॉवर्स, गोलकोंडा चौरास्ता, मुशीराबाद, हैदराबाद- 20

रामधारी सिंह 'दिनकर' का काव्य : राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना की सशक्त अभिव्यक्ति

प्रो. महावीर सरल जैन

रामधारी सिंह 'दिनकर' की कृतियों ने विचारकों का ध्यान जिन दिशाओं की ओर आकृष्ट किया है, वे हैं- उनकी ओजस्विता, गतिशीलता, गीतोन्मुखता, विद्रोही स्वर, सांस्कृतिक-राष्ट्रीय चेतना, मंगल कामना और विवेक की संयुक्ति तथा जनतांत्रिक विचार।

दिनकर के काव्य पर विचार करते समय कुछ प्रश्न उपस्थित होते हैं --

- क्या दिनकर स्वच्छंद धारा के कवि हैं?
- क्या दिनकर 'अज्ञेय' के कथन के अनुरूप रोमांटिक राष्ट्रवादी हैं अथवा डॉ. नागेंद्र के कथन के अनुरूप सांस्कृतिक राष्ट्रवादी कवि हैं?
- एक ही काल और परिस्थिति में जीवित रहकर भी दिनकर का काव्य पंत, प्रसाद, निराला और मैलिीशरण गुप्त के काव्य से किस प्रकार भिन्न है और क्या उसे किसी वाद के घेरे में बांधा जा सकता है?
- दिनकर का चिंतन केवल चिंतन ही है या कोई समाधान भी प्रस्तुत करता है?

स्वच्छंदतावाद को प्राय: यूरोपीय रोमांटिसिज्म का समानार्थी माना जाता है। हिन्दी के स्वच्छंदतावादी कवि जिन्हें 'छायावादी कवि' के नाम से अभिहित किया जाता है, भाव प्रवणता एवं कल्पना अथवा अंतर्दृष्टि के बल पर अंत: सौंदर्य का उद्घाटन करने में समर्थ रचनाकारों के रूप में अपनी पहचान स्थापित करते हैं। प्रकृति के कण-कण में आध्यात्मिक चेतना और सौंदर्य का प्रसार देखने के कारण उन्हें सर्वात्मवादी एवं प्रकृति-रहस्यवादी भी कहा गया है। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी रोमांटिक साहित्य के मूल में उन्मुक्त आवेगों की प्रधानता तथा कल्पना प्रवण अंतर्दृष्टि स्वीकार करते हैं तो पं नन्द- दुलारे बाजपेयी रोमांटिक धारा के मूल में स्वतंत्रता की लालसा और बंधनों के त्याग की व्याप्ति मानते हैं। यहाँ यह भी कहना अभीष्ट है कि हिन्दी स्वच्छंदतावादी काव्य में रोमानी प्रवृत्तियों की प्रधानता है किन्तु इसी काव्य-धारा में सांस्कृतिक राष्ट्रीय पक्ष की प्रमुखता को लेकर हिन्दी में जिन कवियों ने रचनाएँ की हैं, उनकी एक अलग उपधारा है और इस उपधारा के कवि हैं -

1. माखनलाल चतुर्वेदी, 2. सियाराम शरण गुप्त,
3. बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', 4. दिनकर।

कामायनी जैसी गरिमामयी कृति की विषय-वस्तु और उसकी शिल्पविधि का प्रभाव 'दिनकर' पर है किंतु उसके आगे वे नत शिर नहीं हुए। स्वच्छंदतावाद से दिनकर की भिन्नता को संकेत रूप में इस प्रकार अभिव्यक्त किया जा सकता है कि दिनकर ने 'बनफूल' को प्रकृति प्रेमी के रूप में नहीं बल्कि जीवनद्रष्टा के रूप में 'साधारण का प्रतीक मानकर श्रद्धापूर्वक ग्रहण किया है। वर्ण्य विषय का यह विपर्यय मूलत: स्वच्छंदतावाद से परिचालित होते हुए भी छायावादी काव्य-रूढ़ियों के विपरीत पड़ा है। दिनकर की प्रारंभिक रचनाओं में यह विपर्यय 'विद्रोह' के रूप में अंकित

है। आरंभिक काव्य में शृंगार और हुंकार की सम्मिलित भूमि देखी जा सकती है। 'रेणुका' काव्य-संकलन के आरम्भ में 'युगधर्म' और 'जागृति-हुंकार' अभिव्यक्त है। 'हिमालय के प्रति' कविता में राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना की खुली अभिव्यक्ति हुई है। पुण्य भूमि पर विकराल संकट आ पड़ा है और व्याकुल सुत तड़प रहे हैं। आह्वान है -

''कह दे शंकर से, आज करें,
वे प्रलय नृत्य फिर एक बार,
सारे भारत में गूँज उठे,
'हर-हर-बम' का फिर महोच्चार।''

'रेणुका' में कविताएँ राष्ट्रीय चेतना को साथ लेकर चलीं पर 'हुंकार' में कवि अधिक आक्रोशी मुद्रा अपनाता है। 'रसवंती' में दिनकर आरंभ से ही अधिक उदात्त भूमि पर खड़े दिखाई पड़ते हैं। तभी वे 'उर्वशी' में 'कामाध्यात्म' का प्रक्षेपण कर सके।

दिनकर के प्रारंभिक काव्य-चरण में स्वच्छंदतावादी काव्य के दो तत्व-रोमानी वृत्ति और राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना मुख्य रूप से दिखाई पड़ते हैं किन्तु प्रारम्भ से ही वे अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व के निर्माण के प्रति सचेत रहे और इसी कारण वे अधिक उदात्त भूमियों पर संचरण करने में सफल हुए।

दिनकर की 1955ई. में प्रकाशित 'नील-कुसुम' को हिन्दी के कुछ विद्वानों ने प्रयोगवादी रचना माना है किन्तु मेरी दृष्टि में 'नील-कुसुम' में संग्रहित रचनाएँ प्रयोगवादी रचनाएँ नहीं हैं:-

- दिनकर जी यह नहीं मानते कि जिस नई संवेदना के वे वाहक हैं वह हिन्दी के सामान्य पाठक को छू तक नहीं गई है।
- इसमें संकलित कविताओं के विषय 'अपरिचित, अप्रत्याशित और अनपेक्षित' नहीं हैं।
- प्रयोगवादी कविता मूलत: प्रश्नचिह्नों की कविता है, संदेह और आशंका की कविता है, नील कुसुम वैसी कृति नहीं है। उसमें परंपरा की सुरभि का अभाव नहीं है।

'नील कुसुम' उनकी काव्य यात्रा की ऐसी आधारशिला है जिस पर वे 'उर्वशी' जैसी प्रबंध रचना का निर्माण कर सके। कुरूक्षेत्र एवं उर्वशी उनके विशेष चर्चित आख्यान-काव्य हैं तथा इन कृतियों में दिनकर ने अपनी गीतात्मक प्रवृत्तियों को जीवन के कतिपय वृहत्तर संदर्भों की ओर मोड़ा। कुरूक्षेत्र में युद्ध एवं शांति का संदर्भ एवं प्रसंग है, पर संघर्ष से बचने का समर्थन नहीं है। युद्ध एक तूफान है जो भीषण विनाश करता है पर जब तक समाज में शोषण, दमन, अन्याय मौजूद है तब तक संघर्ष अनिवार्य है:-

''युद्ध को तुम निंद्य कहते हो, मगर
जब तलक हैं उठ रही चिनगारियाँ
भिन्न स्वार्थों के कुलिश-संघर्ष की
युद्ध तब तक विश्व में अनिवार्य है।''

''व्यक्ति की है धर्म, तप, करुणा, क्षमा,
व्यक्ति की शोभा विनय भी त्याग भी,
किन्तु उठता प्रश्न जब समुदाय का,
भूलना पड़ता हमें तप-त्याग को।''

दिनकर ने वैयक्तिक 'मुक्ति' की अपेक्षा सामाजिक प्रवृति की उपादेयता एवं सामाजिक समता को स्वीकार किया है:

''शांति नहीं तब तक, जब तक
सुख भाग न नर का सम हो
नहीं किसी को बहुत अधिक हो,
नहीं किसी को कम हो''

''जब तक मनुज-मनुज का यह

सुख-भाग नहीं सम होगा
शमित न होगा कोलाहल
संघर्ष नहीं कम होगा।''

वे भाग्यवाद में विश्वास नहीं करते। वे वर्तमान जीवन की विपदाओं, कष्टों, अभावों का कारण विगत जीवन के कर्मों को मानकर हाथ पर हाथ रखकर बैठना नहीं चाहते। जंगल में जाकर तप एवं साधना के बल पर आत्म-कल्याण करने में वे विश्वास नहीं रखते। वे मनुष्य के पुरुषार्थ को जगाने का उपक्रम करते हैं। वे समाज में रहकर संघर्ष, कर्म-कौशल, परिश्रम एवं उद्यम बल से समस्याओं के समाधान में विश्वास करते हैं।

''सब हो सकते तुष्ट, एक सा / सब सुख पा सकते हैं,
चाहें तो पल में धरती को / स्वर्ग बना सकते हैं
छिपा दिये सब तत्व आवरण / के नीचे ईश्वर ने
संघर्षों से खोज निकाला, / उन्हें उद्यमी नर ने।
ब्रह्मा से कुछ लिखा भाग्य में / मनुज नहीं लाया है;
अपना सुख उसने अपने / भुजबल से ही पाया है।
प्रकृति नहीं डर कर झुकती है / कभी भाग्य के बल से
सदा हारती वह मनुष्य के, / उद्यम से, श्रम जल से''

'उर्वशी' में पुरुरवा - उर्वशी की पौराणिक कथा के माध्यम से चिरंतन पुरुष तथा चिरंतन नारी के प्रश्नों पर विचार किया गया है। 'उर्वशी' हिन्दी के विद्वानों में विवादमूलक कृति रही है। कुछ आलोचकों ने कहा है कि 'उर्वशी' में एक दुर्निवार कामुक अहं ने अस्वाभाविक ढंग से आध्यात्मिक मुकुट पहनने की कोशिश की है तो कुछ आलोचकों ने उर्वशी को 'समाधिस्थचित्त' की देन बतलाया है। वास्तविकता यह है कि अध्यात्म की ओर मुड़ने वाला पुरुरवा भौतिक सुख से अतृप्त रहकर किसी अभौतिक सुख की ओर उच्छ्वसित भर ही है। उर्वशी सकल कामनाओं की प्रतीक है। अरविंद की भविष्यत् युग के बारे में धारणा है कि मानव बौद्धिक स्तर से ऊपर उठेगा और संबुद्धि के संकेतों से गतिशील होकर ऊर्ध्व यात्रा करेगा।

उर्वशी अपूर्णता से उत्तरोत्तर विकास की ओर की यात्रा है। उर्वशी में भौतिक स्तर पर अभिव्यंजित 'काम' का यदि आध्यात्मीकरण नहीं भी है तो कम से कम 'काम' का उदात्तीकरण अवश्य है।

अंत में, निष्कर्ष यह है कि रामधारी सिंह 'दिनकर' के काव्य में राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना की सशक्त अभिव्यक्ति हुई है। उन्होंने वैयक्तिक 'मुक्ति' की अपेक्षा सामाजिक समस्याओं के समाधान पर बल दिया है। उन्होंने व्यक्ति के पुरुषार्थ को सचेत किया है, प्रेरित किया है, जागृत किया है, उद्‌बुद्ध एवं प्रबुद्ध किया है। उनका विश्वास है कि व्यक्ति अपने श्रम, उद्यम एवं कर्म-कौशल से अपना भाग्य बना सकता है, अपनी तकदीर बदल सकता है। इसी दृष्टि से रामधारी सिंह 'दिनकर' का काव्य आज भी प्रासंगिक है।

संपर्क सूत्रः सेवा निवृत निदेशक, केंद्रीय हिन्दी संस्थान,
123 **हरि एन्क्लेव, बुलंदशहर** - 203001

संस्कृति के चार अध्याय: एक विशद पड़ताल भारतीय संस्कृति की

पंकज सुबीर

'संस्कृति के चार अध्याय' इस पुस्तक को क्या कहा जाए?क्या यह केवल एक ग्रंथ है?क्या यह केवल इतिहास है?क्या महज एक आख्यान है?मेरे विचार में तो नहीं। इस प्रकार की पुस्तकें केवल ग्रंथ या केवल आख्यान की श्रेणी में रख दी जाएँ तो मुझे लगता है हमारी विद्वता पर प्रश्न चिह्न लग जाएगा। इसलिए क्योंकि 'संस्कृति के चार अध्याय' का यदि हम ठीक प्रकार से आंकलन नहीं कर पा रहे हैं, तो उसका अर्थ है कि हमें अभी ज्ञान की कुछ श्रेणियाँ अथवा सोपान और अन्जान रास्तों की जिनकी दुर्गमता के कारण कोई वहाँ नहीं गया। तिस पर ये भी कि उन रास्तों पर इतने अवरोध पैदा कर दिये गए कि वहाँ जाने का साहस करना भी अंसभव की श्रेणी में रख दिया गया। अवरोध किसने खड़े किये?क्यों खड़े किये?ये प्रश्न ऐसे प्रश्न हैं जिनका उत्तर तलाशने की प्रक्रिया में कई सारे चेहरे उजाले में आ जाते हैं। चेहरे जिन पर दाग लगे हैं अपने ही इतिहास को लेकर भ्रम उत्पन्न करने के दाग। ये चेहरे जो इतिहास को मनमाने तरीके से दूषित करने के बाद भी मान्य रहे, स्वीकार्य रहे। 'संस्कृति के चार अध्याय' एक विशद पड़ताल है, इस बात की कि कहाँ-कहाँ भारतीय संस्कृति की इस पावन धारा में कीच डाला गया। कहाँ-कहाँ डाला गया, तथा किस-किस ने यह अक्षम्य अपराध किया। इस प्रकार की पड़तालें किसी भी समय समाज के लिये नितांत आवश्यक हैं, अगर वो चाहता है कि वह लम्बे समय तक बना रहे। सभ्यता तथा असभ्यता, ये दोनों ही निर्भर करती हैं संस्कृति पर। कोई भी देश, समाज या व्यक्ति यूं ही नहीं हो जाता है असभ्य, बर्बर तथा दिशाहीन। वस्तुत: तो यह प्रदूषण के कारण होता है, सांस्कृतिक प्रदूषण के कारण। सांस्कृतिक प्रदूषण जो धीरे-धीरे पीढ़ियों में फैलता है धीमे ज़हर की तरह। इसका प्रभाव भले ही ऊपर से दीख नहीं पड़ता, किन्तु, यह देश, समाज तथा व्यक्ति तीनों को खोखला करता है। तथा इस प्रकार से खोखला करता है कि फिर समय की तो हवा उसे जड़ से उखाड़कर फेंक देती है। बहुत घातक होता है यह सांस्कृतिक प्रदूषण। इसी का उपचार होते हैं 'सस्कृति के चार अध्याय' सरीखे ग्रंथ। ये ग्रंथ जन मानस को चेताने का कार्य करते हैं। ये ग्रंथ आत्मा की दृष्टिहीनता का श्रेष्ठ उपचार होते हैं। शरीर की दृष्टिहीनता, धृतराष्ट्र की दृष्टिहीनता है, किन्तु, आत्मा की दृष्टिहीनता गांधारी की दृष्टिहीनता है, जो जान-बूझकर अपने ही हाथों से अपनी ही आँखों पर पट्टी बाँधे हुए है। इसी पट्टी को खोलने का काम करते हैं 'संस्कृति के चार अध्याय' जैसे ग्रंथ। वे सभ्यताएँ बच जाती हैं जिनको ठीक समय पर कोई आचार्य रामधारी सिंह दिनकर मिल जाता है। उसमें भी यह कि वे सभ्यताएँ परम सौभाग्यशाली होती हैं जिनको न केवल 'संस्कृति के चार अध्याय' तथा आचार्य रामधारी सिंह 'दिनकर' मिलते हैं बल्कि यह भी कि उनका वह दिनकर कवि भी होता है, कवि भी कोई ऐसा वैसा नहीं बल्कि वेदना को स्वर देने वाला कवि, संवदेना को वाणी प्रदान करने वाला कवि।

किसी अन्य व्यक्ति, देश, समाज अथवा संस्कृति से अपरिचित होना कोई ऐसी बात नहीं है जो कि बहुत चिंताजनक हो। लेकिन यदि आप अपने ही देश, अपने ही समाज, अपनी ही सभ्यता तथा अपनी ही संस्कृति से परिचित नहीं हैं तो आप का होना देश, समाज, सभ्यता तथा संस्कृति सभी के लिये हानिकारक है। आप की स्थिति उस अज्ञानी बालक की तरह है जो गुस्से में आकर वस्तुओं को तोड़-फोड़

देता है, बिना यह जाने कि उस वस्तु के निर्माण मे कितना परिश्रम व्यय हुआ था। हम भी अपने ही देश को, अपनी ही संस्कृति को केवल इसीलिये क्षति पहुंचाते हैं कि हमें ज्ञात ही कब है कि कितने हजार सालों में तैयार हुई है यह संस्कृति, यह देश। 'संस्कृति के चार अध्याय' हमें पूरी यात्रा करवाता है कि कहाँ-कहाँ से गुजर कर यह संस्कृति इस स्थान तक आई है। यह स्थान, जहां काल के इस विशेष खंड में यह हमारे हाथों में है, हम जो बीत जाने की नियति लेकर आए हैं, हम जो बाध्य हैं इस संस्कृति को अपने बाद की पीढ़ी को सौंपकर विदा लेने हेतु। यह जो व्यक्ति है, जो समाज की संरचना करता है, समाज जो संस्कृति का निर्धारण करता है, यह व्यक्ति यदि आज हम हैं तो निश्चित रूप से कल, हमारे बाद की पीढ़ी 'यह व्यक्ति' बनेगी तथा यह सब यूं ही चलता रहेगा। इस चलते रहने में जो 'यूँ ही' होता है उसे ही बदलने का प्रयास होते हैं 'संस्कृति के चार अध्याय' के जैसे ग्रंथ। हम क्या देकर विदा हो रहे हैं अपने ठीक बाद की पीढ़ी को?जो हम देकर जाएँगे वही आगे हस्तांतरित हो जाएगा, होता रहेगा, होता रहेगा, तब तक, जब तक कि 'संस्कृति के चार अध्याय' जैसा कोई ग्रंथ आकर नहीं कहेगा कि 'महाशय पहले जान तो लीजिए अपनी सभ्यता के इतिहास को, अपनी संस्कृति को, तब बताइयेगा कि जो संस्कृति आप हस्तांतरित कर रहे हैं, क्या यह वही है जो हमारी है या फिर उसके भ्रम में हम कहीं वह अप संस्कृति तो नहीं थामे हैं जिसे कतिपय शरारती तत्त्वों ने हमारी बताकर न जाने कब हमारे हाथ में थमा दिया था।

किसी भी कवि के लिए सबसे आवश्यक होता है कि वह अपने समाज तथा देश के इतिहास से अच्छी तरह से भिज्ञ हो। यहाँ पर प्रश्न उठता है कि कवि कौन?किसे कवि कहा जाए?आचार्य दिनकर के ही शब्दों में 'कवि वह होता है जो अपने समकालीनों की तुलना में कुछ अधिक जीवित और चैतन्य होता है। उसे ऐसी बातें भी सुनाई देती हैं जिन बातों तक औसत मनुष्य के कान नहीं पहुंच पाते हैं। 'संस्कृति के चार अध्याय' में ही कवि की यह परिभाषा आचार्य दिनकर जी ने दी है। यहाँ पर भी 'कुछ अधिक जीवित' यह बात दिनकर जी ने जान-बूझकर लिखी है। जो अपने इतिहास से भिज्ञ नहीं है वह और कुछ भी हो किन्तु कवि तो नहीं हो सकता। किन्तु क्या कवि का लिखा हुआ सब कुछ इतिहास की श्रेणी में आ जाएगा?तो फिर तो हमारे ही देश में सदियों से चारण भाटों द्वारा कवित्त के रूप में विरदावलियाँ तथा प्रशस्तिगान लिखने की परम्परा रही है। परम्परा, जो आज भी कायम है, आज विरदावलियों का स्थान राजनीतिज्ञों पर लिखे चालीसाओं ने ले ली है। तो क्या ये सब भी इतिहास माना जाएगा?हमें इस प्रश्न का उत्तर भी दिनकर जी की ही परिभाषा में तलाश करना होगा। क्या ये विरदावलियाँ लिखने वाले लोग (मैं जानबूझकर इनके लिए कवि शब्द का उपयोग नहीं कर रहा हूँ।) सचमुच अपने समकालीनों से कुछ ज्यादा जीवित कुछ अधिक चैतन्य है?नहीं, ये तो उनसे भी ज्यादा मृत हैं। इनको तो अपने नायक के अलावा कुछ भी दिखाई नहीं दे रहा। न अव्यवस्था, न भूख, न गरीबी, कुछ नहीं। इन तथाकथित स्वघोषित कवियों को तो न अपने देश का अपने समाज का, इतिहास ज्ञात है न अपना स्वयं का।

तो फिर किसे माना जाए इतिहास ...?निश्चित रूप से 'संस्कृति के चार अध्याय' को। क्यों ...?क्योंकि इसमें दो चीजें नहीं हैं अनुराग तथा द्वेष। जो सचमुच कवि होता है, वह जन्म से ही इन दोनों से मुक्त होता है। इसीलिये उसकी रचनाएँ भी इन दोनों दुर्गुणों से मुक्त होती हैं। तो क्या अनुराग भी एक दुर्गुण है?बिल्कुल है, किसी भी कवि के लिये द्वेष से बड़ा दुर्गुण अनुराग होता है। द्वेष के चलते तो वह एक व्यक्ति को नायक से खलनायक बनाकर उस व्यक्ति को नुकसान पहुंचाता है, किन्तु अनुराग के चलते तो वह खलनायक को नायक बनाकर समूचे समाज को नुकसान पहुंचाता है, अनुराग के चलते ही वह विरदावलियाँ लिखता है खलनायक को नायकत्व प्रदान करने हेतु। 'संस्कृति के चार अध्याय' में न तो अनुराग है और न द्वेष है। इतिहास तथा काव्य के होने की सबसे बड़ी कसौटी यह होती है कि वह कभी भी पक्ष न बन जाए। वह बिन्दु जहाँ पर आकर कविता पक्ष बन जाती है 'वाद' बन जाती है, ठीक उसी बिन्दु पर वह समाप्त हो जाती है। इतिहास के साथ भी यही मुश्किल है कि जहाँ पर इतिहास किसी विशेष 'वाद' का पोषण करने लगता है ठीक उस जगह वह इतिहास न होकर उस 'वाद' का मुखपत्र बन

जाता है। हमारे दुर्भाग्य से हमारे ग्रंथालयों के इतिहास खंड इसी प्रकार के मुखपत्रों से भरे पड़े हैं। 'संस्कृति के चार अध्याय' जैसे ग्रंथ उंगलियों पर गिनने लायक ही हैं। निरपेक्ष होना इस ग्रंथ की सबसे बड़ी शक्ति है और निरपेक्ष होना इसलिए भी संभव हो पाया कि इस ग्रंथ को रचने वाला एक 'सचमुच का कवि' है।

'सचमुच का कवि' ये क्या है?दिनकर जी स्वयं ही 'संस्कृति के चार अध्याय' में लिखते हैं 'समाज की धड़कन कवि के कलेजे में उठती है तथा उसकी शंकाएँ तथा विश्वास कवि के मुख से उद्‌गीर्ण होते हैं।' यदि इसी परिभाषा की छाँव में बैठकर इस 'सचमुच के कवि' को तलाशा जाए तो सचमुच का कवि वही होता है जो हर युग में कहता है 'सिंहासन खाली करो कि जनता आती है'। कवि राजा का चारण नहीं होता, कवि व्यवस्था का भाट नहीं होता, कवि तो जन का चारण होता है, जनता का चारण होता है। जो जनता का चारण होता है वही 'सचमुच का कवि' होता है। यही सचमुच का कवि जब इतिहास लिखता है तो वह सचमुच का इतिहास होता है, शत-प्रतिशत तथा पूरी तरह से जन को समर्पित इतिहास। 'संस्कृति के चार अध्याय' में दिनकर जी ने पूरी तरह से जन को समर्पित होकर तथा जन को ही समर्पित करके इतिहास लिखा है। इसीलिये ये इतिहास जन के लिये है। एक सामान्य इतिहासकार तथा एक इतिहासकार कवि में क्या फर्क होता है उसे जानने के लिये 'संस्कृति के चार अध्याय' श्रेष्ठ ग्रंथ है। फर्क होता है दृष्टि का, फर्क होता है कुछ अधिक जीवित तथा चैतन्य होने का। कवि, या यूं कहे कि सचमुच का कवि कभी भी दीपक के प्रकाश का स्पर्श जहां तक हो रहा है वहाँ से प्रारंभ नहीं करता। वह जाता है उन स्थानों पर जहाँ पर दीपक का प्रकाश पहुंच ही नहीं पा रहा है, और इसके लिये वह सबसे पहले देखता है उस दीपक के ही नीचे जहाँ से अंधकार की शुरूआत होती है। कवि हर उस अंधेरे कमरे को खोलता है जहाँ पर किसी 'वाद' के पोषक इतिहासकार ने ताला लगा दिया और चाबी को भ्रम के अतल सागर में फेंक दिया है।

'संस्कृति के चार अध्याय' लिखते समय दिनकर जी उन सारे अँधेरे कमरों को खोलते हैं। और ऐसा करने के लिये वे उस चाबी को तलाश नहीं करते जो 'वाद' की भूल-भुलैया में कहीं खो गई है। वे बहुत मनोयोग से उस ताले में अपनी कलम की स्याही डालते हैं फिर किसी साधक की तरह बैठकर उस पर अपने विचारों की हथौड़ी से धीरे-धीरे प्रहार करते हैं और उसे खोल डालते हैं। वह सब कुछ प्रकाश में आ जाता है जो षडयंत्रपूर्वक गोपन कर दिया गया था। हम ठगे से रह जाते हैं कि 'अरे... हमें तो कुछ और ही बताया गया था।' 'संस्कृति के चार अध्याय' लिखकर दिनकर जी ने इतिहास के जाले साफ करने का प्रयास किया है तथा इसे पढ़ने के बाद पढ़ने वाले के दिमाग पर पड़े जाले भी साफ हो जाते हैं। एक और महत्पूर्ण तथ्य यह है कि दिनकर जी किसी भी ऐसे कमरे को नहीं छोड़ते जिस पर लगा ताला खोलकर उन्होंने उसके जाले साफ नहीं किये हों। दरअसल 'वाद' के ताले ऐसे ही होते हैं, कुछ आसानी से खुल जाते हैं तो कुछ को खोलना दुरूह होता है। किन्तु, अंततः सबको खुलना ही है। 'संस्कृति के चार अध्याय' में सबसे आनन्ददायक है दिनकर जी को इन तालों को खोलते हुए देखना, वे न तो कुतक का भारी हथौड़ा मारकर ताले को तोड़ते हैं ओर न ही उन तालों के सामने समर्पण करके उनको छोड़ते हैं। वे बहुत ही धैर्यपूर्ण तरीके से तर्कों की छैनी को विचारों की हथौड़ी से धीरे-धीरे, टुक-टुक करके उस ताले पर मारते हैं। यह एक थका देने वाली प्रक्रिया होती है किन्तु इसी के गर्भ में तो सत्य छिपा है। ताले की नियति है कि उसको अंततः खुलना पड़ता है। 'संस्कृति के चार अध्याय' को पढ़ते समय यह जो क्रिया है यह बहुत आंनद उत्पन्न करती है। दिनकर जी ने जो कष्ट-साध्य परिश्रम किया है वह स्तुत्य है। अगर वे भी इतिहास के 'परिवर्तित मार्ग' से होकर गुजर जाते तो शायद हम जान ही नहीं पाते कि यात्रा में जहाँ पर फला 'वाद' ने 'परिवर्तित मार्ग' का बोर्ड लगा दिया था, वहाँ वास्तविक मार्ग पर क्या परेशानी थी?और थी भी, या मात्र उसका भ्रम पैदा किया जा रहा था। दिनकर जी किसी भी 'परिवर्तित मार्ग' से होकर निकलना स्वीकार नहीं करते हैं 'संस्कृति के चार अध्याय' को लिखते समय। इतिहासकार और कवि में यही फर्क होता है। दिनकर जी 'परिवर्तित मार्ग' की तख्तियों को धता बताते हुए सीधे मार्ग पर चलते हैं। 'संस्कृति के चार

अध्याय' को इसीलिए मैं इतिहास का सबसे प्रामाणिक ग्रंथ मानता हूँ। यह धर्मों, जातियों, समाजों सबसे ऊपर उठकर लिखा जाता है, और सबसे महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि यह ग्रंथ साहित्य तथा इतिहास की सबसे घृणित बीमारी 'वाद' से कहीं किसी पृष्ठ पर किसी पंक्ति में ग्रस्त होता नहीं दिखता है।

'संस्कृति के चार अध्याय' इस ग्रंथ को संभवत: आचार्य रामधारी सिंह दिनकर ने इतिहास के शोधार्थियों तथा विद्यार्थियों के लिये, या उनको दृष्टिगत रखते हुए नहीं लिखा है। यह आम जन के लिये है यह साहित्य के आम पाठक के लिये है। इसका प्रमाण है इसकी भाषा तथा शैली। आम इतिहास कथ्य से ज्यादा तारीखों तथा वर्षों पर ज्यादा ध्यान देता है, क्योंकि, उसको अपनी प्रमाणिकता सिद्ध करनी होती है किन्तु आचार्य रामधारी सिंह दिनकर चूंकि स्वयं कवि हैं इसलिये वे तारीखों, वर्षों की भूल-भुलैया में नहीं उलझते वे सीधे कथ्य पर आते हैं। वे जानते हैं कि उनकी इस पुस्तक को पढ़ने वाले उस आम पाठक के इस बात से कोई सरोकार नहीं है कि पानीपत का दूसरा युद्ध किस सन् में या किस तारीख को हुआ। उसको तो केवल यह जानने में दिलचस्पी है कि युद्ध होने के पूर्व की परिस्थितियाँ क्या थीं तथा युद्ध का क्या प्रभाव समाज तथा संस्कृति पर पड़ा। हालांकि आचार्य दिनकर जी ने भी हर घटना के वर्ष तथा तारीख का उल्लेख किया है, लेकिन, यह उल्लेख केवल सूचनाप्रद है कि जब ये घटना हो रही थी तब क्या कालखंड था। मगर वास्तविक रूप से ये तारीखें गौण हैं, क्योंकि, दिनकर जी इनको कथ्य में नहीं गूँथते, वे सूचना के साथ ही उनको समाप्त कर देते हैं तथा तुरंत विषय पर आ जाते हैं। दिनकर जी का यह ग्रंथ आमजन के लिये हैं उसका प्रमाण इसकी शैली है। यदि शैली की बात की जाए तो पहले चर्चा करनी होगी पंडित जवाहर लाल नेहरू के ग्रंथ 'डिस्कवरी ऑफ इंडिया' की। वैसे तो इन दोनों ग्रंथों का बुनियादी अंतर इनके नामों से ही ज्ञात हो जाता है, किन्तु फिर भी यदि हम केवल शैली की ही बात करें, तो पंडित नेहरू की शैली कुछ क्लिष्ट है, वह इतिहासकारों वाली शैली है। यद्यपि किस्सागो शैली को दोनों ने अपनाया है, पंडित नेहरू ने भी तथा आचार्य दिनकर ने भी, किन्तु फिर भी पंडित नेहरू की जो किस्सागो वाली शैली है, वो इतिहास के किसी प्रोफेसर वाली है और आचार्य दिनकर की शैली गांव की चौपाल पर आसन जमा कर बैठे किसी विद्वान तथा अनुभवी वृद्ध की शैली है। इसीलिये यह शैली जनमानस को अपनी तरफ कुछ ज्यादा खींचती है। दोनों की शैली किस्सागो वाली ही होने के बाद भी दिनकर जी जहां जनोन्मुख ज्यादा नजर आते हैं तो उसके पीछे कारण है उस शैली में 'अब क्या होगा?' की रोचकता को बनाए रखना। रोचकता, जो कवि की कविताओं का प्रमुख तत्व होती है उस तत्व को कुशलता के साथ 'संस्कृति के चार अध्याय' में गूँथा गया है।

'संस्कृति के चार अध्याय' इस ग्रंथ की एक और विशेषता है इसकी सहजता, और वो भी बोधगम्य सहजता। जैसे तीसरे अध्याय के 'हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्ध' नामक प्रकरण में एक बात दिनकर जी ने बहुत सहजता के साथ लिखी है। सहजता के साथ लिखी जरूर है, किन्तु, बात इतनी छोटी नहीं है कि उसको इस प्रकार से लिया भी जाए। वे लिखते हैं 'हिन्दू-मुस्लिम एकता के हमारे देश में तीन बड़े नेता, कबीर अकबर और महात्मा गाँधी हुए हैं।' इस्लाम के भारत आगमन से लेकर यहाँ तक के सफर में यदि वे केवल तीन नामों को छांटते हैं तो जाहिर सी बात है कि इस पर तर्क तथा बहस की गुंजाइश को छोड़ते हुए वे ऐसा करते हैं। फिर ये कि वे लगभग सीधे-सीधे ही कह देते हैं, और कोई नहीं, केवल तीन। बात बहुत बड़ी है फिर भी उसे कहने तथा स्थापित करने में दिनकर जी पूरी तरह से सहज बने रहते हैं। इस पंक्ति के ठीक पहले लिखी हुई पंक्ति भी इस परिप्रेक्ष्य में महत्वपूर्ण है, वे लिखते हैं 'भारत में इस नए आन्दोलन हिन्दू-मुस्लिम संबंध के सबसे बड़े नेता महात्मा कबीर दास हुए। कबीर को अमूमन संत कबीरदास कह कर ही पुकारा जाता है। कदाचित 'संस्कृति के चार अध्याय' में ही उनके लिए महात्मा तथा नेता ये दोनों शब्द प्रयुक्त हुए हैं। नेता शब्द का प्रयोग उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम संबंधों को मधुर बनाने का प्रयत्न करने वाले आंदोलन के नेता के रूप में किया है। 'संस्कृति के चार अध्याय' में अत्यंत ही सहजता के साथ एक और बात भी आती है, दिनकर जी कृष्ण की प्रिय गोपी राधा को लेकर प्रश्न उठाते हुए कहते हैं 'वैष्णवों के तीन

प्रसिद्ध पुराण हैं, हरिवंश पुराण, विष्णु पुराण तथा भागवत पुराण, लेकिन इनमें से किसी में राधा नाम का उल्लेख नहीं है। भागवत में कथा आयी है कि कृष्ण ने सभी गोपियों को छोड़कर एक गोपी से अलग मुलाकात की। बस भक्तगण इसे ले उड़े और उसी गोपी को राधा मानने लगे।' बात उतनी छोटी नहीं है जितनी सहजता के साथ दिनकर जी कह रहे हैं, किन्तु इतिहासकार, कवि तभी संतुष्ट होता है जब उसे प्रमाण दिखाए जाते हैं, यहाँ पर चूंकि प्रमाण को लेकर दिनकर जी के मन में संशय है इसलिए वे इतनी बड़ी बात कह जाते हैं। राधा के होने पर प्रश्न चिह्न लगा देना यह कार्य किसी 'सचमुच के कवि' के ही बूते की बात है। यही एक बात बताती है कि दिनकर जी ने यह ग्रंथ अनुराग तथा द्वेष से पूरी तरह परे रहकर रचा है। कुछ ऐसी ही सहजता वे हिन्दू शब्द की स्थापना करते हुए बनाए रखते हैं, जब वे कहते हैं 'प्राचीन संस्कृत तथा पालि ग्रन्थों में हिन्दू नाम कहीं नहीं मिलता है' इस प्रकार वे एक और बड़ा प्रश्न चिह्न लगा देते हैं।

इतिहास तथा श्रुति, ये दो प्रकार की बाते हैं। कई बार ऐसा होता है कि श्रुति जो कहती है इतिहास उसका खंडन करता है तो कई बार ऐसा भी होता है कि श्रुति जो कहती है इतिहास उसकी पुष्टि करता है। इन सब के बाद भी जन को श्रुतियों पर ही अधिक विश्वास होता है। इसलिए भी क्योंकि श्रुतियों को वह आसानी से समझ पाता है तथा जीवन में उतार पाता है। आचार्य दिनकर जी ने संभवत: इसी बात को ध्यान में रखकर इस ग्रंथ की रचना की है। उन्होंने इतिहास को श्रुति की तरह प्रस्तुत किया है। वे जानते थे कि हजारों हजार साल तक इस देश का इतिहास श्रुतियों के ही माध्यम से चला है। उस समय का इतिहास ढूँढने के लिये इतिहासकारों को भी श्रुतियों के गलियारों में जाना पड़ा। श्रुतियाँ, जो हर भाषा में, हर बोली में तथा हर काल खंड में उपस्थित थीं। समय का प्रवाह जिन पर विस्मृति की रेत कभी नहीं डाल पाया। ये पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरित होती रहीं, 'हमसे कहके तुमसे सुनके' वाली शैली में। दिनकर जी इस पूरे ग्रंथ को जो कि प्रामाणिकता में कहीं सूत भर भी इधर-उधर नहीं होता इसी 'हमसे कहके तुमसे सुनके' वाली शैली में लिखा है। इसी कारण इस ग्रंथ को पढ़ने में जहां श्रुतियों को सुनने वाला आनंद मिलता है, वहीं यह भी विश्वास रहता है कि यह एक प्रमाणिक इतिहास है। जैसे राजपूतों के संदर्भ में वे लिखते हैं 'मध्य एशिया में हूण नामक एक बर्बर जाति उपद्रव मचा रही थी, पांचवी सदी में उनके दल के दल रोम और भारतवर्ष में घुसे। ब्राह्मणों ने उन्हें शुद्ध करके राजपूत बना दिया।' और फिर कुछ आगे लिखते हैं 'जब गजनवी तथा गौरी के खिलाफ भारत के राजपूत युद्ध कर रहे थे तब युद्ध एक तरह से हूणों के ही दो दलों के बीच था। गजनवी तथा गोरी दोनों ही वे हूण थे जिन्होंने इस्लाम स्वीकार कर लिया था, वहीं भारत में जो उनका मुकाबला कर रहे थे उसमें भी अधिकांश वे ही लोग थे जो हूण देश से आए थे तथा शुद्धि के बाद राजपूत बना दिये गए थे।' सुनने में यह पूरी बात श्रुति की तरह लगती है, किन्तु है एक प्रमाणित इतिहास। इस मामले में इतिहासकारों ने काफी कुछ लिखा है तथा 'वाद' का प्रदूषण फैलाने वालों ने भी इस मामले को अपने-अपने तरीके से भुनाया है किन्तु सच यही है वह वास्तव में दोनों ओर से हो रहा हूणों का युद्ध था। हूण, जिनके रक्त में ही युद्ध था। जिन्होंने इस्लाम कबूल कर लिया तब भी यह युद्ध उनके रक्त में रहा, और इधर राजपूत हो गए तब भी यह युद्ध उनके रक्त में रहा। कितनी आसानी से इस तथ्य को स्थापित कर देते हैं दिनकर जी कि मुहम्मद गौरी तथा पृथ्वीराज चौहान का युद्ध कोई हिन्दू और इस्लाम का युद्ध नहीं था बल्कि वह हूणों का आपसी मामला था।

'संस्कृति के चार अध्याय' को इतिहास समझने का सबसे आसान ग्रंथ इसलिए माना जा सकता है कि इसमें इतिहास को चार अध्यायों में बाँट दिया गया है। चार अध्याय जिनमें भारत के बनने को बताया गया है। इसमें इतिहास को चार संस्कृतियों के माध्यम से बात करते हुए स्पष्ट किया गया है। संस्कृतियाँ जिन्होंने भारत की उस जनता की रचना की जो आज है। यदि अपनी ही बात करूँ तो एक प्रश्न मुझे बचपन से ही मथता रहा है कि यहाँ भारत में इतनी ज्यादा विभिन्नताएँ क्यों हैं?कहीं भाषा की, कहीं धर्म की, कहीं संस्कृति की। लेकिन 'संस्कृति के चार अध्याय' उन सब प्रश्नों के उत्तर देती है। पहले ही अध्याय का प्रकरण प्रथम 'भारतीय जनता

की रचना' इतना रोचक है कि इसे कई बार पढ़ने की चाह होती है। यह प्रकरण बिल्कुल ठीक तरीके से ग्रंथ को प्रारंभ करता है। वास्तव में ये जो प्रथम अध्याय है भारतीय जनता की रचना और हिन्दू संस्कृति का आविर्भाव यह अध्याय उन सब बातों की विशद चर्चा करता है जिन बातों की हम सदियों से चर्चा करते आए हैं, तथा जिन प्रश्नों को लेकर हम हमेशा उत्सुक रहे हैं। यह पूरा अध्याय उस काल खंड को समर्पित है जब राम, कृष्ण जैसे नाम हुए, जब आर्य तथा द्रविड़ जैसी सभ्यताओं का संगम इस भूंखड पर हुआ। यह अध्याय हिन्दुस्तान के वर्तमान की काफी कुछ कहानी कह देता है।

इसी प्रकार दूसरा अध्याय 'प्राचीन हिन्दुत्व से विद्रोह' इसमें जैन धर्म तथा बौद्ध धर्म के प्रादुर्भाव की गाथा है। इसमें दिनकर जी ने बड़ी सूक्ष्मता से इस बात को रेखांखिन किया है कि क्यों भारत से उपजा यह बौद्ध धर्म विश्वभर में तो फैला किन्तु अपने ही घर अर्थात् भारत में लुप्त हो गया। अध्याय का अंत जिस प्रकरण 'बौद्ध धर्म का लोप' से होता है उसमें कई सारी भ्रांतियों का खंडन किया गया है। इसका अंत कुछ इस प्रकार होता 'जब बौद्ध साधु, औघड़ों के सामन आचरण करने लगे तब जनता उनके विरुद्ध हो गई।' तीसरा अध्याय 'हिन्दू संस्कृति और इस्लाम' यह वो अध्याय है जिसका पढ़ा जाना आज के इस दौर में बहुत आवश्यक है। यह अध्याय भारत में हिन्दू और मुस्लिम के बीच की खाई के कारणों को न केवल तलाशता है बल्कि उसको समाप्त करने के उपाप भी सुझाता है। आज जब हर तरफ सांप्रदायिक विद्वेष की आग फैली है तब यह अध्याय बहुत कुछ करने में सक्षम है, बशर्ते इसका उपयोग किया जाए। फिर चौथा अध्याय 'भारतीय संस्कृति और यूरोप' चौथे कालखंड की गाथा है या यूं कहें कि आर्यों, द्रविड़ों तथा इस्लाम के सम्मिश्रण से बने देश के आधुनिक होने की कथा है।

'संस्कृति के चार अध्याय' इस ग्रंथ के छोटे-छोटे हिस्से करके कई सारी पुस्तकें बनाई जानी चाहिये। पुस्तकें, जो ठीक रूप से समझने योग्य होने अर्थात् कक्षा दस के पश्चात् पढ़ाया जाना अनिवार्य हो, हर कक्षा में एक खण्ड पढ़ाया जाये। जब एक हिन्दू छात्र पढ़ेगा कि 'जिस इस्लाम का प्रवर्तन हजरत मुहम्मद ने किया और जिसका रूप अबूबक्र, उमर, उस्मान तथा अली जैसे खलीफों ने संवारा वह धर्म स्वच्छ धर्म था उसके अनुयायी सच्चरित्र दयालु और ईमानदार थे।' तो उसके मन में इस्लाम के प्रति सम्मान का भाव जागेगा। मेरा ऐसा मानना है कि जब स्नातक में वह 'संस्कृति के चार अध्याय' का पूरा अध्ययन करके निकलेगा तो उसकी स्थिति इस प्रकार की होगी कि उसको श्रुतियाँ सुनाकर बरगलाया नहीं जा सकेगा। उसे सब कुछ ज्ञात होगा, वह अपने देश तथा समाज के बनने की पूरी गाथा से पूर्णत: भिज्ञ होगा, उसके पास अपने तर्क होंगे। तर्क, जो उसने इस महान ग्रंथ से लिये होंगे। संस्कृति के चारों चरणों की विस्तृत जानकारी उसके पास होगी। आज हम देखते हैं कि खूब पढ़े-लिखे स्नातक और स्नातकोत्तर विद्यार्थी भी आर्य, द्रविड़ जैसे शब्दों को सुनकर बगलें झांकने लगते हैं, उस समय में 'संस्कृति के चार अध्याय' एक प्रकार से बुद्धि को संस्कारित करने का कार्य कर सकता है। 'संस्कृति के चार अध्याय' को आचार्य दिनकर ने एक उद्देश्य से लिखा है। आंखों पर बंधी हुई पट्टियाँ खोलने के उद्देश्य से। पट्टियाँ, जो समाज की तथा व्यक्ति की आंखों पर बंधी हैं। पट्टियां, जो सबसे बड़ा कारण हैं सांप्रदायिक वैमनस्यता का। किन्तु ये पट्टियाँ तभी खोली जा सकती है जब यह ग्रंथ जन-जन तक पहुंचे। उन लोगों तक जिनको इसकी आवश्यकता है। जो ये भी नहीं जानते कि उनकी आवश्यकता क्या है। धर्म के नाम पर हम कई प्रकार के संस्कार बच्चों को देते हैं किन्तु 'संस्कृति के चार अध्याय' को पाठयक्रम में अनिवार्य करके हम देश-हित में आने वाली पीढ़ी को संस्कारित कर सकते हैं। अंत में इसी महान ग्रंथ में लिखे गये उपसंहार से ये पंक्तियाँ 'प्रत्येक सभ्यता, प्रत्येक संस्कृति अपने आप में पूर्ण होती है। संस्कृतियाँ जब बदलती हैं तब खान-पान, रहन-सहन भले ही बदल जाएँ किन्तु मन उनका नहीं बदलता। जीवन को देखने वाला दृष्टिकोण उनका एक ही होता है। कल्याण इसमें है कि शासक उस दिशा को पहचान ले जिस दिशा का संकेत भारत के दूर तथा सन्निकट इतिहास से मिलता है।'

संपर्क : पी.सी. लैब, सम्राट कॉम्प्लैक्स बेसमेण्ट, बस स्टैण्ड के सामने, सीहोर, मध्य प्रदेश-466001

दिनकर : हिन्दी कविता का युवा हृदय सम्राट

प्रो॰ गोपेश्वर सिंह

दिनकर हिन्दी के विलक्षण कवि हैं। उनका व्यक्तित्व बहुत बड़ा है। उन्हें अपनी प्रथम कृति 'हुंकार' से ही अखिल भारतीय प्रतिष्ठा मिली। वे अपने समय में ही कवि रूप में न सिर्फ जाने गए, बल्कि माने भी गए। वे अपने समय से ही हिन्दी के सर्वाधिक लोकप्रिय कवि हैं। 'मधुशाला' के कवि बच्चन और 'हुंकार' के कवि दिनकर को अलग-अलग कारणों से व्यापक लोकप्रियता मिली। ऐसी लोकप्रियता जैसी कवि जीवन के प्रारंभ में दूसरे अन्य कवियों को न मिली। यद्यपि हाला, साकी आदि के कारण बच्चन का प्रारंभ में विरोध भी हुआ, लेकिन दिनकर की लोकप्रियता निर्विवाद रही। स्वाधीनता आंदोलन की लहर पर सवार इस कवि को राष्ट्रीयता प्रधान कविताओं के कारण जनता ने सिर माथे पर उठा लिया। मैनेजर पांडेय का यह कहना सही है कि पं॰ जवाहरलाल नेहरू राजनीति में युवा हृदय सम्राट थे तो हिन्दी कविता के युवा हृदय सम्राट दिनकर थे।

दिनकर के काव्य में एक वैचारिक द्वन्द्वनिरंतर विद्यमान है। रवीन्द्र और इकबाल, मार्क्स और गाँधी हिंसा और अहिंसा, युद्ध और शांति, धरती और स्वर्ग, पत्नी-प्रेयसी आदि शब्द-युग्म दिनकर के वैचारिक द्वन्द्वके प्रमुख आधार हैं। वे मार्क्स के लाल रंग में गाँधी का सफेद रंग मिलाकर अपना वैचारिक रंग तैयार करते हैं। वे न शुद्ध रूप से हिंसा के उपासक हैं और न अहिंसा के। दिनकर के लिए ये बातें देशकाल सापेक्ष हैं। यही कारण है कि उनमें किसी वाद के प्रति दुराग्रह न होकर अपने समय के ज्वलंत प्रश्नों को भिन्न वैचारिक दृष्टियों से देखने-समझने की निरंतर बेचैनी दिखायी देती है। वे घोषित रूप में न तो प्रगतिशील हैं और न प्रयोगवादी—न ही कवितावादी। राजनीति में जो स्थिति पं॰ जवाहरलाल नेहरू की है वही साहित्य में दिनकर की है। पं॰ नेहरू राजनीति में जिस तरह गाँधीवाद और समाजवाद का मिलकर नया राजनीतिक रसायन तैयार करते हैं, उसी तरह दिनकर अपने समय के प्रमुख साहित्यिक वादों—प्रगतिवाद, प्रयोगवाद एवं नयी कविता—में से किसी एक के हिमायती न होकर अपने लिए नया काव्य मार्ग ढूँढ़ते हैं। यह अकारण नहीं है कि आजादी मिलने के बाद उनके प्रिय नेता नेहरू हैं और 'लोकदेव नेहरू' नाम से पुस्तक लिखकर वे अपनी वैचारिक पसंद का इजहार भी करते हैं।

'हूँकार' से लेकर 'हारे को हरिनाम' तक यानी कि लगभग शुरू से लेकर अंत की दिनकर की काव्य-यात्रा को लक्षित और प्रशंसित करने में हिन्दी पाठक ने कभी कोताही नहीं की। इसके मूल में किसी सात्यितेर कारण की जगह उनकी काव्य शक्ति को दीप्ति और प्रभाव है। यही कारण है कि नयी कवितावादी आलोचकों द्वारा निंदित और उपेक्षित किए जाने के बावजूद दिनकर की लोकप्रियता के ग्राफ में कोई कमी नहीं आती। इसकी सबसे अच्छी मिसाल 'उर्वशी' है, जिसका प्रकाशन (१९६१) तब हुआ था जब नयी कविता का सूर्य मध्यान्ह में तप रहा था। यह दिनकर की काव्य शक्ति ही थी जिसने अपनी कविता के लिए अनुकूल अवसर न होने के बावजूद 'उर्वशी' के रूप में लोकप्रियता का तो नया कीर्तिमान स्थापित किया ही, आलोचना और विवाद का भी नया कीर्तिमान स्थापित किया। मुक्तिबोध से लेकर नामवर सिंह के विरोध के बावजूद 'उर्वशी' अपनी काव्य-महता स्थापित करने में कामयाब हुई।

आधुनिक हिन्दी कविता के सबसे लोकप्रिय कवि बच्चन और दिनकर हैं। मैनेजर पांडेय ने हिन्दी कविता के युवा हृदय सम्राट के रूप में सिर्फ दिनकर नाम लिया है, लेकिन मैं बच्चन और दिनकर दोनों को ही १९४० के दशक

की हिन्दी कविता का युवा हृदय सम्राट मानता हूँ उस दौर में दोनों की कविता का जादू युवकों के सिर चढ़कर बोलता था। इन दोनों कवियों ने कविता के नए पाठक और श्रोता तैयार किए और आधुनिक काल में लोकप्रियता का अपूर्व और नया कीर्तिमान तैयार किया। लेकिन आजादी के बाद जहाँ कवि बच्चन की रचनाशीलता और लोकप्रियता का क्षरण हुआ, वहीं दिनकर रचनाशीलता और लोकप्रियता का नया शिखर निर्मित करने में कामयाब हुए। दिनकर ने क्रांन्ति को **'विपयगा'** कहा है। 'विपयगा' नाम से उनकी कविता भी है। उसमें एक पंक्ति है–'पड़ते जिस ओर चरण मेरे भूगोल उधर दब जाता है।' यहाँ मैं कहना चाहता हूँ कि जिस तरह क्रांन्ति के चरण जिधर पड़ते हैं उस ओर का भूगोल दब जाता है, उसी तरह दिनकर के प्रवेश के साथ ही हिन्दी कविता का भूगोल उस ओर झुक गया जिधर दिनकर चले। 'हुँकार' से लेकर 'उर्वशी' तक उनकी काव्य-यात्रा इसका प्रमाण है।

दिनकर के प्रिय नेता नेहरू भी हैं और लोकनायक जय प्रकाश नारायण भी। गुलाम भारत में भी और आजाद भारत में भी। १९४२ के क्रान्ति नायक जयप्रकाश पर उन्हीं दिनों दिनकर ने एक कविता जोरदार लिखी: सेनानी करो प्रयाण अभय भावी इतिहास तुम्हारा है। कालांतर में दिनकर की भविष्यवाणी सच साबित हुई और भावी इतिहास को प्रभावित करने में जयप्रकाश नारायण की भूमिका सार्थक साबित हुई।

दिनकर के तो प्रिय नेता जयप्रकाश थे ही, जयप्रकाश के भी प्रिय कवि दिनकर थे। यह तो होता है कि किसी कवि का कोई प्रिय नेता हो, लेकिन यह जरूरी नहीं कि उस नेता का भी कोई प्रिय कवि भी हो। दिनकर और जयप्रकाश इस मामले में अपवाद हैं। नेहरू के प्रति दिनकर के लगाव का कोई अन्य कारण ढूँढ़ा जा सकता है, लाभ-लोभ के आक्षेप लगाए जा सकते हैं, यद्यपि दिनकर राज्यसभा के सदस्य नेहरू की कृपा से नहीं, बिहार के तत्कालीन मुख्यमंत्री श्रीकृष्ण सिंह के सौजन्य से बने थे, तो भी उनकी नेहरू निष्ठा को प्रश्नांकित किया जा सकता है। लेकिन जयप्रकाश १९४२ के क्रान्तिनायक का काव्य-अभिनंदन–भारत के भावी इतिहास का नायक घोषित करना–झंझटों और मुसीबतों को आमंत्रण देना था। दिनकर ने उन झंझटों और मुसीबतों की परवाह नहीं की। इसलिए जयप्रकाश के भी प्रिय कवि दिनकर हैं। मुझे याद है ५ जून १९७५ का वह ऐतिहासिक दिन। पटना के गाँधी मैदान में जयप्रकाश जी एक सभा को सम्बोधित करने वाले थे। विशाल जन समुदाय को देखकर वे भाव विह्वल हो गए। कहा जाता है कि वैसी भीड़ गाँधी मैदान में कभी न जुटी थी। जयप्रकाश जी ने बुजुर्ग पत्रकारों से पूछा कि आप बताइए कि इतनी बड़ी संख्या में जनता कभी यहाँ आई थी?फिर उन्होंने कहा कि काश आज बेनीपुरी जी होते, काश आज दिनकर जी होते! फिर वे उसी भाव विद्वमता में जयप्रकाश जी को लगा कि यह जन-सैलाब उन्हें निमंत्रित कर रहा है। उन्होंने बच्चन की एक पंक्ति सुनाई: 'तीर पर कैसे रूकूँ मैं', आज लहरों में निमंत्रण। कुछ ही पहले दिनकर जी का निधन हुआ था। बिहार आंदोलन का नेतृत्व जब जयप्रकाश जी ने सम्भाला तो दिनकर जी को उन्होंने चाय पर आमंत्रित किया और उनसे कहा कि अब आप इस आंदोलन में मेरे साथ आइए ओर इसे ताकत दीजिए। दिनकर जी ने कहा कि अब यह जीवन आपके हवाले है। मैं तिरुपति जा रहा हूँ वहाँ से लौटकर आपका सिपाही बनकर आंदोलन में लग जाऊँगा। दूसरे दिन तिरुपति गए और वहीं उनका दुखद अंत हो गया। नहीं हुआ होता तो दिनकर का एक और रूप हमारे सामने होता। लेकिन जो हुआ ही नहीं; उसका क्या रोना! जो है, उसी की चर्चा की जाए। जय प्रकाश के कितने प्रिय थे दिनकर यह तो पता चला २४ जून १९७५ को। इमरजेंसी लगने के एक दिन पूर्व जो विशाल और ऐतिहासिक रैली दिल्ली में जयप्रकाश जी के नेतृत्व में हुई थी उसका नारा था: 'सिंहासन खाली करो कि जनता आती है।' यह दिनकर की कविता की पंक्ति थी।

एक और घटना की चर्चा किए बिना जयप्रकाश दिनकर प्रसंग अधूरा रहेगा। जब देश आजाद हुआ तब तक दिनकर की ख्याति फैल चुकी थी। वे जीवन यापन के लिए बिहार सरकार के कर्मचारी थे। उनके प्रशंसकों की इच्छा थी कि दिनकर जी को कोई सम्मानजनक पद मिलना चाहिए। किसी विश्वविद्यालय में अध्यापक का पद इस दृष्टि से अच्छा विकल्प था। लेकिन दिक्कत ये थी कि दिनकर बी॰ए॰ थे। मित्रों का सुझाव था कि यदि वे एम॰ए॰ कर लें तो विश्वविद्यालय में अध्यापकी मिल सकती है। मित्रों के सुझाव पर उन्होंने एम॰ए॰ की परीक्षा की तैयारी शुरू कर दी। यह

बात जब जयप्रकाश जी को मालूम हुई तो उन्होंने दिनकर जी को बुलाया और कहा: "आप बच्चों की तरह परीक्षा देने जा रहे हैं। आप अपनी इज्जत नहीं कर सकते तो उनकी तो कीजिए जो आपको कवि मानते हैं।" इसके बाद दिनकर ने परीक्षा देने की बात फिर सोची तक नहीं। कुछ वर्षों बाद जब बिहार सरकार के विशेष प्रावधान के तहत वे बिहार के विश्वद्यिालय में हिन्दी विभाग के प्रोफेसर एवं अध्यक्ष हुए तो जयप्रकाश जी ने उन्हें एक पुस्तक भेंट की। यह लिखते हुए कि मैंने आपको परीक्षा देने से रोका था। आपने मेरी बात मान ली। मैं समझता हूँ, इससे आपको नुकसान नहीं हुआ। एक और अवसर पर जब दिनकर जी एक गंभीर पारिवारिक विवाद में उलझे हुऐ थे, जयप्रकाश जी ने उन्हें विवाद से अलग होने की सलाह दी थी और दिनकर जी ने उनकी बात तुरंत मान ली थी। आज यह बात आश्चर्यजनक लगती है कि जयप्रकाश नारायण जैसा एक राष्ट्रीय नेता हिन्दी के इस कवि से इतना प्रेम करता था, लेकिन यह बात सही है।

बच्चन और दिनकर की लोकप्रियता का जो काल है, वह प्रगतिशील और प्रयोगशील साहित्यिक मूल्यों के संघर्ष का भी काल है। इस संघर्ष के दौरान प्रगतिशीलता और प्रयोगशीलता के निकष-निर्माण की होड़ में ये दोनों कवि हाशिए पर धकेले दिये गए। उस दौर की कविता सम्बन्धी बहस में ये थे ही नहीं। कभी बहस में लाने की जरूरत भी पड़ी तो यह बताने के लिए कि ये तो अगंभीर और लोकप्रिय कवि हैं। इनमें न तो प्रगतिशील कवियों की यथार्थ चेतना हे और न प्रयोगवादियों-नई कवितावादियों जैसी विडम्बना, और नियति से भेंट आदि। और इस तरह बच्चन-दिनकर आदि कवि प्रगतिशील और प्रयोगशील आलोचनात्मक प्रत्ययों के शिकाए हुए। यह स्थिति लगभग आजतक बनी हुई है।

बच्चन और दिनकर दोनों राष्ट्रीय आंदोलन की उपज थे। साम्राज्यवाद विरोधी भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की देन थे वे। उस आंदोलन का ताना बना नवजागरण, गाँधी, भगत सिंह आदि एक दूसर की पूरक और कुछ परस्पर विरोधी सी लगने वाली चेतना से निर्मित हुआ था। साम्राज्यवाद विरोध, राष्ट्रीय स्वाभिमान, साम्प्रदायिक सौहार्द, पूँजीवाद का विरोध, समता, स्वतंत्रता आदि से निर्मित इनकी काव्य-चेतना मार्क्सवादी प्रगतिशीलता और टी॰ एस॰ इलियटबंदी आधुनिकता का मुहताज नहीं था। इनकी प्रगतिशीलता और प्रयोगशीलता स्वदेशी और स्वराज की खोज की संघर्षपूर्ण प्रक्रिया की उपज थी। हिन्दी पाठक ने यदि इन्हें एक बागी सिर माथे पर उठा लिया तो इसका कारण स्वाधीनता आंदोलन के कारण निर्मित उसकी वह चेतना है जो उन्हें इन कवियों में सुनाई पड़ रही थी।बच्चन और दिनकर का हिन्दी कविता में प्रवेश नई राष्ट्रीय चेतना के साथ तो हुआ ही, नई काव्य-भाषा के साथ भी हुआ। दिनकर की आकांक्षा थी कि वे पंत के स्वप्न की मैथिलीशरण गुप्त की भाषा में लिखें। मैथिलीशरण की भाषा यानी कर्त्ता, कर्म और क्रिया से युक्त पूरे वाक्य की गंद्यधर्मी भाषा को काव्य भाषा बनाने का विलक्षण प्रयोग बच्चन-दिनकर दोनों ने किया। गद्य जीवन संग्राम की भाषा है, यह कहा भले ही निराला ने और जीवन संग्राम वाला गद्य लिखा भी हो, किन्तु गद्य भाषा को काव्य भाषा इन कवियों ने ही बनाया। मैथिलीशरण की उबड़-खाबड़ भाषा को जब इनका संस्पर्श मिला तो लगा कि अरे यह तो हमारे रोजमर्रे की भाषा है। रोजमर्रा की भाषा को गद्य के ढाँचे में फिट करके काव्य-भाषा बनाने का काम तो इन दोनों कवियों ने ही किया। यह जो बच्चन ने लिखा है कि छायावादी किले पर पहला गोला हमने दागा था, तो गलत नहीं लिखा है। छायावाद की तत्सम प्रधान अभिजात भाषा के जादू को बेअसर करने का काम सबसे पहले इन्हीं दोनों कवियों के हाथों सम्पन्न हुआ। दिनकर की काव्य भाषा में जो ओज है वह भी पाठक को बहुत पसंद है और उनकी लोकप्रियता का बड़ा आधार है।

कवि की लोकप्रियता को प्रयोगवादियों और नई कवितावादियों ने इतना निंदित किया कि वह दोष जैसी लगने लगी। फल यह हुआ कि कविता ने वह मार्ग चुना जो पाठक विहीन मार्ग था। आज हिन्दी में कवि अधिक हैं और पाठक कम हैं। दिनकर की कविता इसका प्रत्याख्यान रचती है। वह इस बात का प्रमाण है कि अभी हाल तक कविता और पाठक का जीवंत रिश्ता था।

संपर्क:

प्रो. गोपेश्वर सिंह सी-17, (2931) छात्र मार्ग,
दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली-110007

चिन्तन एक मनीषी का

डॉ॰ मीनाक्षी जोशी

"सफल व्यक्ति का एक लक्षण यह है कि वह सुखी और प्रसन्न होता है, किन्तु समाज में, जिस वर्ग में धन का आधिक्य है, उसमें सुखी व्यक्तियों की संख्या अत्यन्त थोड़ी मिलेगी और समाज का जो वर्ग बिल्कुल धनहीन है, उसमें सुखी व्यक्ति और भी कम मिलते हैं। सुखियों की तादाद उस वर्ग में सबसे अधिक है जो इन दोनों वर्गों के बीच का है... एक तरह के लोग वे हैं जो व्यक्तित्व का नाश करके धन की वृद्धि करते हैं। दूसरी तरह के लोग वे हैं जो आए हुए धन से भी अपने व्यक्तित्व को विकास करते हैं। ये दूसरी तरह के लोग ही सही अर्थों में समाज के सेवक और मनुष्यता के असली भूषण होते हैं।"

दिनकर

हिन्दी में दिनकर आधुनिक साहित्य का वह महत्वपूर्ण पड़ाव हैं, जहाँ छायावाद की सम्पूर्ण मसृणता, निराला का पौरूष, प्रसाद की गहन वैचारिकता, महादेवी का गीतितत्त्व, प्रगतिवाद का प्राकृत न्याय, मानवतावाद की शांति, राष्ट्रधर्म की निष्ठा एवं आधुनिकता का सम्पूर्ण नयापन इनकी प्रगतिशील दृष्टि के साथ मिलकर अप्रतिम हो गया है। धर्म, कविता और विज्ञान, सभ्यता संस्कृति और परम्परा, इतिहास, मनोविज्ञान और समाजशास्त्र के प्रति दिनकर की सकारात्मक और वैज्ञानिक दृष्टि इसके सम्पूर्ण साहित्य को एक गरिमा देती है। धरती से आसमान तक पहुँचने और बीसवीं सदी में सूरज-सा चमकने में दिनकर का श्रम, अध्यवसाय और संघर्ष उन सभी के लिए एक चुनौती है जो संसाधनों के अभाव को वैयक्तिक और सामाजिक प्रगति-पथ की सीमा मानते हैं। यूं तो विगत कई वर्षों से अनेक समीक्षकों-अलोचकों ने दिनकर एवं उनके द्वारा रचित साहित्य की मीमांसा अपने-अपने ढंग से की है पर इस समय जबकि उनकी जन्म शताब्दी पर उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व का बार-बार मूल्यांकन एंव प्रस्तुति हो रही है तब क्यों न हम एक नज़र उन उद्धरणों पर भी डाले जो विभिन्न अवसरों पर स्वयं दिनकर जी ने कुछ विशेष सन्दर्भों में कही है। सच तो यह है कि महान रचनाकारों के जीवन उनके सृजनधर्मिता का सामीप्य तभी पाया जा सकता है जबकि हमारे भीतर आस्था, तटस्थता, स्थिरता, संवेदनशीलता एवं अगाध जिज्ञासा हो। वहाँ खुद कहने को कुछ नहीं होता केवल कहे गऐ को अधीरता से सुनने-जानने की आकांक्षा होती है। सर्वप्रथम मैं दिनकर का ज्ञानपीठ पुरस्कार लेते समय, दिए गए वक्तव्य से एक उद्धरण प्रस्तुत करना चाहूंगी, जिसमें उनके विचार से 'कविता क्या है', का विश्लेषण स्वत: मिल जाता है।

"कविता में मेरी यात्रा साकार से निराकार की ओर है। पहले मैं यह जानता था कि कविता कहां से आती है और किस तरफ जायेगी। अब मुझ यह मालूम नहीं होता कि कविता कहां से आती है और उसका गंतव्य क्या है?... कविता युग के संचित ज्ञान का आख्यान नहीं है... ज्यों-ज्यों कवि गहराई में उतरता जाता है, त्यों-त्यों वह यह बताने में अधिक असमर्थ हो जाता है कि यह सच है और वह सच नहीं है... कवि यह जान गया है कि कोई भी बात जोर से

बोलने लायक नहीं है इसलिए वह निश्चित-अनिश्चित, ज्ञात और अज्ञात के सन्धिस्थल पर काम करता है। कविता अब सत्य का उद्‌घोष नहीं, उसके अनुसंधान का प्रयास है।"

नि:सन्देह आज कविता का रूप बहुत बदल गया है। अत: देखना यह होगा कि आज के कवि की वरिष्ठ पीढ़ी किन संघर्षों, किन मार्गों से किस तरह गुजरी। दिनकर जी ने कहा था–"कोई कवि एक समय में क्रांतिकारी कहलाना पसन्द कर सकता है किन्तु आवश्यक नहीं कि वह सदा ही ऐसा कहलाना पसन्द करे। मैं स्वाधीनता के पहले क्रांतिकारी कहलाना पसंद करता था, आज नहीं। दरअसल क्रांति चिरंजीवी हो सकती है, क्रांतिकारी कवि चिरंजीवी नहीं हो सकता।" निश्चित ही दिनकर जी के इन विचारों में एक नया दृष्टिकोण स्पष्ट दिखाई देता है।

दिनकर जी से निकट सम्बन्ध रखने वालों की सूची भी कम लम्बी नहीं है। राज नेता हों या साहित्यकार, आम आदमी हो या परिवार के सदस्य। सबके साथ उनका व्यवहार मित्रवत ही था। इनमें एक नाम प्रमुख रूप से हमार सामने आता है–रामवृक्ष बेनीपुरी का। आइए दिनकर जी का एक चित्र बेनीपुरी जी की डायरी से भी देखते हैं–

पटना

१६ अगस्त १९५३

आज संध्या दिनकर जी आए। दो-ढाई घंटे तक रहे... कई नवीन रचनाएं सुनाई। उनमें प्रौढ़ता तो है ही; तीखा व्यंग्य भी, जिसे वह धुरधुरी कहते हैं। बहुत से लोग कहा करते हैं, अब दिनकर की प्रतिभा समाप्त-प्राय है। किन्तु ऐसी बात नहीं है। दिनकर का विकास दिन-दिन होता जा रहा है। हाँ, अब उनकी कविता का धरातल दूसरा है– अत: लोगों को समझने में कठिनाई होती है। लोग चाहते हैं उनका कवि वही रहे, जिस रूप में उन्होंने उसे सबसे पहले देखा था। कैसी वंचना!...

याद आता है दिनकर से जब पहली बार भेंट हुई थी। एक देहाती किशोर मात्र, सिर पर गोल टोपी पहना करते। चेहरे से भोलापन टपकता। अभी-अभी कविता के क्षेत्र में प्रवेश किया था–किन्तु उनकी तुकबंदियों में कहीं-कहीं ऐसी चीज़े चमक उठती थी जो साबित करती थी, यह लड़का कुछ होकर रहेगा।... धीरे-धीरे लोगों की नज़रों में वह चढ़े। ज्यों-ज्यों प्रशंसा मिलती गई, वह और भी निखरते गए और आज यह है। दिनकर को इस रूप में देखकर मुझे कितनी प्रसन्नता होती है।..." रामवृक्ष बेनीपुरी के ही शब्दों में– "ये कविताएं अंगारा है जिन पर इन्द्रधनुष खेल रहा है।"

दिनकर के साहित्य में दो प्रवृत्तियाँ मुख्य रूप से मौजूद रही हैं–आग और राग, प्रेम और क्रान्ति। वैचारिक ताप और भावात्मक भूख की एक बड़ी ही संतुलित अभिव्यक्ति इनके साहित्य की पहचान रही है। उनका विचार था कि "जागृत युग के स्वप्न फूलों से नहीं चिंगारियों से सजाते हैं।" और इसे उन्होंने अपने साहित्य को युगानुरूप वाणी देकर प्रमाणित किया है।

अतीत से प्रेरित राष्ट्रीय-काव्य में दिनकर जी की मूलभूत दृष्टि आदर्शवादी ही रही है। जहाँ तक भावना के व्यापक रूप और सामायिक भावना का सवाल है कवि प्राचीन भारतीय आदर्शवाद को ही प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। परम्परा का यह उपयोग वर्तमान समय की ज्वलंत समस्याओं के साथ अनिवार्यत: जुड़ा है। तभी तो वे लिखते हैं–

"जब भी अतीत में आता हूँ,
मुर्दों को नहीं जिलाता हूँ।
पीछे हटकर फेंकता बाण,
जिससे कम्पित हो वर्तमान।"

सांस्कृतिक परम्परा की यही गहरी समझ व समग्र राष्ट्रीयता सामयिक परिस्थितियों की मांग की पूर्ति करती है। उनके राष्ट्रीय आवेग का एक और प्रमाण है 'चक्रवाल' की भूमिका में लिखा गया यह अंश–"मेरी कविता के भीतर जो

अनुभूतियाँ उभरी है वे विशाल जनमानस की अनुभूतियाँ हैं। वे उस काल की अनुभूतियाँ है, जिनके अंक में बैठकर मैं रचना कहता हूँ।" उनकी यह टिप्पणी निश्चित ही उस समय की परिस्थितियों पर खरी उतरती हैं। दिनकर जी ने भारत की राजनीति के गिरते हुए स्तरों का सूक्ष्म चिन्तन-मनन एवं विवेचन किया है। उनकी रचना 'परशुराम की प्रतीक्षा' के सन्दर्भ में जाने-माने पत्रकार कन्हैयालाल मिश्र ने साप्ताहिक हिन्दुस्तान (१४ जुलाई १९६३) में बड़ी अच्छी बात लिखी है–"परशुराम के छन्दों का भाव है जन-मन का प्रभाव। इस भाव को प्रभाव देकर दिनकर जनमानस के कवि का इतिहास पद पा गए हैं।"

दिनकर जी की रचनाओं का मूल्यांकन 'संस्कृति के चार अध्याय' की चर्चा के बिना अधूरा ही माना जाएगा। इस पुस्तक की प्रस्तावना पं॰ जवाहरलाल नेहरू जी ने लिखी है। नेहरू जी द्वारा उद्धृत निम्नलिखित अंश इस पुस्तक की उपयोगिता एवं महत्ता को प्रतिपादित करने के लिए पर्याप्त होगा।

"यह संभव है कि संसार में जो बड़ी-बड़ी ताकतें काम कर रही हैं, उन्हें हम पूरी तरह न समझ सके, लेकिन इतना तो हमें समझना ही चाहिए कि भारत क्या है?और कैसे इस राष्ट्र ने अपने सामासिक व्यक्तित्व का विकास किया है; उनके व्यक्तित्व के विभिन्न पहलू कौन से हैं और उसकी सुदृढ़ एकता कहाँ छिपी हुई है। भारत में बसने वाली कोई भी जाति यह दावा नहीं कर सकती कि भारत के समस्त मन और विचारों पर उसी का एकाधिकार है। भारत आज जो कुछ है उसकी रचना में भारतीय जनता के प्रत्येक भाग का योगदान है। यदि हम इस बुनियादी बात को नहीं समझ पाते तो फिर हम भारत को नहीं समझ सकेंगें.... मेरे मित्र और साथी दिनकर ने अपनी पुस्तक के लिए जो विषय चुना है, वह बहुत ही मोहक और दिलचस्प है। यह ऐसा विषय है, जिसमें अक्सर मेरा अपना मन भी ओत-प्रोत रहा है...

मेरा विचार है कि दिनकर की पुस्तक इन बातों को समझने में (भारत को) एक हद तक सहायक होगी। इसलिए मैं इसकी सराहना करता हूँ और आशा करता हूँ कि इसे पढ़कर लोग लाभान्वित होंगे।"

मुझे लगता है कि दिनकर की जन्मशती के उत्सव पर प्रकाशित विविध विचारों एवं अभिप्रायों के संकलन में अपना संक्षिप्त सा यह लेख समाहित कर उनके पावन स्मरण की मेरी सार्थकता कुछ हद तक सिद्ध होगी। क्यों न आज हम विचार करें कि दिनकर के स्वप्नों और संकल्पों में हमारे आतंकी गतिविधियों से रह-रहकर थर्रा उठने वाले समय के लिए कोई आश्वस्ति है या नहीं?और यदि है, तो हम में उन विकल्पों को चुनने का कितना साहस है?

सम्पर्क: हिन्दी विभाग, ज. मु. पटेल महाविद्यालय, भंडारा (महाराष्ट्र)

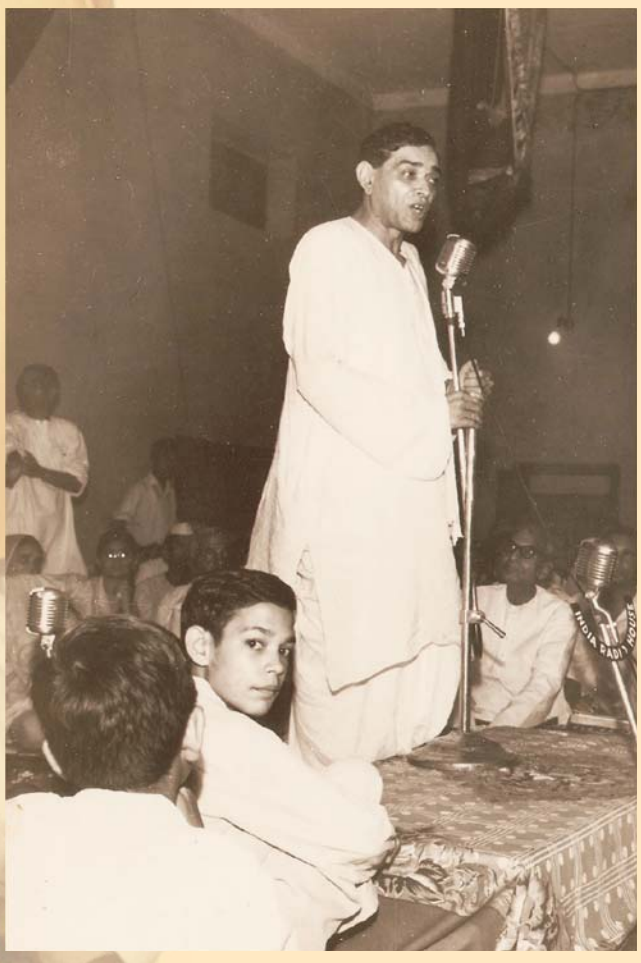

भारतीय संस्कृति और दिनकर

सविता असवाल

भारतीय संस्कृति विश्व की संस्कृतियों में प्राचीन तथा महान् संस्कृति है जिसने अपने में विश्व की सभी संस्कृतियों को समाहित कर लिया है, तथा इसने राष्ट्रीयता व देश-प्रेम के संकुचित दायरे से निकल विश्व-प्रेम तथा विश्व-बन्धुत्व, मानवतावाद तथा अन्तर्राष्ट्रीयता का नारा दिया है। विश्व-बन्धुत्व, 'वसुधैव कुटम्बकम्' एवं 'जीओ और जीने दो' का महान् सन्देश संस्कृति चिरकाल से अपने मनीषी भगवान बुद्ध के द्वारा देती आई है।

भारतीय संस्कृति धर्म, आध्यात्मिक, प्राचीन वर्णाश्रम व्यवस्था, समन्वयवादी, पुनर्जन्म और विश्व-बन्धुत्व से ओत-प्रोत है। 'विविधता में एकता' भारतीय संस्कृति की ऐसी विशेषता है जो विश्व की अन्य संस्कृतियों में प्राय: देखने में नहीं मिलती।

'संस्कृति' मानव-समाज के उन आन्तरिक गुणों, भावना अथवा विचार-पद्धति को कहा जाता है, जो मानव-समाज के प्रत्येक क्रिया-कलाप तथा आचार-विचार को प्रभावित करती है। 'संस्कृति' की व्याख्या करते हुए कवि दिनकर लिखते हैं– "संस्कृति ऐसी चीज है, जिसे लक्षणों से तो हम जान सकते हैं, किन्तु उसकी परिभाषा नहीं दे सकते। कुछ अंशों में वह सभ्यता के भिन्न गुण है, अंग्रेजी में कहावत है: सभ्यता वह चीज है, जो हमारे पास है, संस्कृति वह गुण है जो इसमें व्याप्त है।"

दिनकर जी ने संस्कृति को सभ्यता की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म तत्त्व स्वीकार किया है। वे संस्कृति को अपेक्षाकृत अधिक स्थायी तथा जीवनव्यापी मानते हैं।

किसी कवि की रचनाओं के माध्यम से ही हम देश के इतिहास, संस्कृति एवं परम्पराओं से परिचित होते हैं। क्योंकि प्रत्येक कवि अपनी कृतियों में युगांकन के साथ-साथ अपने देश की संस्कृति और सभ्यता को मूर्त-स्वरूप प्रदान करता है। कवि देश की संस्कृति और उज्ज्वल अतीत के माध्यम से वर्तमान में फैली हुई कुरीतियों से बाहर निकलने का प्रयत्न करता है तथा सन्तोष की अनुभूति करता है।

दिनकर जी के काव्यों में भारतीय सभ्यता और संस्कृति की छाप सर्वत्र विद्यमान है। दिनकर जी अन्य राष्ट्रीय कवियों की भाँति तथा सांस्कृतिक आन्दोलनों के प्रवर्तकों की भाँति देश के गरिमामयी अतीत और उसके महान् संस्कारों को वर्णित कर भारतवासियों में सदैव चेतना जागृत करते रहे। यही कारण है कि क्रान्ति के प्रचण्ड वेग को वाणी देते समय भी उनकी दृष्टि तो भारत के विस्तृत संस्कारों पर ही रही। दिनकर जी के समक्ष कभी बौद्धकालीन संस्कृति को प्रस्तुत करते हैं, कभी लिच्छवी वंश की शान को अंकित करते हैं। कवि भारतीय संस्कृति के प्रतिनिधि और आधार-स्तम्भ महापुरुषों तथा अतीतकालीन स्थानों का स्मरण करते समय भारत की गौरवमयी परम्परा को ही व्यक्त करता है।

अपनी कृतियों में कवि दिनकर जी जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में व्याप्त समस्याओं का समाधान भारतीय आदर्शों के अनुरूप ही करना चाहते हैं। चक्रवाल की भूमिका में उन्होंने स्वीकार किया है–"... मेरी कविताओं के भीतर जो अनुभूतियाँ उतरीं, वे विशाल भारतीय जनता की अनुभूतियाँ थीं जिसके अंक में बैठकर में रचना कर रहा था, वे भारत के

पाँच सहस्र वर्ष प्राचीन उस गौरवपूर्ण इतिहास की अनुभूतियाँ थी।" दिनकर जी ने अपनी कृतियों में भारतीय संस्कृति के अनुरूप ही विशद विवेचन किया है। उनकी रचनाएँ भारतीय संस्कृति को प्रमाणित करने में सफल हुई हैं। उनके काव्यों में व्यक्त भारतीय संस्कृति के विषय दृष्टिकोण इस प्रकार हैं–

भारत चिरकाल से शान्ति का समर्थक रहा है तथा शान्ति की भावना भारतीय संस्कृति की सर्वाधिक श्रेष्ठ भावना है। शान्ति की भावना ही वह अंग है जिसने प्राचीन समय में एवं आज के विज्ञानवादी युग में भी भारत की प्रतिष्ठा को अक्षुण्ण बनाए रखा।

प्रारम्भ में दिनकर की रचनाओं में भले ही हिंसा, जलन, अंगार, रक्तपात, क्रान्ति के स्वर मिलते रहे हों किन्तु उनके ये स्वर अहिंसा, शान्ति, साम्य और बन्धुत्व की स्थापना के लिए हैं। हिंसा केवल हिंसा के लिए नहीं है, वह कर्तव्य और पौरुष की पृष्ठभूमि में अहिंसा और मैत्री की साधन-मात्र है। युद्ध को आपद्धर्म मानकर स्वीकार करना ही होगा, पर दिनकर की यही राष्ट्रीयता शन्ति में हमें नवनिर्माण और विश्व-संस्कृति की ओर संकेत करती है–"दिनकर की समग्र राष्ट्रीयता सामयिक परिस्थितियों की माँगों की पूर्ति करती हुई भी अतीत भारतीय परम्परा की शान्तिवादी धारा से कटी हुई नहीं है। यही इसकी मूल विशेषता है।" उनकी समष्टिपरक चेतना विश्व-बन्धुत्व की ओर उन्मुख है।

दिनकर युद्ध का समाधान अन्त में शान्ति में ही ढूँढ़ते हैं। उनके प्रबन्ध-काव्यों में सर्वत्र शान्तिमय जनतन्त्र का समर्थन मिलता है तथा कवि जनतान्त्रिक राज्य-व्यवस्था पर ही अपनी श्रद्धा व्यक्त करता है। कवि को भारतीय जनतन्त्र के समक्ष, रूस का साम्यवाद या अमेरिका का साम्राज्यवाद फीके लगते हैं।

ऊँच-नीच की संकीर्ण भावना समाज में असमानता व असन्तोष की जननी है। युगपुरुष महात्मा गाँधी ने कहा है–मनुष्य जाति से नहीं कर्म से बड़ा होता है। वेदकालीन एवं बौद्धकालीन भारतीय सभ्यता भी इस तथ्य का प्रमाण है कि हमारे देश में जातिभेद को कभी महत्त्व नहीं दिया गया। कालान्तर में कुछ स्वार्थियों की संकुचित मनोवृत्ति ने ऊँच-नीच के कृत्रिम मानदण्ड स्थापित कर समाज की एकता पर प्रहार किए। समाज में व्यक्ति की पूजा अब उसके गुणों की अपेक्षा जाति से होने लगी तथा वर्तमान युग में जाति-भेद के ये बन्धन और भी सुदृढ़ हो गए। देश में समानता व स्वतन्त्रता देखने व चाहने के इच्छुक महापुरुषों ने अपनी महान् वाणी तथा कृत्यों द्वारा इन भेदों को मिटाने का भरसक प्रयत्न किया, इस पुनीत कार्य में गाँधी जी जैसे महापुरुषों को सफलता मिली।

दिनकर जी ने 'जातिभेद का निषेध' इस सांस्कृतिक पक्ष का वर्णन 'रश्मिरथी' में किया है। 'रश्मिरथी' के कवि कर्ण के उदात्त गुणों को प्रस्तुत करते हुए उसके गुणों द्वारा ही उसे पूज्य बताकर यह सिद्ध करता है कि समाज के इस भेद का निर्मूलन ही हमें उन्नत बना सकेगा। कवि जाति-भेद के साथ-साथ रंग-भेद तथा अन्य भेदों के निर्मूलन की भी कामना करता है।

'त्याग' की भावना भारतीय संस्कृति की एक प्रमुख विशेषता रही है जिसमें भोग से अधिक त्याग की महत्ता है। दिनकर जी ने प्राय: शान्ति के सन्देश में त्याग को ही लक्ष्य बनाया है, क्योंकि इस तथ्य की प्रतीक रही है वह भावना कि हमारे देश के बड़े-बड़े राजा-महाराजा अपनी विपुल सम्पत्ति व सुख-वैभव को तिनके के समान त्यागकर संन्यासी बन गए, जिस सम्पत्ति की रक्षा एवं वृद्धि के लिए वे रात-दिन चिन्तित रहते थे।

दिनकर जी ने अपने गीति नाट्य 'उर्वशी' में नारी की त्याग-भावना का मार्मिक चित्रण किया है–"औशीनरी यह जानकर कि महाराजा का प्रेम उसके प्रति कम हो गया है–वह अपने त्याग, तपस्या से मुख नहीं मोड़ती और पति के सुख के लिए अपना तन-मन-धन अर्पित करने की कामना करती है और सदैव उनकी मंगल-कामना के लिए व्रत-साधना करती है, उनके हर दु:ख को अपनाने को उत्सुक रहती है।"

भारतीय संस्कृति में धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष प्रमुख

विशेषताएँ हैं। 'मोक्ष' के अन्तर्गत 'पुत्र' की कामना की जाती है, भारतीय संस्कृति में कहा गया है कि पुत्र के बिना मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता। इसी प्रकार मातृत्व की इच्छा भारतीय नारी की सर्वाधिक बलवती इच्छा है। दिनकर 'रसवन्ती' की नारी 'रश्मिरथी' की कुन्ती और 'उर्वशी' की उर्वशी, औशीनरी, सुकन्या आदि में मातृत्व की स्थापना कर भारतीय मातृ-रूप का मृदु चित्र उपस्थित करते हैं। भारत की नारी का गौरव तभी आलोकित होता है जब वह गोदी में बालक को लेकर उसे अपने मृदुल प्यार का आधार बना लेती है। उर्वशी-सी स्वर्ग की मोहक अप्सरा का सौन्दर्य और गौरव प्रेयसी से अधिक उसके मातृत्व में झलकता है। 'रश्मिरथी' की कुन्ती का पुत्र-प्रेम ही उसके कर्ण के प्रति किए अन्याय को बरबस भुला देता है।

भारतीय संस्कृति में सच्ची और निश्छल मैत्री की भावना एक प्रमुख विशिष्टता है। हमारी संस्कृति और सभ्यता में मित्रता व्यक्ति, राष्ट्र और विश्व तक व्याप्त है। दिनकर जी ने अपनी कृतियों में व्यक्तिगत मैत्री के रूप में मनुष्य की दान- प्रियता, पारस्परिक सहयोग का चित्रण और साथ ही देश-प्रेम और विश्व-प्रेम की गंगा-जमुना प्रवाहित की है। 'रश्मिरथी' का कर्ण मैत्री का अद्‌भुत उदाहरण प्रस्तुत करता है। दुर्योधन के पक्ष का परित्याग कर पाण्डव-पक्ष में श्रीकृष्ण द्वारा अनेक प्रकार से समझाने पर स्पष्ट, निश्चयात्मक तथा दृढ़ शब्दों में अपने मैत्री पालन का निर्णय उन्हें सुना देता है–

है ऋणी कर्ण का रोम-रोम,
जानते सत्य यह सूर्य-सोम,
तन, मन, धन दुर्योधन का है,
यह जीवन दुर्योधन का है।
सुरपुर से भी मुख मोड़ूँगा।
केशव मैं उसे न छोड़ूँगा।

कर्ण मित्रता की तुलना में धन, साम्राज्य और स्वर्ग को भी तुच्छ समझता है–

मित्रता बड़ा अनमोल रतन,
कब इसे तोल सकता है धन
धरती की तो है क्या बिसात
आ जाय अगर बैकुण्ठ हाथ,
उसको भी न्यौछावर कर दूँ
कुरुपति के चरणों पर धर दूँ।

वह जीवनपर्यन्त दुर्योधन के प्रति मित्रता का जैसा पालन करता है, वैसा उदाहरण विश्व-संस्कृति के इतिहास में विरले ही होंगे।

भारतीय संस्कृति में गुरुमहिमा व गुरुभक्ति का विशिष्ट स्थान है। हमारी संस्कृति में गुरु का पद, ईश्वर के पद से भी ऊँचा माना जाता है। भक्तिकाल में सन्त कवि, कबीरदास ने अपने दोहे में गुरु को भगवान से अधिक महत्ता प्रदान की है–

गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागूँ पाय।
बलिहारी गुरु आपने, गोविन्द दियो बताय॥

इसी प्रकार से दिनकर जी ने कर्ण के चरित्र के द्वारा गुरु-भक्ति का भारतीय आदर्श प्रस्तुत किया है।

'कुरुक्षेत्र' 'रश्मिरथी' और 'उर्वशी' सभी कृतियों में अपने से बड़ों की मर्यादा का सर्वत्र निर्वाह किया गया है। अनेक स्थानों पर कवि ने हम बुजुर्गों के मत से सहमत न हो, परन्तु उनके अन्तर्गत ईश्वर के प्रति आस्था, अपने कर्तव्यों का पालन करना आदि भावनाओं का वर्णन किया है।

भारतीय संस्कृति में ईश्वर की सत्ता सर्वोपरि सत्ता मानी जाती है। भारतीय संस्कृति में यह दुर्बलता है कि भगवान् और भाग्य के नाम पर निष्क्रियता को फूलने-फलने का पूर्ण अवसर मिला। दिनकर अपनी प्रारम्भिक कृतियों में निराशा का अनुभव कर भारत की दुर्दशा में भाग्य का दोष मानते हैं, परन्तु यह निराशा कुछ क्षण ही रहती है। दिनकर भले ही क्षणिक आवेश में आकर दूध के लिए स्वर्ग लूटने और ब्रह्म का आदेश ठुकराने को तैयार हो जाएँ परन्तु उनकी स्थाई आस्था तो ईश्वर की प्राप्ति ही रहती है।

कवि 'कुरुक्षेत्र' में भीष्म द्वारा भाग्यवाद के प्रति

घृणा करते हुए उसे पाप का आचरण बताते हैं और कर्म को ही प्रधानता देते हैं। भीष्म भी अन्त में भगवान् से शन्ति के विस्तरण की ही प्रार्थना करते हैं। 'रश्मिरथी' में तो श्रीकृष्ण की लीला सर्वत्र ही व्याप्त है।

'उर्वशी' में पुरुरवा भी औशीनरी को यह सन्देश भेजता है कि वह ईश्वर-आराधना में रत रहे।

भारतीय वर्ण-आश्रम-व्यवस्था के अन्तर्गत गृहस्थ आश्रम की व्यवस्था की गयी है, उसमें मनुष्य को वय के अनुसार चारों आश्रम-धर्म का पालन करते हुए जीवन-यापन करना होता था। दिनकर गृहस्थ-धर्म के पूर्ण समर्थक हैं। 'उर्वशी' के अन्तर्गत इस पक्ष का समर्थन करते हैं। सुकन्या और च्यवन ऋषि के माध्यम से गृहस्थ जीवन एक और पत्नीव्रत को उच्च आदर्श के रूप में स्वीकार किया है। 'उर्वशी' में कवि अप्सराओं की स्वेच्छाचारी प्रवृत्ति से अधिक नारी के पत्नित्व और मातृत्व का गुणगान करता है। 'उर्वशी' यद्यपि सौन्दर्य, प्रेम और काम-भावनाओं से समृद्ध रचना है, परन्तु गृहस्थ जीवन की झाँकी बड़ी सुन्दर है।

भारतीय शास्त्रों में पुत्र-प्राप्ति की कामना प्रत्येक नर-नारी की स्वाभाविक कामना है क्योंकि पुत्र के बिना पितृ-ऋण से मुक्ति नहीं मिलेगी और मनुष्य मोक्ष भी नहीं प्राप्त कर सकेगा। 'उर्वशी' में पुरुरवा की इन्हीं भावनाओं को सुन्दर ढंग से अभिव्यक्त किया है। सारे सुख प्राप्त होने पर भी पुत्र का अभाव पुरुरवा को सदा खलता रहता है।

पारिवारिक जीवन के आदर्श अथवा व्यवस्था के विषय में दिनकर जी ने 'नये सुभाषित' में स्फुट विचार ही व्यक्त किए हैं जो एक आदर्श परिवार के लिए उपयोगी हैं। अपने परिवार को सबसे अधिक प्रेम करने पर बल देते हुए कहते हैं–

हरि के करुणामय कर का जिस पर प्रसार है,
उसे जगत् भर में निज गृह सबसे प्यारा लगता है।

सन्तान के चारित्रिक और नैतिक विकास के लिए वे माता-पिता के सदुपदेशों की अपेक्षा उनके सदाचरण पर अधिक बल देते हैं–

बच्चों को नाहक संयम सिखलाते हो।
वे तो बनना वही चाहते हैं जो तुम हो।
तो फिर जिह्वा को देकर विश्राम जरा-सा।
अपना ही दृष्टान्त न क्यों दिखलाते हो।

भारत को ग्रामों का देश कहा जाता है। ग्रामों की खुली स्वच्छ हवा व मोहक हरियाली अवर्णनीय है। दिनकर जी की अनेक कृतियों में भारतीय ग्रामीण संस्कृति का समर्थन मिलता है। भारतवर्ष की सभ्यता और संस्कृति का मूल गाँव में है, जिसे दिनकर जी गाँव के हरे-भरे खेतों में, खलिहानों में और प्रकृति की गोद में ढूँढ़ने जाते हैं।

कवि ने गाँव का चित्र हृदय-स्पर्शी शब्दों में व्यक्त किया है। 'रेणुका' में संग्रहीत 'व्योम कुँजों की परी अधिकल्पने'। 'कविता की पुकार' में उनकी कविता नगर के कृत्रिम सौन्दर्य से भागकर गाँव के खण्डहरों में सौंदर्य ढूँढ़ती है। उसे तो गाँव का यह सौन्दर्य पसन्द है–

"स्वर्णांचला अहा खेतों में उतरी संध्या श्याम परी,
रोमथंन करतीं गायें, आ रहीं रौंदती घास हरी।
घर-घर से उठ रहा धुँआ, जलते चूल्हे बारी-बारी,
चौपालों में कृषक बैठ गाते कहँ अटके बनवारी।"

× × ×

कवि अषाढ़ की इस रिमझिम में धन खेतों में जाने दो,
कृषक सुन्दरी के स्वर में अटपटे गीत कुछ गाने दो।

× × ×

वेणु-कुँज में जुगनू वन में इधर-उधर मुस्कराऊँगी,
हरसिंगार की कलियाँ बनकर वधुओं पर झड़ जाऊँगी।"

कविता जैसे गाँव के गीत भूल जाना चाहती है। उसे गुलाब, कमल, रजनीगन्धा के पुरुषों की सुगंध से अधिक वन-तुलसी की गंध और हरश्रृंगार की कलियाँ आकर्षित करती हैं।

कवि की कल्पना का ग्राम्य-चित्र गाँव, जहाँ पर घण्टा-ध्वनि होती है, शिशुगण दीपक के मंद प्रकाश में

किताब पढ़ते हैं और अनपढ़ भार्या किसी से चिट्ठी लिखवाने के लिए लालायित है, जहाँ का किसान अपने पसीने से भूमि को शस्य श्यामला बना रहा है। कविता उन बेबस गरीबों का आँसू बनना चाहती है जो अपना सब कुछ लुटाकर भी संसार की उदर-पूर्ति के लिए अन्न पैदा करने में लगे हैं।

गाँव का चित्रण करते समय कवि ने वहाँ के रीति-रिवाज, पारस्परिक व्यवहार का भी उल्लेख किया है। 'बालिका से वधू' काव्य में सुसराल जाती हुई कन्या के सुखी जीवन की कल्पना आदि ममता और प्रेम की परिचायक भावनाएँ वर्णित की गई हैं।

भारतीय संस्कृति में 'परम्परा' एक महत्वूपर्ण अंग है। दिनकर ने संस्कृति में परम्पराओं को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। अपनी परम्पराओं के परित्याग तथा दूसरे की परम्पराओं के वरण को वे निन्दित, घृणित और हीन कृत्य मानते हुए कहते हैं–"जातियों का सांस्कृतिक विनाश तब होता है जब वे अपनी परम्पराओं को भूलकर दूसरों की परम्पराओं का अनुकरण करने लगती हैं, जब उन्हें पूर्वजों पर ग्लानि और दूसरों के पूर्वजों पर श्रद्धा होने लगती है तथा जब वे मन-ही-मन अपने को हीन और दूसरों को श्रेष्ठ मानकर मानसिक दासता को स्वेच्छा से स्वीकार कर लेती है।

दिनकर जी ने परम्परा को सदा प्राणवान् और समाज को जीवन प्रदान करने वाला माना है। उन्होंने उसकी रक्षा पर बल दिया है–

परम्परा को अन्धी लाठी से मत पीटो।
उसमें बहुत कुछ हैजो जीवित है
जीवनदायक है,
जैसे भी हो
ध्वंस से बचा रखने लायक है।

रक्षा पर बल देने के साथ-साथ उन्होंने उसमें समयानुकूल परिवर्तन करने तथा उसकी दुर्बलताओं और विकृतियों को दूर करने का भी समर्थन किया है–

परम्परा और क्रान्ति में
संघर्ष चलने दो।
आग लगी है, तो
सूखी टहनियों को जलने दो।

यज्ञ, व्रत-उपासना आदि धार्मिक अनुष्ठान भारतीय संस्कृति के अभिन्न अंग रहे हैं। दिनकर ने 'कुरुक्षेत्र' काव्य के चतुर्थ सर्ग में युधिष्ठिर द्वारा किए गए राजसूय यज्ञ का उल्लेख किया है। पुरातन काल में राजसूय यज्ञ राज्य में समृद्धि एवं शान्ति के लिए किए जाते थे। कवि के अनुसार इस यज्ञ का आयोजन श्रीकृष्ण के प्रोत्साहन देने पर भारत में ऐक्य की स्थापना की प्रेरणा से अनुप्रेरित होकर किया गया था–

तुम्हें बना सम्राट् देश का
राजसूय के द्वारा
केशव ने था ऐक्य-सृजन का
उचित उपाय विचारा।

राजसूय यज्ञ के साथ-साथ भारतीय संस्कृति में पुत्रेष्टि-यज्ञ का भी बहुत महत्त्व रहा है।

भारतीय संस्कृति में व्रत-उपासना का महत्त्व धार्मिक दृष्टि से तो है ही, निजी इच्छापूर्ति के निमित्त भी व्रतोपासना का विधान है। 'उर्वशी' में पुरुरवा की पत्नी औशीनरी अपने पति का प्रेम अर्जित करने के लिए व्रत रखती है और चन्द्रमा की आराधना करती है–

प्रिय की प्रीति हेतु रानी कोई व्रत साध रही है,
सुना, आजकल चन्द्र-देवता को अराध रही है।"

राष्ट्रीय कवि दिनकर अपनी प्रबुद्ध सांस्कृतिक चेतना और संस्कृति के प्रति अपने अगाध प्रेम एवं श्रद्धा के कारण हिमालय, गंगा, नालन्दा, मगध, अवध, वृन्दावन, कपिलवस्तु, वैशाली, मिथिला आदि भारतीय संस्कृति के प्रसिद्ध स्थलों को न्यूनाधिक मात्रा में चित्रित करना नहीं भूले हैं। इसके साथ-ही-साथ वे भारतीय संस्कृति के प्रतिनिधि और आधार-स्तम्भ महापुरुषों–राम, कृष्ण, महात्मा बुद्ध, अशोक, चन्द्रगुप्त, राणा प्रताप, झाँसी की रानी आदि का

स्मरण भी बड़ी श्रद्धाभक्ति के साथ करते हैं।

दिनकर ने संस्कृति के प्रति सर्वत्र अपने व्यापक और मानवीय दृष्टिकोण का परिचय दिया है। संस्कृति के प्रति संकीर्ण और सीमित दृष्टिकोण को कवि सांस्कृतिक विकास में बाधक समझते हैं। उन्हें अन्य संस्कृतियों से श्रेष्ठ अंशों और गुणों को अंगीकार करने में ही संस्कृति का कल्याण दिखाई देता है। इस विषय में उनके विचार इस प्रकार हैं–"संस्कृति का स्वभाव है कि वह आदान-प्रदान से बढ़ती है। जो जाति केवल देना ही जानता है, लेना कुछ नहीं, उसकी संस्कृति का एक-न-एक दिन दिवाला निकल जाता है। इसके विपरीत जिस जलाशय में पानी लेने के दरवाजे खुले रहते हैं, उसकी संस्कृति कभी नहीं सूखती। उसमें सदा ही स्वच्छ जल लहराता है और कमल के फूल खिलते रहते हैं। कूपमण्डुकता और दुनिया से रूठकर अलग बैठने का भाव संस्कृति को ले डूबता है।" अन्य संस्कृतियों के गुणों को अपनी संस्कृति में समाहित करने की क्षमता को उन्होंने महानता की कसौटी माना है।

जीवन के उदार ओर उदात्त गुणों में ही संस्कृति को मानते हुए दिनकर जी ने संस्कृति के प्रति अपने मानवतावादी दृष्टिकोण व्यक्त किए हैं–"संस्कृति मनुष्य की आत्मा की चीज है। वह उसे भीतर से कोमल, दयालु और विनम्र बनाती है।" वे आगे लिखते हैं–"संस्कृति सुख नहीं सदाचार है। संस्कृति ताकत नहीं, विनम्रता है। संस्कृति संचय नहीं, त्याग है। संस्कृति विजय नहीं, मैत्री है। और सबसे बढ़कर संस्कृति की चरम साधना अहिंसा से प्रकट होती है। एक अन्य स्थल पर वे कहते हैं–"संस्कृति दुराग्रह नहीं, सहनशीलता है। संस्कृति युद्ध नहीं, समझौते का नाम है।"

(ढ) वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना–भारतीय संस्कृति में 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का महान् सन्देश अंगीकार है। दिनकर जी ने अन्तर्राष्ट्रीयता को भी अपनी स्वातन्त्रयोत्तर कालीन कविताओं में स्थान दिया है। देश स्वतन्त्र होने के पश्चात् कवि राष्ट्र-देवता का विर्सजन करता है। वह राष्ट्रीयता को तब संकुचित पशु-धर्म मानकर अन्तर्राष्ट्रीयता का समर्थक बन जाता है। कवि को अब हिमालय से क्रान्ति की नहीं शान्ति की आकांक्षा है। उसे भारत से त्याग और विराग की चाह है–

भारत एक स्वप्न, भू को ऊपर ले जाने वाला,
भारत एक विचार, स्वर्ग को भू पर लाने वाला।
भारत है संज्ञा विराग की, उज्ज्वल आत्म-उदय की,
भारत है आभा मनुष्य की, सबसे बड़ी विजय की।

कवि अन्त में ईर्ष्या, स्पर्धा और पारस्परिक अविश्वास के स्थान पर धर्म और श्रद्धा को ही महत्त्वपूर्ण मानता है।

निष्कर्षत: हम कह सकते हैं कि दिनकर की कृतियों में भारतीय संस्कृति के प्रति अगाध प्रेम व्यक्त किया गया है तथा संस्कृति को गौरवशाली महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है। उन्होंने भारतीयों की स्वतन्त्रता में रहने की पुरातन भावनाओं का समर्थन किया है। कवि ने देश को गुलामी की बेड़ियों से मुक्त कराने के लिए युद्ध देवी की क्रान्ति-मय मूर्ति की आराधना की और साथ ही शान्ति और करुणा के तत्त्वों की रक्षा की है। दिनकर जी प्रत्येक क्षेत्र में संस्कृति के पूर्ण समर्थक हैं, चाहे वह राष्ट्रीयता हो, प्रेम हो, नारी हो, चाहे धर्म हो–सर्वत्र उनका झुकाव भारतीयता की ओर ही रहा है।

दिनकर जी कठिन और संघर्षमय परिस्थितियों में भी भारतीय संस्कृति के मूल को नहीं भूलते। कवि की यह विशिष्टता है कि युग-बोध और आधुनिकता की अभिव्यक्ति में भी उनका समर्थन भारतीय गौरवशाली सभ्यता और संस्कृति के साथ ही रहा। दिनकर का यह निरन्तर प्रयास रहा है कि वह भारत को महान् से महानतम अवस्था की ओर अग्रसर होता हुए देखें। वे भारतीय संस्कृति को श्रेष्ठतम रूप में देखना चाहते हैं। मेरे विचार में राष्ट्रीय कवि दिनकर भारतीय संस्कृति के अनन्य उपासक प्रतीत होते हैं। उन्होंने संस्कृति को बड़ी आत्मीयता से देखा है।

ओजस्वी विचारों के राष्ट्रीय कवि 'दिनकर'

प्रो. बी. मोहिनी

दिनकर जी छायावादोत्तर कवियों में अग्रगण्य थे और उनका काव्य-सरोकार मूलतः राष्ट्रीय भावधारा से अनुप्राणित था। हिन्दी काव्य जगत् पर छायावादी कुहासे को काटने वाली शक्तियों में 'दिनकर' की प्रवाहमयी, ओजस्विनी कविता का स्थान, विशिष्ट महत्व का है। द्विवेदी युगीन एवं छायावादी काव्य-पद्धतियों के वारिस के रूप में दिनकर जी को जो अनुभव प्राप्त हुए, उसके साथ ही प्रगतिवाद के प्रभाव ने उन्हें सामाजिक चेतना का चारण बना दिया।

दिनकर हिन्दी की राष्ट्रीय धारा के सशक्त कवि हैं। उनकी कविता में तरुण हृदयों के सुप्त तारों को झंकृत कर देने की विलक्षण शक्ति है। प्रारंभ से ही वे इतने संवेदनशील रहे कि भारत की दलितावस्था को देखकर उनके नयनों में अश्रु उमड़ आये। प्राचीन भारतीय संस्कृति और सभ्यता की भव्यता का उन पर इतना गहरा प्रभाव है कि वर्तमान की पृष्ठभूमि में भी भूतकाल को ही वे साकार रूप में देखने की आंकाक्षा रखते हैं। अतीत के प्रति ऐसी गहरी आस्था शायद ही किसी अन्य कवि में मिले।

राष्ट्रीय काव्य-धारा को गति देनेवालों में सर्वश्री रामधारी सिंह 'दिनकर' जी प्रमुख हैं। दिनकर जी की कविता में राष्ट्रीयता की भावना प्रबल है। देशवासियों में देश प्रेम व स्वतंत्रता की भूख जागृत करने में उनकी कविता अधिक सफल सिद्ध हुई है। चलो दिल्ली, सुभाष के प्रति, हिमालय के प्रति आदि उनकी फुटकर कविताओं में ही नहीं, अपितु रश्मिरथी तथा कुरुक्षेत्र आदि काव्यों में भी राष्ट्रीय स्वर मुखरित हुआ है, साथ ही क्रांति एवं नवनिर्माण की उत्कट अभिलाषा भी उनकी कविता में ध्वनित होती है। उन्होंने देश के अतीत, गौरवमय इतिहास के खंडहरों को देखकर दुःख प्रकट किया है, वे विश्व मानवता की स्थापना के आकांक्षी थे। भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता पर उनका प्रगाढ़ विश्वास था। वे कोरे भौतिकवाद के पक्षपाती नहीं, बल्कि भौतिकवाद में आध्यात्मिकता का समन्वय चाहते थे।

दिनकर जी ओजस्वी विचारों के राष्ट्रीय कवि थे। राष्ट्र-प्रेम उनकी रचनाओं में सब जगह झलकता है। उन पर साम्यवादी विचारधारा का भी प्रभाव है। उन्होंने दलित-शोषित किसान-मजदूरों की बेबसी पर आवाज उठाई है। उनका साम्यवाद भारतीयता को कहीं नहीं लांघ सका है। दिनकर जी कर्म में विश्वास रखते थे। भाग्य उनके लिए कुछ नहीं था।

''नर समाज का भाग्य एक है,
वह श्रम, वह भुजबल है,
जिसके आगे झुकी हुई पृथ्वी, विनीत नभतल है।''

युद्ध के विषय में दिनकर जी के अपने विचार थे। वे व्यर्थ का रक्तपात पसंद नहीं करते थे, पर आत्मरक्षा के लिए युद्ध को उचित मानते थे।

''छीनता हो स्वत्व कोई और तू
त्याग तप से काम ले यह पाप है।
पुण्य है विच्छिन्न कर देना उसे
बढ़ रहा तेरी तरफ जो हाथ है।''

क्षमा एवं सहनशीलता पर उनकी आस्था

अवश्य थी, पर वे शक्ति के समर्थक थे। बिना शक्ति के क्षमा कायरता बन जाती है।

नवयुग के राष्ट्रीय कवियों में दिनकर जी का प्रमुख स्थान है। वे शोषित-पीड़ित-दलित मानवता के बड़े हिमायती थे। उनकी भावनाओं में समाज, धर्म और पूँजीवाद की प्राचीन परंपराओं के प्रति विद्रोह भरा है। सभ्यता-सुंदरी को दानवों की कैद में देखकर उनका मन विकल हो उठा।

''सिर धुन-धुन सभ्यता सुंदरी, रोती है बेबस निज रथ में
हाय। दनुज किस ओर मुझे ले खींच रहे शोणित के पथ में।''

उनकी छंद-योजना भी प्राय: नवीन ही है। दिनकर जी की कविताएँ दो भागों में बाँटी जा सकती हैं। पहले भाग में वे रचनाएँ आती हैं, जिनमें राष्ट्रीय भावनाएँ भरी हैं। इनमें पग-पग पर विद्रोह की ज्वाला भड़काने का प्रयत्न किया गया है। हिमालय के प्रति प्रकट की गई भावनाओं में उनका राष्ट्र-प्रेम साकार हो गया है -

'' ले अंगड़ाई उठ हिले धरा,
कर निज विराट स्वर में निनाद,
तू शैलराट्! हुंकार भरे,
फट जाय कुहा भागे प्रसाद
तू मौन त्याग, कर सिंहनाद,
रे तपी! आज तप का न काल,
नव-युग-शंख ध्वनि जगा रही,
तू जाग-जाग मेरे विशाल।''

साधारण रूप से उनको क्रांतिकारी कवि कहा जा सकता है। उनकी रचनाओं में वही स्फूर्ति और शक्ति है। रेणुका में वे कहते हैं--

''हटो व्योम के मेघ पंथ से, स्वर्ग लूटने हम आते हैं,
दूध-दूध ओ वत्स। तुम्हारा दूध खोजने हम जाते हैं।''

दूसरे भाग में दिनकर जी की वे कविताएँ आती हैं जिनमें विश्व प्रेम की उदार भावना के दर्शन होते हैं। इन रचनाओं में उनके हृदय की विशालता दिखायी देती है। दिनकर जी को यह बात बहुत खटकती थी कि मानव में भाई-चारे की भावना बिल्कुल नहीं रही है। आज वह केवल पशुबल में विश्वास करता है।

''अवहेलना कर सत्य न्याय, के शीतल उद्गारों की
समझ रहा नर आज भली विधि भाषा तलवारों की।''

इन कविताओं में उनकी कल्पना विश्व-प्रेम में तन्मय है। इन कविताओं के कारण ही दिनकर जी को अधिक यश मिला है। युद्ध के विषय में दिनकर जी के अपने व्यक्तिगत विचार थे। अधिकारों की रक्षा के लिये वे युद्ध अवाश्यक मानते थे। 'कुरुक्षेत्र' अतीत के कठोर और निश्चल कंधे पर वर्तमान का डोलता हुआ विद्यर्णित मस्तक है। 'कुरुक्षेत्र' में दिनकर के समक्ष मुख्य समस्या युद्ध की है और काव्य में वे युधिष्ठिर तथा भीष्म के माध्यम से इसी समस्या को सुलझाने में लगे हैं। इस काव्य की पृष्ठभूमि द्वितीय महासमर है इस महासमर के विध्वंसकारी दृश्य ने कवि को हिलाकर रख दिया। इसीलिए वह है तो शांति का ही समर्थक किन्तु ऐसी शान्ति का नहीं जिसमें शोषक शोषितों पर अत्याचार करने में लगे हों और शोषित उनके विरूद्ध सिर न उठायें। कवि, भीष्म के स्वरों में बोलता हुआ कहता है-

''समर निंद्य है धर्मराज पर / कहो शांति वह क्या है
जो अनीति पर स्थित होकर भी / बनी हुई सरला है।''

दिनकर की दृष्टि में युद्ध तब तक अनिवार्य है जब तक स्वार्थांध व्यक्ति दूसरों के रक्त-शोषण से बाज नहीं आते।

दिनकर जी माँ-भारती के मन्दिर के ऐसे अमर गायक हैं, जिनकी समाज को सदैव आवश्यकता रहेगी। उन्होंने अपने अमर गायन से देश की सोती हुई जनता को जगाया है। दिनकर का काव्य-परक राष्ट्रीयता काव्य में एक अत्यंत उच्च स्थान का अधिकारी है।

संपर्क सूत्र: सेंटर फर डिस्टेंस एजुकेशन आंध्र विश्वविद्यालय, वाल्तेर, विशाखपट्टणम

दिनकर विषयक अध्ययन और अनुसंधान की दिशाएँ

डॉ. बालेंदु शेखर तिवारी

अपने समय के काव्य-सूर्य रामधारी सिंह 'दिनकर' ने राष्ट्रीय जागरण और नवचेतना का जो प्रकाश उत्तरछायावादी दौर में फैलाया, उसे भारतेन्दु और निराला की अगली कड़ी के रूप में स्वीकारना होगा। राष्ट्रीय संकट, आकांक्षा और प्रत्याशा को ओजस्वी वाणी में व्यक्त करने वाले दिनकर की काव्य पंक्तियाँ न जाने कितने लोगों के भीतर देश-प्रेम के उत्साह का संचार करती रही हैं। आज़ादी के पहले और स्वाधीनता के बाद दिनकर की कविताएँ अतीत की गौरवपूर्ण स्मृति, वर्तमान के आहत अभिमान और भविष्य की विजय कामना का औदात्य मुखरित करती रहीं। उन्होंने जो कुछ भी लिखा आवेगमय, जो कुछ भी रचा औदात्य और लालित्य का समन्वय। 23 सितम्बर 1908 को जन्मे दिनकर की पहली कविता 1925 में जबलपुर की पत्रिका 'छात्रसहोदर' में छपी थी और तब से पुण्यतिथि 24 अप्रैल 1974 तक दिनकर पौरुष और परिवर्तन के रचना संसार की सृष्टि लगातार करते रहे। उनकी कलमकारी बहुआयामी है। प्रबंधकाव्य, ओजस्वी गीत, शृंगारी छंद, पद्यनाटक, अनुवाद, समीक्षा, संस्मरण, निबंध, यात्रा-लेखन, लघुकथा, इतिहास, जैसे कई प्रक्षेत्रों में पूरी क्षमता के साथ उपस्थित दिनकर ने अपने पाठकों/प्रशंसकों को कहीं निराश नहीं किया। जिस उम्मीद के साथ लोग दिनकर की किताबें पलटते हैं, वह उम्मीद पूरी हो इसका बेहद एहसास दिनकर को था। यही कारण है कि कविता के वैविध्यपूर्ण परिसर से लेकर गद्य विधाओं के विस्तार तक दिनकर का सृजन विश्वसनीयता और लोकप्रियता के तटबंधों का स्पर्श करता है। स्वातंत्र्योत्तर भारत के किसी दूसरे हिन्दी कवि की इतनी अधिक पंक्तियाँ सूक्तियों की शक्ल में जनता का कंठहार नहीं बनी हैं। स्मरणीयता और औदात्य का अद्‌भुत समन्वय दिनकर की काव्यधारा में है। तभी दिनकर की कविता को असीम लोकप्रियता मिली। इसी जनप्रियता ने अनेकानेक अनुसंधाताओं और समीक्षकों को दिनकर साहित्य के विभिन्न आयामों से मूल्यांकन और विश्लेषण के लिए बाध्य किया है।

कविता का बहुकोणीय अनुशीलन करने में अभ्यस्त आलोचकों ने दिनकर की काव्योपलब्धियों के अनुशीलन के लिए नए-पुराने औजारों का उपयोग किया है। दिनकर को राष्ट्रकवि, युगकवि, जनकवि सिद्ध करने में संलग्न ऐसी समीक्षा पुस्तकों की संख्या सौ के आस-पास है। इनमें अधिकांश का रिश्ता 'उर्वशी' या 'कुरुक्षेत्र' या 'रश्मिरथी' के साथ है। इनमें से अधिकांश 'एक अध्ययन' या छात्रोपयोगी टीकानुमा पुस्तकें हैं, क्योंकि 'उर्वशी', 'कुरुक्षेत्र' और 'रश्मिरथी' का अध्यापन कई विश्वविद्यालयों में पाठ्यपुस्तक के रूप में होता है। वास्तव में अभी भी दिनकर का साहित्य

हिन्दी समीक्षकों के लिए एक चुनौती है, क्योंकि संपूर्णता में दिनकर को परखने का प्रयत्न अब तक नहीं हुआ है। दिनकर पर आज भी ऐसी समग्र समीक्षा कृति का इंतजार है, जिसमें दिनकर के संपूर्ण सृजन की विवेचना नवीनतम समीक्षा मूल्यों के आलोक में हो। विश्वविद्यालयी समीक्षा की संकीर्णता से निकल कर हिन्दी समीक्षा के निजी प्रतिमानों से लैस आलोचक जब दिनकर की पारदर्शी चर्चा करेंगे, तभी यह अपेक्षा पूरी होगी।

आश्चर्य, किंतु सत्य तो यह है कि समीक्षा की अपेक्षा हिन्दी शोध का रिश्ता दिनकर साहित्य के साथ अधिक प्रगाढ़ कर देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों में पीएच.डी. उपाधि के लिए दिनकर के रचना संसार पर केंद्रित दो सौ से अधिक शोध-प्रबंध स्वीकृत हो चुके हैं। कुछ विदेशी विश्वविद्यालयों में भी दिनकर पर शोध हुए हैं। औपचारिक शोध का यह सिलसिला 1965 में गुजरात विश्वविद्यालय की पीएच.डी. उपाधि के लिए डॉ. शेखर चंद्र जैन द्वारा प्रस्तुत शोध-प्रबंध 'राष्ट्रकवि दिनकर और उनकी काव्यकला' से प्रारंभ हुआ था। यह शोध-प्रबंध कालांतर में जयपुर पुस्तक सदन, जयपुर से 1973 में प्रकाशित हुआ। इस शोध-प्रबंध से प्रारंभ हुए अनुसंधान क्रम में दिनकर के सारे सर्जना लोक की अनेककोणीय परिक्रमा की गई है। अनुसंधाताओ ने काव्यशास्त्र, भाषाविज्ञान, शैलीविज्ञान, सौंदर्यशास्त्र, धर्मशास्त्र, राजनीति विज्ञान, समाजशास्त्र आदि की कसौटियों पर दिनकर की कविता का मूल्यांकन किया है। दिनकर के काव्य विकास और काव्य दृष्टि से लेकर शिल्प, काव्य भाषा, पात्र योजना, अभिव्यक्ति कौशल, बिंब अलंकार, प्रबंधात्मकता, वक्रोक्ति, रचना प्रक्रिया, शब्दावली जैसे कई काव्य-शास्त्रीय पक्षों का उद्‌घाटन करने के साथ अनुसंधाताओं ने दिनकर की काव्यवस्तु का विशद अनुशीलन भी किया है। इस दृष्टि से युगबोध, जीवन दर्शन, जलवाद, इतिहास, समाज, संस्कृति, राष्ट्रीयता, प्रगतिशीलता, नारी भावना, शिक्षा, प्रेमदर्शन, मानववाद, राजनीति, मनोविज्ञान, आधुनिकता, गाँधीवाद, सौंदर्य, रोमांटिक भावना, उत्तर छायावादी प्रवृतियों आदि का सर्वेक्षण अनुसंधाताओं ने किया है। शोध-प्रबंधो में दिनकर की कविता में उनके व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति का विश्लेषण है और प्रेरक-प्रभाव तत्वों की खोज भी की गई है। कई शोध प्रबंध तो सिर्फ 'उर्वशी' पर केंद्रित हैं। 'उर्वशी' के स्रोत, परम्परा और मौलिकता का अध्ययन करने के समानांतर शोधकर्ताओं ने 'उर्वशी' में काव्यरूप, महाकाव्य, प्रेम, अध्यात्म, सामाजिकता, दर्शन, शिल्प, सौंदर्य, लोक-तत्व, प्रतीक शब्द शक्ति, गीतिनाट्यत्व, अनासक्ति-योग, चिंतन और चरित्रांकन की तलाश भी की है। कुछ शोध प्रबंध 'कुरुक्षेत्र' के चिंतन और काव्यत्व पर भी लिखे गए हैं। दिनकर के गद्य-लेखन की विविधता और गद्य-शैली पर भी शोध-कार्य हुए हैं। तुलनात्मक अनुसंधान की दृष्टि से दिनकर के साथ मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, हरिवंशराय बच्चन, जयशंकर प्रसाद जी की तुलना होती रही है। 'कामायनी' और 'लोकायतन' के साथ 'उर्वशी' की तुलना पर आधृत शोध भी संपन्न हुए हैं। कश्मीरी के आजाद, गुजराती के उमाशंकर जोशी, उर्दू के इकबाल, तेलुगु के दाशरथी के साथ दिनकर की काव्य-सर्जना की सम्यक तुलना कई शोधकर्ताओं ने की है। शोध की इन सारी दिशाओं से राष्ट्रकवि दिनकर

पर केंद्रित अद्यतन अनुसंधान के संकेत मिलते हैं। इन दो सौ से अधिक शोध-प्रबंधों में विषयों की आवृत्ति बार-बार हुई है। जैसे, 'दिनकर की बिम्ब योजना' पर एक दर्जन शोध-प्रबंध लिखे गए हैं और 'दिनकर का गद्य साहित्य' पर भी दस से अधिक शोधकर्ताओं ने काम किया है। इसका मतलब यह नहीं कि इस क्षेत्र में अनुसंधान की संभावनाएँ समाप्त हो गई हैं और अब दिनकर-साहित्य का कोई पक्ष अनुसंधाताओं से अछूता नहीं रह गया है। वास्तविकता तो यह है कि दिनकर की सर्जना में अभी भी ऐसे कई पक्ष हैं, जिन पर अनुसंधाताओं की दृष्टि नहीं गई है। ऐसे कुछ शोध शीर्षक प्रस्तावित हैं जिन पर भविष्य के शोध-प्रज्ञ अपनी अनुसंधान क्षमता का उपयोग कर सकेंगे-

1. दिनकर के काव्य में नवजागरण, 2. दिनकर की कविता में यथार्थ और कल्पना का समन्वय, 3. दिनकर की भक्तयात्मक चेतना, 4. दिनकर के काव्य में काव्येतर ललित कलाएँ, 5. दिनकर का प्रकृति-वर्णन, 6. दिनकर के काव्य में युद्ध और शांति, 7. दिनकर की कविता में कामाध्यात्म, 8. उर्वशी का नैतिक आदर्श, 9. दिनकर की उदात्त-चेतना, 10. कर्णकथा परंपरा में 'रश्मिरथी', 11. दिनकर काव्य में मिथकों की प्रासंगिकता, 12. दिनकर की रस-योजना, 13. दिनकर की पर्याययोजना, 14. दिनकर का विशेषण-विधान, 15. दिनकर की अप्रस्तुत योजना, 16. दिनकर का सादृश्य विधान, 17. दिनकर संबंधी अध्ययन और अनुसंधान का अध्ययन, 18. हिंदी यात्रा-साहित्य को दिनकर का अवदान, 19. हिंदी में डायरी लेखन और दिनकर का प्रदेय, 20. हिन्दी पत्र साहित्य को दिनकर का योगदान, 21. दिनकर का समीक्षा कर्म, 22. इतिहासकार के रूप में दिनकर का मूल्यांकन, 23. राष्ट्रीय कवि के रूप में दिनकर और निराला का तुलनात्मक अनुशीलन, 24. विद्रोह-कवि के रूप में दिनकर और निराला की तुलना, 25. दिनकर और सुमित्रानंदन पंत की लालित्य चेतना का तुलनात्मक अध्ययन, 26. दिनकर और केदारनाथ मिश्र प्रभात की प्रबंध प्रतिभा का तुलनात्मक अध्ययन, 27. दिनकर और नागार्जुन की कविता का तुलनात्मक अनुशीलन, 28. दिनकर साहित्य में मानवीय संवेदना, 29. दिनकर साहित्य में मुहावरे और लोकोक्तियाँ, 30. दिनकर साहित्य में मूल्य-संक्रमण।

शोध-विषयों की इस तालिका से स्पष्ट है कि अभी डॉ. रामधारी सिंह दिनकर के रचना कर्म में बहुत कुछ ऐसा है, जिस पर अनुसंधाताओं की निगाह नहीं गई है। यह तालिका अंतिम नहीं है। अनेक इतर शोध शीर्षक भी इस सूची में जोड़े जा सकते हैं। इसका कारण यही है कि दिनकर का सृजन बहुआयामी और कालजयी है। उसमें युग के साथ चलने और युग के बाद प्रासंगिक बने रहने की अपार क्षमता है। ऐसे वैविध्यपूर्ण और विलक्षण रचनाकार की सर्जना में अध्ययन और अनुसंधान की संभावनाएँ कभी कम नहीं हो सकती।

संपर्क सूत्र : 6 शिवम, हरिहर सिंह रोड, मोराबादी, रांची -834008

जो तटस्थ हैं समय लिखेगा उनका भी अपराध

डॉ. रंजना जायसवाल

आजादी के साठ वर्ष बीत गये, पर देश में आज भी वही अकुलाहट है जो आजादी के छः वर्षों के बाद सुराज के लिए राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' के हृदय में पैदा हुई थी। इसलिए 'दिनकर' आज भी प्रासंगिक है। वे एक ऐसे सूरज थे, जिनकी किरणें हर स्थल पर पहुँचती हैं बिना किसी भेद-भाव के, और जहाँ भी जाती हैं, उसे पूर्ण रूप से उजागर कर देती हैं, बिना किसी डर के। ऐसी विशेषता बिरले ही कवियों में पायी जाती है। 'दिनकर' ऐसे समय में उभरे थे, जब राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविताओं का दौर था। सभी रचनाकार पूरी शक्ति से अपनी रचनाओं के माध्यम से देश की जनता में राष्ट्रीयता का मंत्र फूंक रहे थे, पर किसी में भावना का अतिरेक था, तो किसी में विचारों का। जबकि 'दिनकर' ऐसे रचनाकार थे, जिन्होंने हृदय और बुद्धि के बीच सामंजस्य बिठाया। वे राष्ट्रीयता को मात्र भावनात्मक प्रतिक्रिया नहीं मानते थे। वे उसे चिन्तन, परीक्षण तथा आत्मलोचन का स्वरूप प्रदान करने के साथ ही उसे सार्वभौम मानवता के रूप में विकसित करना चाहते थे। वह विकास बुद्धि के ऊपर संवेदनशील हृदय के शासन के रूप में हो, यही उनकी आकांक्षा थी। उन्होंने 'कुरुक्षेत्र' साम्राज्य की स्थापना की कामना का सुन्दर समन्वय किया है--

''कर पाता यदि मुक्त हृदय को, मस्तक के शासन से,
उतर पकड़ता बाँह दलित की, मंत्री के आसन से
स्यात सुयोधन भीत उठाता, पग कुछ अधिक संभल के
भरत भूमि पड़ती न स्यात, संगर में आगे चल के।''

(कुरुक्षेत्र)

दिनकर में अपने देश और युग-सत्य के प्रति जागरुकता थी, जो देश और काल के सत्य को अनुभूति और चिन्तन दोनो स्तरों पर ग्रहण करने में समर्थ था। उन्होंने राष्ट्र को उसकी तात्कालिक घटनाओं, यातनाओं विषमताओं, समताओं के रूप में ही नहीं, उसकी संश्लिष्ट सांस्कृतिक परम्परा के रूप में पहचाना था और प्राचीन मूल्यों को नये जीवन संदर्भों के परिपेक्ष्य में आकलन कर एक ओर उन्हें जीवंतता प्रदान की, दूसरी ओर वर्तमान की समस्याओं और आकांक्षाओं को महत्व देते हुए उन्हें अपने प्राचीन, किन्तु जीवंत मूल्यों से जोड़ा। प्राचीन और आर्वाचीन का यह सम्मिश्रण उनकी रचनाओं को कालजयी बनाता है। 'समर शेष' नामक कविता किस प्रकार आज के समय को रेखांकित कर रही है--

''ढीली करो धनुष की डोरी, तरकस का कस खोलो
किसने कहा, युग की बेला गयी, शांति से बोलो।''
''सकल देश में हालाहल है दिल्ली में हाला है,
दिल्ली में रोशनी शेष भारत में अंधियारा है।
मखमल के परदों के बाहर, फूलों के उस पार
ज्यों का त्यों खड़ा आज भी मरघट-सा संसार।''

आजादी की किरण अभी तक जहाँ नहीं पहुँची है। जिन लोगों को साठ वर्ष आजादी के बाद भी भूख के कारण मरना पड़ रहा है, वे कौन हैं, आखिर वे भी तो इसी देश के नागरिक हैं, उन्हें भी तो जिंदगी जीने का हक है या फिर आजादी मुट्ठी-भर लोगों के हाथों में कैद है। दिनकर प्रश्न

करते हैं-

''वह संसार जहाँ पर पहुँची अब तक नहीं किरण है,
जहाँ क्षितिज है शून्य, अभी तक अंबर तिमिर-वरण है।
देख जहाँ का दृश्य आज भी अंत:स्थल हिलता है।
माँ को लज्जा वसन और शिशु को न क्षीर मिलता है,
पूज रहा जहाँ चकित हो जन-जन देख अकाज।
सात वर्ष हो गए राह में अटका कहाँ स्वराज?
अटका कहाँ स्वराज? बोल दिल्ली! तू क्या कहती है?
तू रानी बन गई वेदना जनता क्यों सहती है?
सबके भाग्य दबा रखे हैं किसने अपने कर में?
उतरी थी जो विभा, हुई बंदिनी, बता किस घर में?

'दिनकर' में विचार और संवेदना का सुन्दर समन्वय है, चाहे व्यक्तिगत प्रेम सौंदर्य मूलक कविताएँ हों, चाहे राष्ट्रीय कविताएँ हों, सभी कवि की संवेदना से स्पंदित हैं। उनमें शुरू से ही अपने को परिवेश से जोड़ने की तड़प दिखाई देती है। इसलिए उनमें सर्वत्र एक खुलापन है, लोकोन्मुखता है, सहजता है-व्यक्तिगत प्रेम, सौंदर्य मूलक कविताओं में भी। छायावाद या उत्तर छायावादी वैयक्तिक कविता की कुंठा, अतिरिक्त अवसाद तथा निराशा के घेराव के स्थान पर प्रसन्नता और सर्वत्र सौंदर्य के प्रति स्वस्थ मानवीय प्रतिक्रिया दिखाई पड़ती है। प्रारम्भ से ही वे लोक के प्रति निष्ठावान सामाजिक उत्तरदायित्व के प्रति सजग और जनसाधारण के प्रति सजग थे। राष्ट्रीयता उनके रक्त व शिराओं में बहती थी। सामंती शोषण देखकर उनका हृदय रो पड़ता था-

''श्वानों को मिलता दूध वस्त्र, भूखे बालक अकुलाते हैं''

यही कारण है कि इनकी रचनाओं में कभी-कभी शिव तांडव करने लगते हैं। देश की विषम परिस्थितियों की पुकार ने कवि दिनकर को भावुकता, कल्पना और स्वप्न के रंगीन लोक (जो 'रसवंती' में था) से खींचकर ऊबड़-खाबड़ धरती पर खड़ा कर दिया तथा शोषण की चक्की में पिस रहे जनसाधारण और उसके भूखे-नंगे बच्चों का प्रबल समर्थक बना दिया।

''समर शेष है, नहीं पाप का भागी केवल व्याघ्र
जो तटस्थ है, समय लिखेगा उनका भी अपराध।''

जागृत पुरुषार्थ के कवि 'दिनकर' शांतिप्रियता एवं अहिंसा की आड़ में फैलने वाली निर्वीर्यता और अकर्मण्यता को व्यक्ति और राज्य दोनों के लिए घातक मानते हैं। इनके व्यक्तित्व के इसी रूप में चीनी आक्रमण के समय 'परशुराम की प्रतीक्षा' शीर्षक रचना उपस्थित कर देशवासियों को ललकारा था। 'हिमालय' शीर्षक कविता में देश के हालात बुरे थे, युधिष्ठिर को खारिज करके अर्जुन, भीम का आह्वान करते हैं--

''रे, रोक युधिष्ठिर को न यहाँ, जाने दे उसको स्वर्ग धीर।
पर, फिरा हमें गांडीव-गदा, लौटा दे अर्जुन-भीम वीर।''

'दिनकर' के विद्रोहशील व्यक्तित्व को अपने देश के पौराणिक आख्यानों में जो असंगतियाँ दिखाई दी उन्हें मिटाने के लिए 'कुरुक्षेत्र' जैसे कथा-काव्य की रचना की। वैसे यह कथाकाव्य न होकर विचार-काव्य है, क्योंकि इसमें हिंसा और अहिंसा की विचारधाराओं के द्वंद्व को प्रदर्शित किया गया है। यह शक्ति की उपासना का, पराक्रम का, पौरुष का महाकाव्य का है।

'रश्मिरथी' के बारे में स्वयं दिनकर कहते हैं-''कुरुक्षेत्र की रचना कर चुकने के बाद ही मुझमें यह भाव जगा कि कोई ऐसा काव्य भी लिखूँ, जिसमें केवल विचारोत्तेजकता ही नहीं, कुछ कथा-संवाद और वर्णन का भी महात्म्य हो।'' 'रश्मिरथी' का समय दलितों और उपेक्षितों के उद्धार का समय था, इसलिए 'दिनकर' ने हजारों वर्षों से उपेक्षित एवं कलंकित मानवता के मूक प्रतीक 'कर्ण' को इसका नायक बनाया जो कहता है-

''मैं उनका आदर्श, कहीं जो व्यथा न खोल सकेंगे,
पूछेगा जग, किन्तु पिता का नाम न बोल सकेंगे,
जिनका निखिल विश्व में कोई कहीं न अपना होगा,
मन में लिए उमंग जिन्हें चिर-काल कल्पना होगा।''

'दिनकर' जी रश्मिरथी की भूमिका में कहते हैं- ''कर्ण चरित्र के उद्धार की चिंता इस बात का प्रमाण है कि हमारे समाज में मानवीय गुणों की पहचान बढ़ने वाली है। कुल और जाति का अहंकार विदा हो रहा है। आगे, मनुष्य केवल उसी पद का अधिकारी होगा, जो उसके अपने सामर्थ्य से सूचित होता है, उस पद का नहीं, जो उसके माता-पिता या वंश की देन है।''

रश्मिरथी के प्रथम सर्ग की शुरूआत ही देखें

''ऊँच-नीच का भेद न मानें, वही श्रेष्ठ ज्ञानी है,
दया-धर्म, जिसमें हो, सबसे वही पूज्य प्राणी है।''

'दिनकर' की काव्य-प्रतिभा का चरमोत्कर्ष इनके नाटकीय कथाकाव्य 'उर्वशी' में दृष्टिगत होता है। इस रचना का कथा-प्रसंग तो कालिदास के नाटक 'विक्रमोर्वशीयम' से लिया गया है, लेकिन उनका प्रस्तुतीकरण आधुनिक बोध से अनुप्राणित है। पुरुरवा का स्नेह-निवेदन मुक्त छंद के संविधान में आज की उन्मुक्त चेतना को बड़े सशक्त रूप में उपस्थित करता है।

''पर, न जाने, बात क्या है?
इन्द्र का आयुध पुरुष जो झेल सकता है?
सिंह से बाहें मिलाकर खेल सकता है
फूल के आगे वही असहाय हो जाता
शक्ति के रहते हुए निरुपाय हो जाता
बिद्ध हो जाता सहज बंकिम नयन के बाण से
जीत लेती रूप-सी, नारी उसे मुस्कान से।

उर्वशी ने जो उत्तर दिया है, वह यद्यपि भावना में है, तथापि उसमें आज की जागरूक बुद्धि की नारी का स्वर मुखर है-

''भू-नभ का सब संगीत नाद मेरे निस्सीम प्रणय का है,
सारी कविता जयगान एक मेरी त्रयलोक-विजय का है।''

'हुंकार' में कवि ने वर्तमान की दीन दशा के प्रति आक्रोश व्यक्त किया है, तो 'सामधेनी' में उनकी सामाजिक चेतना, स्वदेश-प्रेम तथा विश्व वेदना सम्बन्धी कविताएँ हैं। 'नील कुसुम' में आज की मानवता को आशावाद का संदेश दिया गया है।' नीम के पत्ते संकलन में आज के नेताओं पर तीखे व्यंग्य हैं 'आत्मा की आँखों में' अंग्रेजी की कुछ नयी प्रयोगशील कविताओं के अनुवाद हैं। गद्य रचनाओं में 'संस्कृति के चार अध्याय' उल्लेखनीय है। दिनकर के संबंध में डॉ. अंबा प्रसाद सुमन ने लिखा है- ''दिनकर की व्यंजनामयी सरल वाणी में राष्ट्र का स्वर गूँजता है। उनके भाव, भाषा और छंदों में स्वदेश की मिट्टी की गंध गूँजती है, जो सच्चे प्रगतिवाद को नवचेतना प्रदान करती है।''

अंत में हम कह सकते हैं कि ओज और पौरुष के पतीक थे 'दिनकर'। अपने नाम के उनुरूप थे। उनकी कविता का मूलस्वर 'क्रांति' रहा। जनमानस में उन्होंने नवीन चेतना फूंकी। पर वीर और रौद्र रसों के साथ ही उन्होंने सौंदर्य और प्रेम की व्यजंना वाले गीत भी लिखे और उसमें भी महारत हासिल की। इनके एक हाथ में मधुर लय छेड़ने वाली वंशी थी, तो दूसरे में भी जागृति का आह्वान करने वाला शंख। हम उन्हीं के शब्दों में उन्हें नमन करते हैं-

''मर्त्य मानव की विजय का तूर्य हूँ मैं
उर्वशी! अपने समय का सूर्य हूँ मैं।
अंध तम के भाल पर पावक जलाता हूँ।
बादलों के शीश पर स्यन्दन चालाता हूँ।''

संपर्क सूत्रः ई.डब्ल्यू. - 1, 218, **राप्ती नगर चतुर्थ चरण, चरगाँवा, गोरखपुर** - 273001

दिनकर का संस्कृति बोध

ज्योत्स्ना सिंह

भारतीय संस्कृति समन्वय की विराट् भावना पर आधारित विभिन्नता में एकता को आत्मसात किये हुए संस्कृतियों से कहीं अधिक सम्मिश्रित एवं विशिष्ट है। वस्तुत: इस संस्कृति की महत्वपूर्ण विशेषता इसकी ग्रहणशीलता एवं समन्वय की प्रवृत्ति है। हमारे राष्ट्रीय जीवन में सांस्कृतिक महत्व को आज उत्तरोत्तर स्वीकार किया जा रहा है। इसका एक कारण यह है कि यह संस्कृति न केवल हमें अपने सामाजिक जीवन से परिचित कराती है, अपितु उस जीवन में अन्तर्निहित आधारों को भी समझती है, जिससे कि वर्तमान को स्वीकार करके तथा भविष्य के लिए आवश्यक परिवर्तन व सुधार लाने के लिए सुनिश्चित कदम उठाना सुगम हो। इस रूप में नि:सन्देह संस्कृति मानव जीवन, उसके निर्माण तथा राष्ट्र के विकास के इतिहास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

जहाँ किसी देश की महनीयता उसकी संस्कृति और संस्कारों से होती है तो वहीं, साहित्यकार उसका दर्शन अपनी रचना के माध्यम से सबको सुलभ कराता है। राष्ट्रकवि श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' जी का इस क्षेत्र में अभिनव प्रयास है।

वस्तुत: दिनकर एक महान सांस्कृतिक कवि हैं। उनमें युग-धर्म की ऊष्मा, प्रणय का पिघलाव, प्रयोग की पिपासा और भक्त का समर्पण एक साथ मिलता है। इन सबके मंथन से दिनकर का कवि व्यक्तित्व संस्कृति की समग्रता पर टिका दिखायी देता है। प्रणय की भावना से उन्होंने मन:प्रसादन नहीं किया, बल्कि प्रणय के सत्य को जान लेने का उपक्रम किया। राष्ट्रीय चेतना से उन्होंने देश की सीमाएं नहीं बांधी बल्कि भारत को मानवता का पर्याय बना दिया। उनका श्रृंगार बिहारी से नहीं जुड़ता, रवीन्द्रनाथ से जुड़ता है, ठीक उसी प्रकार जैसे उनकी राष्ट्रीयता भूषण की प्रतिबद्धता नहीं है बल्कि पं॰ नेहरू का मानवतावाद है। यह बात अलग है कि कहीं-कहीं उनके काव्य में बिहारी और भूषण झलक मार जाते हैं, किन्तु अन्तत: उनका साहित्य भारत की विराट् सांस्कृतिक चेतना को मुखर करता है।

दिनकर जी स्वभाव से आस्तिक कवि थे। इस आस्तिकता ने ही उन्हें अपनी संस्कृति अपने संस्कारों से जोड़े रखा। शास्त्र और परम्परा के प्रति उनके हृदय में सम्मान और आस्था का भाव था। वे परम्परा और संस्कृति का मूल्यांकन तो करते हैं, किन्तु उनमें वह जुझारूपन नहीं है, जो नए कवियों के एक वर्ग की प्रवृत्ति मानी जाती है। यही कारण है कि पौराणिक सांस्कृतिक सामग्री का उपयोग करते समय उन्होंने चरित्रों, घटनाओं को आधुनिक बनने से बचाए रखा।

जहाँ तक सांस्कृतिक बोध का सवाल है, तो इतना तो स्पष्ट है कि किसी भी रचनाकर के व्यक्तित्व का नियामक उसका कृतित्व ही होता है, तो दिनकर जी भी इसके अपवाद नहीं हैं। दिनकर जी ने भारतीय संस्कृति का अच्छा अध्ययन किया था। उनका यह अध्ययन उनके ग्रंथों 'संस्कृति के चार अध्याय', 'हमारी सांस्कृतिक एकता', 'रश्मिरथी', 'कुरुक्षेत्र' जहाँ कवि ने महाभारत का आधार ग्रहण किया है, वहीं 'उर्वशी' में कवि ने 'पद्मपुराण', 'ब्रह्मपुराण' आदि के द्वारा कथा तन्तुओं को सम्बद्ध किया है।

दिनकर जी ने भारतीय संस्कृति को उदार दृष्टिकोण से समझने की चेष्टा की है। भारतीय संस्कृति की मूलभूत एकता पर दिनकर जी को पूरा विश्वास है। उन्होंने भारतीय जन-समूह की रचना में नीग्रो, औष्ट्रिक, द्रविड़ और आर्य जातियों का सम्मिश्रण स्वीकार किया है। भारतीय संस्कृति के मूल उपादानों में द्रविड़ संस्कृति की देन को महत्वपूर्ण माना है। आपको अपनी संस्कृति से विशेष लगाव था, तभी तो नेहरू जी कहते हैं कि 'मेरे मित्र और साथी दिनकर ने अपनी पुस्तक के लिए जो विषय चुना है' वह बहुत ही मोहक और

दिलचस्प है। यह ऐसा विषय है, जिससे अक्सर मेरा मन भी ओत-प्रोत रहा है और मैंने जो कुछ लिखा है, उस पर इस विषय की छाप आप से आप पड़ गयी है। प्रस्तुत प्रशंसा दिनकर जी की पुस्तक संस्कृति के चार अध्याय की है। पुस्तक में नेहरू जी संस्कृति की परिभाषा इन शब्दों में करते हैं। ''संस्कृति है क्या? शब्दकोश उलटने पर इसकी अनेक परिभाषाएं मिलती हैं। एक बड़े लेखक का कहना है कि ''संसार भर में जो भी सर्वोत्तम बातें जानी या कही गयी हैं उनसे अपने आप को परिचित करना संस्कृति है।'' एक दूसरी परिभाषा में यह कहा गया है कि ''संस्कृति शारीरिक या मानसिक शक्तियों का प्रशिक्षण दृढ़ीकरण या विकास अथवा उससे उत्पन्न अवस्था है। यह मन, आचार अथवा रुचियों की 'परिष्कृति' या 'शुद्धि' है। यह सभ्यता का भीतर से प्रकाशित हो उठना है। इस अर्थ में संस्कृति कुछ ऐसी चीज का नाम हो जाता है, जो बुनियादी और अन्तर्राष्ट्रीय है। फिर संस्कृति के कुछ राष्ट्रीय पहलू भी होते हैं और इसमें कोई सन्देह नहीं कि अनेक राष्ट्रों ने अपना कुछ विशिष्ट व्यक्तित्व तथा अपने भीतर कुछ खास ढंग के मौलिक गुण विकसित कर लिए हैं।''

दिनकर जी ने पुस्तक में भारतीय जनता की रचना, आर्य-द्रविड़ समस्याएं, आर्य और आर्येतर संस्कृतियों का मिलन, वैदिक धर्म, राधाकृष्ण भक्ति, वैष्णव भक्ति, जैन और बौद्ध धर्म, हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न, भक्ति आंदोलन, सिख धर्म, साहित्य और भाषा पर प्रभाव, भारतीय संस्कृति और यूरोप आदि विषयों के साथ ही साथ रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानंद, लोकमान्य तिलक, महायोगी अरविन्द, महात्मा गांधी, विश्वदर्शन के प्रवर्तक श्री सर्वपल्ली राधाकृष्णन, मुस्लिम नवोत्थानक सर मुहम्मद इकबाल आदि के व्यक्तित्व को दर्शाया है।

भारतीय जनता की रचना के विषय में आपने उन्हें दक्षिण भारत से उत्पन्न बतलाया। 'आदमी यदि पहले-पहले भारत में उत्पन्न हुआ हो तो वह उत्तर नहीं', दक्षिण भारत में जन्मा होगा। दक्षिण से ही आपने द्रविड़ों की उत्पत्ति की समस्या का भी समाधान किया। उन्नसवीं सदी में प्रजाति का सिद्धांत (रेस-थियरी) भारत पर किया जाने लगा और यह कहा जाने लगा कि आर्य और द्रविड़ ये अलग-अलग प्रजातियों के लोग हैं, तब इतिहास लिखने वालों के इस प्रयास से राष्ट्रीय भारत को चोट पहुँची थी। भारतवासियों के कान में यह बात पहले ही पहल पड़ी थी, अतएव वे चौंके और खिन्न भी हुए। इस विस्मय की निश्छलतम अभिव्यक्ति हम स्वामी विवेकानन्द में पाते हैं। 'अब एक सिद्धांत निकला है कि मनुष्य की एक खास प्रजाति थी, जिसका नाम द्रविड़ था और जो दक्षिण भारत में रहती थी और वह उत्तर भारत में रहने वाली आर्य नामक प्रजाति से सर्वथा भिन्न थी। यह भी कहा जाता है कि दक्षिण भारत में जो ब्राह्मण हैं केवल वे ही थोड़े से आर्य हैं, जो उत्तर भारत से दक्षिण को गये थे। दक्षिण भारत में बाकी जितने लोग हैं, उनकी जाति और प्रजाति ब्राह्मणों की जाति और प्रजाति से भिन्न है। श्रीमान् भाषाशास्त्री जी। आप क्षमा करेंगे, ये सारी बातें निराधार हैं।''

वही आधुनिक इतिहासकारों का चक्र इस तेजी से चला कि अब भारतीय विद्वान भी यही मानते हैं कि नीग्रो, औष्ट्रिक, द्रविड़ और आर्य, ये सारे के सारे लोग इस देश में बाहर से ही आये और इस देश की धरती लाखों वर्षों तक आदमी की आबादी से खाली ही बंजर पड़ी हुई थी। यूरोपीय तर्क आधुनिक बुद्धि का सम्मोहनास्त्र है। इसका उपयोग वे तो करते ही हैं, जिनका उद्देश्य काटना है, पसन्द यह उनको भी आता है, जो काटे जाते हैं:-

हम हुए, तुम हुए कि 'मीर हुए'।
एक ही जुल्फ़ के असीर हुए॥

दिनकर जी ने भारतीय महिमा का रसगान बड़े जोरदार ढंग से किया। उन्होंने भारत की भौगोलिक महिमा का बखान भी किया। उन्होंने न केवल भारत की भौगोलिक एकता बल्कि नदियों और तीर्थों की पूजनीयता को भी दर्शाया। भारत की भौगोलिक एकता पर आपका मानना था कि ''समुद्र से उत्तर और हिमालय से दक्षिण वाला भू-भाग यहाँ हमेशा एक देश माना जाता रहा है।'' पुराणों में भारत की भौगोलिक एकता स्पष्ट रूप से वर्णित है।

उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमलाद्रेश्चैव दक्षिणम् ।
वर्ष तद्भारतं नाम भारती यत्र सन्ततिः ।।

तीर्थ नदियों के सन्दर्भ में आपका मानना है-'धर्म और संस्कृति के अधीन एकता प्राप्त करने वाले इस देश के धार्मिक व्यक्ति आज भी स्नान के समय भारत के विभिन्न नदियों के नाम एक साथ लेते हैं:-

गंगा च यमुना चैव गोदावरी सरस्वती ।

नर्मदा सिन्धु कावेरी जलेऽस्मिन् सन्निधं कुरु ।।

यही नहीं, प्रत्युत देश की मोक्षदायिका नगरियों की सूची में भी उत्तर और दक्षिण दोनों भू-भागों की नगरियाँ सम्मिलित हैं, जिनका धार्मिक भाव से नामोच्चार उत्तर और दक्षिण दोनों भागों की जनता करती है:-

'अध्योध्या-मथुरा-माया-काशी-कांची अवन्तिका ।
पूरी द्वारावती ज्ञेया सप्तैषाः मोक्षदायिका ।।'

दिनकर जी ने तीर्थों के साथ भारत की श्रेष्ठता पर विचार किया। 'देवगण भी गान करते हैं कि भारतभूमि में जन्म लेने वाले लोग धन्य हैं। स्वर्ग और अपवर्ग-कल्प इस देश में देवता भी देवत्व को छोड़कर मनुष्य योनि में जन्म लेना चाहते हैं।

''श्रीमद्भागवत् की रचना दक्षिण भारत में हुई थी, किन्तु उस पुराण में भी यही भाव और भी अधिक विलक्षण रूप से दुहराया गया है।

अहो अमीषां किमकारिशोभनं प्रसन्न,
एषां स्विदुत स्वयं हरिः।
यैर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे,
मुकुन्द सेवौपयिक स्पृहा हि नः ॥

अत्यंत प्राचीन काल में भगवान रामचन्द्र जी ने भी भारत को स्वर्ग से श्रेष्ठतर माना था।

नेयं स्वर्णपुरी लंका रोचते मम लक्ष्मणः।
जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी ॥

इस पुस्तक में दिनकर जी ने महापुरुषों के व्यक्तित्व का सार तत्व प्रस्तुत कर संस्कृति के उन्नायकों का भी पुनर्स्थापन किया है। राजा राममोहन राय, महादेव गोविंद रानाडे, आगरकर और तिलक, गोपालकृष्ण गोखले, स्वामी दयानन्द, एनी बेसेन्ट, स्वामी विवेकानन्द, बालगंगाधर तिलक, अरविंद, महात्मा गाँधी, श्री सर्वपल्ली राधाकृष्णन, सर मुहम्मद इकबाल आदि सिद्ध महापुरुषों पर अपनी लेखनी को श्रद्धानत किया।

पुस्तक में दिनकर जी ने अपनी संस्कृति की रूपरेखा इन शब्दों में व्यक्त की 'प्रत्येक सभ्यता, प्रत्येक संस्कृति, अपने-आप में पूर्ण होती है। उसके सभी अंश, उसके सभी पहलू एक-दूसरे पर अवलम्बित और सब के सब किसी एक केन्द्र से संलग्न होते हैं। संस्कृतियां जब बदलती हैं, तब खान-पान, रहन-सहन, पोशाक भले ही बदल जाएं, किन्तु मन उनका नहीं बदलता, सोचने की पद्धति उनकी नहीं बदलती और जीवन को देखने वाला दृष्टिकोण उनका एक ही रहता है। विशेषतः भारत-जैसे प्राचीन देश को यदि कोई दबाकर उसे अमेरिका या यूरोप बनाना चाहेगा तो इस दबाव का परिणाम अच्छा नहीं निकलेगा। कल्याण इसमें है कि शासक उस दिशा को पहचान ले, जिस दिशा का संकेत भारत को दूर और सन्निकट इतिहास से मिलता है। राममोहन, विवेकानन्द, दयानन्द, तिलक, रवीन्द्र और गाँधी को उस दिशा का पूरा ज्ञान था। इसलिए जनता ने उन्हें अपना उद्धारक समझा, इसलिए भारत के इतिहास ने उनका साथ दिया।''

इस प्रकार दिनकर का अध्ययन ऐतिहासिक प्रमाणिकता की रक्षा करते हुए उन तत्वों पर भी बल देता है, जो देश की जनता को उद्बुद्ध और क्रियाशील बनाने में सहायक हैं। इसे उनके अध्ययन की एक विशिष्ट देन माना जा सकता है। दिनकर ने विश्व संस्कृति पर भारतीय संस्कृति के प्रभाव की चर्चा भी की है। यह चर्चा भारतीयों में आत्मगौरव की भावना जगाने के लिए भी की है। हमारी सांस्कृतिक एकता पुस्तक के 'प्राचीन भारत के बौद्धिक उत्कर्ष' शीर्षक अध्याय में आपने यह दिखाया है कि ई॰ पू॰ -480 से लेकर सातवीं शती तक दर्शन, गणित, ज्योतिष, चिकित्सा आदि क्षेत्रों में भारत की प्रतिष्ठा विश्व स्तर पर थी। आधुनिक काल में भी भारतीय साहित्य और दर्शन ने जर्मन जाति को प्रभावित किया। अमेरिका में जो अतीन्द्रियतावादी आन्दोलन चला वह भी भारतीय चिंतन से प्रभावित था।

निष्कर्ष रूप में दिनकर जी कहते हैं - ''भारतीय संस्कृति का पश्चिम पर पड़ने वाला यह प्रभाव आज भी अवरूद्ध नहीं हुआ है, इसके प्रमाण कवि टी.एस. इलियट की वर्तमान कविताएं हैं। इलियट की कविताओं को देखकर तो ऐसा लगता है कि जो कवि और चिन्तक वर्तमान जड़ता से ऊबकर कहीं और चल देना चाहते हैं, उनके लिए आज भी आश्रय का स्थल वही है, जिसका निर्माण प्राचीन भारत में हुआ था।'' स्पष्ट है कि दिनकर ने संस्कृति के अध्ययन के माध्यम से पूरे देश की एकता प्रतिपादित करने के साथ ही उसके प्रसुप्त आत्मविश्वास को जगाने का कार्य भी किया है।

दिनकर जी ने अपनी रचना 'कुरुक्षेत्र' के माध्यम से

भी द्वापर युग की उस महानतम् घटना महाभारत को लोक संस्कृति के धरातल पर प्रस्तुत किया है। कहा जाता है कि 'महाविनाश में ही सृजन का बीज छिपा होता है। कर्तव्य की परायणता से पूर्ण वह धर्म भी धन्य था।'

यह होगा महारण राग के साथ,
युधिष्ठिर हो विजयी निकलेगा;
नर-संस्कृति की रणछिन्न लता पर,
शान्ति-सुधा-फल दिव्य फलेगा।
कुरुक्षेत्र की धूल नहीं इति पन्थ की,
मानव ऊपर और चलेगा,
मनु का यह पुत्र निराश नहीं,
नव धर्म-प्रदीप अवश्य जलेगा।

दिनकर जी ने इस काव्य में कर्म और चिंतन के बीच समन्वय स्थापित करने का, उनमें पारस्परिक विरोध को मिटाकर उनकी दूरी दूर करने का संदेश दिया है।

जहाँ भुजा का एक पंथ हो अन्य पंथ चिंतन का,
सम्यक् रूप नहीं खुलता उस द्वंद्व-ग्रस्त जीवन का ।
केवल ज्ञानमयी निवृत्ति से द्विधा न मिट सकती है,
जगत छोड़ देने से मन की तृषा न घट सकती है ॥

इस प्रकार 'कुरुक्षेत्र' महाभारत के अधिकतर अंश 'भीष्म-युधिष्ठिर संवाद' से ही लिया गया है। दिनकर जी ने विशेषत: कुरुक्षेत्र में नवयुग की नवयुवक जागृति और न्याय के समता के लिए उत्पीड़ितों की क्रांति की जो जोरदार आवाज उठायी है, उस सामयिक सन्देश का हम सहर्ष अभिनंदन करते हैं।

आगे चलकर रश्मिरथी नामक खण्डकाव्य में भी दिनकर ने संस्कृति के प्रति पुन: अपनी आस्था को ही व्यक्त किया। मानवता के प्रति प्रतिबद्धता, दलितों-दुखियों की दुर्दशा पर उत्साहपूर्ण रोष, गहन भारत प्रेम की परिपूर्ण अभिव्यक्ति काव्य की पंक्ति-पंक्ति में पिरोई हुई है।

दिनकर का यह काव्य 'कर्ण के चरित्र की महानता' से भरा पड़ा है। दान, वीरता, त्याग, महाबल, धनुर्प्रवीण, दिव्य-तेज से युक्त वह महामानव धन्य था, जिसे इतिहास 'सूतपुत्र' के नाम से जानता है।

जिसके पिता सूर्य थे, माता कुन्ती सती कुमारी,
उसका पलना हुआ, धार पर बहती हुई पिटारी ।
सूत-वंश में पला, चखा भी नहीं जननि का क्षीर,
निकला कर्ण सभी युवकों में तब भी अद्‌भुत वीर ॥

वह तन से समरशूर, मन से भावुक, स्वभाव से दानी, जाति-गोत्र से नहीं, वह स्वयं के पौरुष का अभिमानी था। इतिहास आज भी उसका नाम बड़े ही आदर भाव से लेता है, तभी तो दिनकर जी कहते हैं:-

'दानवीर! जय हो, महिमा का गान सभी जन गाये,
देव और नर, दोनों ही, तेरा चरित्र अपनाये।
दे अमोघ शर-दान सिधारे, देवराज अम्बर को,
व्रत का अन्तिम मूल्य चुका कर गया कर्ण निज घर को॥

इसके अलावा भी दिनकर का अधिकांशत: साहित्य सांस्कृतिक धरातल पर प्रतिष्ठित दिखायी देता है। फिर भी इतना अवश्य कहा जा सकता है कि महान् कवि किसी वाद प्रवृत्ति या विचारधारा में बँध कर काव्य सृजन नहीं करता। वह अपनी हर नई रचना में सौन्दर्य और सत्य के नए सम्बन्ध सूत्रों का अन्वेषण करता है। उसके लिए कोई भी परिधि या सीमा अन्तिम नहीं होती। दिनकर भी इस तथ्य के अपवाद नहीं थे। किन्तु अलोचकों ने उन्हें जब युग-चारण, युग-द्रष्टा, वैतालिक या राष्ट्रकवि की सीमाओं में बाँधाना चाहा तब उन्होंने काव्यात्मक आख्यान के द्वारा उन सीमाओं से भी स्वयं को मुक्त कर लिया। वे प्रकृत्या सांस्कृतिक चेतना के कवि हैं। केवल राष्ट्र को अपने काव्य का विषय बनाने वाला ही सांस्कृतिक कवि नहीं होता। सांस्कृतिक कवि वह होता है, जो संस्कृति के अन्त:स्वरूप का व्यष्टिगत और समष्टिगत दोनों धरातलों पर सौन्दर्यमूलक साक्षात्कार कर सके। दिनकर इसी आधार पर सांस्कृतिक चेतना के कवि हैं कि वे संस्कृति का ग्रहण समष्टिगतमूलक दृष्टि और व्यष्टिगत प्रेम सौन्दर्य-चेतना दोनों सन्दर्भों में करते हैं और यही बौद्धिक दर्शन उनका संस्कृति-बोध है।

प्रवक्ता - हिन्दी (अंशकालिक), आर्य महिला पी.जी. कालेज

कलम के सिपाही दिनकर के प्रति

डॉ. महाश्वेता चतुर्वेदी

कलम सिपाही दिनकर का
उद्‌बोधन हमें जगाता है।
वीरों के उस सिंहनाद की
दिनकर याद दिलाते हैं
धर्मयुद्ध के लिए सतत
संजीवन हमें पिलाते हैं।
पापमयी सेना को पथ से
पल में रुद्र डिगाता है।
कुरुक्षेत्र है निखिल विश्व यह
युद्ध निरंतर चलता है।
स्फुलिंग उठ रहे स्वार्थ के
अपनापन भी खलता है।
ओजस्वी स्वर वाला कवि
मन का भय शीघ्र भगाता है।
तन के बल लड़ने वाला
निजी मनोबल भूल गया।
अहंकार और मद से भरकर
गुब्बारों सा फूल गया।
राह का पुरुष वही यहाँ पर
हिंसा-फ़सल उगाता है।
हृदय-पक्ष का ध्यान नहीं कुछ
वैज्ञानिक उन्नति करता।
प्रतिपल है देवत्व उपेक्षित
पशुता से जीवन भरता।
आकर्षण आसुरी सभ्यता
जिससे भवन रंगाता है।
यदि जनमानस जग जायेगा
प्रश्नों का हल मिल जायेगा।
दानव जो आतंकवाद का
पलभर में हिल जायेगा।
तेजस्वी को कोई दानव
क्या फिर कभी ठगाता है?

संपर्क सूत्र : २४, आँचल कालोनी,
श्यामगंज, बरेली - २४३००५

कर्मठ वेदान्त : स्वामी विवेकानन्द

डॉ. रामधारी सिंह 'दिनकर'

(राष्ट्रकवि दिनकर ने अपने 'संस्कृति के चार अध्याय' ग्रन्थ में भारतीय परम्परा तथा इतिहास की एक अत्यन्त सुललित झाँकी प्रस्तुत की है। प्रस्तुत लेख जनवरी 1963 ई॰ में प्रकाशित 'विवेक-ज्योति' के प्रवेशांक से लिया गया है। अब तक स्वामी जी पर जो कुछ लिखा गया है, उन सर्वश्रेष्ठ रचनाओं में से इसे एक कहा जा सकता है)

परमहंस रामकृष्ण ने साधनापूर्वक धर्म की जो अनुभूतियाँ प्राप्त की थीं, स्वामी विवेकानन्द ने उनसे व्यावाहारिक सिद्धान्त निकाले। रामकृष्ण आध्यात्मिकता के अद्‌भुत यंत्र थे। वे आत्मानन्द की खोज में थे एवं आनन्द का सबसे सुगम मार्ग उन्हें यह दिखाई पड़ा कि अपने आप को वे काली की कृपा के भरोसे छोड़ दें। उनका सारा जीवन प्रकृति के निश्छल पुत्र का जीवन था। वे अदृश्य सत्ता के हाथ में एक ऐसा यंत्र बन गए थे, जिसमें कालिमा नहीं थी, मैल नहीं था, अतएव, जिसके भीतर से अदृश्य अपनी लीला का चमत्कार अनायास दिखा रहा था। बहुत दिनो से हिन्दुओं का विश्वास रहा है, कि हृदय के पूर्ण रूप से निर्मल हो जाने पर, मन से स्वार्थ की सारी गन्ध निकल जाने पर एवं चित्त में छल की छाया भी नहीं रहने पर मनुष्य की सहज वृत्ति पूर्ण रूप से जागृत हो जाती है एवं तब धर्म की अनुभूतियाँ उसके भीतर आप से आप जागने लगती हैं। रामकृष्ण के जीवन में यह सत्य साकार हो उठा था। अतएव, धर्म की सारी उपलब्धियाँ उन्हें आप-से-आप प्राप्त हो गईं। उन उपलब्धियों के प्रकाश में विवेकानन्द ने भारत और समग्र विश्व की समस्याओं पर विचार किया एवं उनके जो समाधान उन्होंने उपस्थित किये वे, असल में, रामकृष्ण के ही दिए हुए समाधान हैं। रामकृष्ण और विवेकानन्द ये दोनो एक ही जीवन के दो अंश, एक ही सत्य के दो पक्ष हैं। रामकृष्ण अनुभूति थे, विवेकानन्द उसकी व्याख्या बनकर आए। रामकृष्ण दर्शन थे, विवेकानन्द ने उनके क्रिया-पक्ष का आख्यान किया। स्वामी निर्वेदानन्द ने रामकृष्ण को हिन्दू धर्म की गंगा कहा है, जो वैयक्तिक समाधि के कमण्डल में बन्द थी। विवेकानन्द इस गंगा के भागीरथ हुए और उन्होंने देवसरिता को रामकृष्ण के कमण्डल से निकालकर सारे विश्व में फैला दिया।

स्वामी विवेकानन्द का घर का नाम नरेन्द्रनाथ दत्त था। वे सन् १८६३ ई॰ की १२ जनवरी को कोलकाता में एक क्षत्रिय परिवार में पैदा हुए थे। उन्होंने कॉलेज में शिक्षा पायी थी और बड़ी योग्यता के साथ बी॰ए॰ पास किया था। अपने छात्र-जीवन में वे उन हिन्दू युवकों के साथी थे, जो यूरोप के उदार एवं विवेकशील चिन्तकों की विचारधारा पर अनुरक्त थे तथा जो ईश्वरीय सत्ता एवं धर्म को शंका से देखते थे। विवेकानन्द का आदर्श उस समय यूरोप था एवं यूरोपीय उद्दामता को वे पुरुष का सबसे तेजस्वी लक्षण मानते थे।

नरेन्द्रनाथ का शरीर काफी विशाल और मांसपेशियाँ सुपुष्ट थीं। वे कुश्ती, बाक्सिंग, दौड़, घुडदौड़ और तैरना—सभी के प्रेमी और सबमें भली-भाँति दक्ष थे। वे संगीत के भी प्रेमी और तबला बजाने में उस्ताद थे। रामकृष्ण का शरीर कोमल था एवं आरम्भ से ही उनमें सात्त्विकता बहुत उच्च कोटि की थी। इसके विपरीत, विवेकानन्द का शरीर पुष्ट तथा स्वभाव पौरुष के वेगों से उच्छल एवं उद्दाम था तथा आरम्भ से ही उनके भीतर राजसिकता के भाव थे। विद्या की दृष्टि से भी देखें तो रामकृष्ण, करीब-करीब, अपढ़

व्यक्ति थे तथा उनकी सारी पूँजी उनकी सहज वृत्ति थी, जबकि नरेन्द्रनाथ संस्कृत और अँग्रेजी के उद्भट विद्वान् एवं यूरोप के तार्किकों एवं दार्शनिकों की विद्याओं में परम निष्णात थे। उनमें सहज-वृत्ति के बदले तार्किकता और विवेकशीलता की ज्वाला प्रचण्ड रूप से जल रही थी। उनमें यूरोपीय सभ्यता की वह प्रवृत्ति अत्यन्त प्रखर थी, जो निरन्तर खोज और सतत अनुसन्धान में लगी रहती है; जो किसी भी कथन को प्रमाण नहीं मानकर प्रत्येक विषय का विश्लेषण स्वयमेव करना चाहती है, तथा जो सत्य की खोज में विवेक और बुद्धि को छोड़कर और किसी वस्तु का सहारा नहीं लेती।

नरेन्द्रनाथ हर्बट स्पेंसर और जोन स्टुअर्ट मिल के प्रेमी थे। वे शेली के सर्वात्मवाद और वर्डस्वर्थ की दार्शनिकता के प्रेमी एवं हेगेल के वस्तुनिष्ठात्मक आदर्शवाद पर अनुरक्त थे। फ्रांसीसी राज्य-क्रान्ति का प्रभाव, उस समय, साहित्य के माध्यम से भारत में जोरों से फैल रहा था एवं नरेन्द्रनाथ भी उसके स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व के सिद्धान्त-त्रय में बड़े उत्साह से विश्वास करते थे। यूरोपीय संस्कारों का उनमें पूरा जोर था और कहते हैं, अपने छात्र जीवन में वे केवल शंकावादी ही नहीं, प्रचण्ड नास्तिक के समान बातें करते थे। किन्तु, बौद्धिकता के इन समस्त उद्वेगों के बीच उनके भीतर वह जिज्ञासा काम कर रही थी, जो पैगम्बरों में उठा करती थी, अवतारों और धर्म-संस्थापकों में जगा करती है, जो सभी प्रश्नों से ऊपर उठकर, यह समझना चाहती है कि सृष्टि है क्या?जीव सान्त है या अनन्त?जन्म के पूर्व हम कहाँ थे?मृत्यु के पश्चात् हम कहाँ जाएँगे?सृष्टि कोई आकस्मिक घटना है या इसके भीतर कोई नियम काम कर रहा है?यदि हाँ, तो उस नियम का निर्माता कौन है?यही जिज्ञासा आरम्भ में उन्हें ब्रह्म-समाज की ओर ले गई और वहाँ से निराश होने पर यही जिज्ञासा उन्हें दक्षिणेश्वर ले आई जहाँ रामकृष्ण अपनी वैयक्तिक साधना में लीन थे, किन्तु, जहाँ से यह संवाद सारे बंगाल में फैल रहा था कि भारत में धर्म फिर से जीता-जागता रूप लेकर अवतरित हुआ है, जिसके प्रमाण रामकृष्ण हैं।

रामकृष्ण हिन्दू-धर्म की समग्रता के प्रतिनिधि थे। हिन्दुत्व के पौराणिक रूपों की ईसाइयों और बुद्धिवादियों ने कसकर निन्दा की थी। राममोहन राय और दयानन्द जब हिन्दुत्व की ओर से बोलने को खड़े हुए, तब उन्हें भी हिन्दुत्व के पौराणिक रूपों की ओर से बोलने का साहस नहीं हुआ। क्योंकि धर्म के इन रूपों की ओर से ऐसा तर्क ही नहीं दिया जा सकता था जो बुद्धिवादियों को मान्य हो। निदान हिन्दुत्व ने रामकृष्ण में अपना जीवित रूप प्रकट किया और आलोचकों से यह कहा कि जिसे तुम बुद्धि से नहीं समझ सकते, उसे आँखों से देख लो। अतएव, रामकृष्ण धर्म के उन रूपों के प्रतिनिधि हुए, जिन पर ईसाई प्रचारकों का कोप था तथा जो बुद्धिवादी हिन्दुओं की भी समझ में नहीं आते थे। किन्तु, नरेन्द्रनाथ बुद्धिवाद की प्रतिमा थे। वे यूरोपीय विचारधाराओं के मूर्तिमान रूप थे एवं उनके भीतर वे सारे संस्कार वर्तमान थे जिनके कारण अँग्रेजी पढ़े-लिखे हिन्दू भी हिन्दू-धर्म की आलोचना करने लगे थे। वस्तुतः नरेन्द्रनाथ का मिलन श्रद्धा और बुद्धि का मिलन था, रहस्यवाद और बुद्धिवाद का मिलन था। इन दो मूर्तियों में से एक तो पुराणों के सत्यों में लिपटी हुई थी, धर्म के बाह्याचारों को भी सत्य मानकर उन्हें कायम रखना चाहती थी तथा प्राचीन भारत की सभी साधनाओं को सत्य बतलाना चाहती थी और दूसरी तर्क के उच्छल एवं धर्म के बाह्य बन्धनों को तोड़कर प्राचीनता से बाहर निकल जाने को बेचैन थी। रामकृष्ण ने नरेन्द्रनाथ से कुछ भी नहीं लिया, हाँ, अपनी साधना का तेज और अपनी अदृश्य-दर्शिनी दृष्टि को नरेन्द्रनाथ में उतारकर उन्होंने उन्हें विवेकानन्द अवश्य बना दिया। कदाचित्, रामकृष्ण और विवेकानन्द के मिलन में पूर्वी और पश्चिमी जगतों का ही मिलन सम्पन्न हुआ है और, शायद, जिस दिन पश्चिमी जगत् के लोग पूर्वी जगत् के आध्यात्मिक संस्कारों को आत्मसात् करेंगे, भूमण्डल का कल्याण उसी दिन होगा और उसी दिन विश्व भर के शान्ति-साधकों के सपने साकार होंगे। किपलिंग ने जो यह बात कही है कि पूर्व पूर्व और पश्चिम पश्चिम है तथा दोनों का मिलन नहीं होगा, वह असत्य है। सत्य तो यही दीखता है कि पश्चिम पूर्व से मिलेगा और और ठीक उसी प्रकार मिलेगा, जैसे नरेन्द्रनाथ रामकृष्ण से मिले थे।

उपनिषदों के समय से भारतवर्ष निवृत्तिवादियों का देश

रहा था। एक दृष्टि से देखिए तो निवृत्ति और प्रवृत्ति धर्म के भीतर की राजनीति है, जैसे साहित्य की राजनीति क्लासिक और रोमांटिक का विवाद है। किन्तु, राजनीति यह केवल पण्डितों की है। पण्डित ही निवृत्ति के पर्दे में प्रवृत्ति का रस लेते हैं, बाहर त्याग का उपदेश देते हैं, संसार को नि:सार बताते हैं और भीतर उसे सारपूर्ण मानकर उसका उपभोग करते हैं। किन्तु इस दगाबाजी से जनसाधारण मारा जाता है। जनता के पास छल-प्रपंच और दाँव-पेंच इतने नहीं होते, जितने पण्डितों के पास होते हैं। परिणाम यह होता है कि पण्डित देश में जैसी दार्शनिक धारा चला देते हैं, जनता के कर्म बहुत-कम उसी के अनुरूप हो जाते हैं। वैदिक हिन्दू प्रवृत्तिमार्गी थे। उनके ऋषि भी ग ृहस्थ और धर्माचार्य भी बाल-बच्चों वाले होते थे। जो लोग वैदिक मंत्रों के दृष्टा थे, ऊँचे दार्शनिक सिद्धान्तों के आविष्कर्ता और व्याख्याता थे, वे भी खेतों में काम करते थे तथा गउओं का पालन-पोषण करके परिवार का पालन एवं अतिथियों की सेवा करते थे। जब समाज प्रवृत्तिमार्गी होता है, तब शारीरिक श्रम निन्दा की वस्तु नहीं होता। उस समय हलवाहे और विद्वान–दोनों एक समान उद्यमी होते हैं। वैदिक काल का समाज ऐसे ही कर्मठ लोगों का समाज था, जब हाथ और मस्तिष्क में कोई बैर नहीं था। बाद में पण्डितों ने सिद्धान्त निकाला कि जीवन का सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य मोक्ष है और मोक्ष पाने के लिए कामिनी और कंचन का त्याग आवश्यक है। परिणाम यह हुआ कि हट्टे-कट्टे तन्दुरुस्त नौजवान संन्यासी होने लगे और नारियों की मर्यादा समाज में घटने लगी। फिर भी, वैदिक संस्कार अभी नि:शेष नहीं हुआ था, इसीलिए उपनिषदों में कहीं-कहीं हम यह उपदेश भी देखते हैं कि भोग निरे अनादर की वस्तु नहीं है, यदि वह त्याग के साथ किया जाए (**तेन त्यक्तेन भुंजीथा:**)। कबीर, नानक और उधर वल्लभाचार्य ने गृहस्थी बसा कर संसार को सम्मान अवश्य दिया, किन्तु, जनता को प्रवृत्ति के मार्ग पर लाने का सचेष्ट प्रयास उनमें भी नहीं था। कण्ठी, माला, आरती और घण्टे में मग्न हिन्दुओं को यह बात अखरी ही नहीं कि उनका देश पराधीन है। अथवा वे निर्धन और दरिद्र होते जा रहे हैं।

जब स्वामी विवेकानन्द का आविर्भाव हुआ, उन्हें अपने सामने कई प्रकार के उद्देश्य दिखाई पड़े। सबसे बड़ा काम धर्म की पुन:स्थापना का काम था। बुद्धिवादी मनुष्यों की धर्म पर से श्रद्धा, केवल भारत में ही नहीं, प्रत्युत, सभी देशों में हिलती जा रही थी। अतएव, यह आवश्यक था कि धर्म की ऐसी व्याख्या प्रस्तुत की जाए, जो अभिनव मनुष्य को ग्राह्य हो, जो मनुष्य की इहलौकिक विजय के मार्ग में बाधा नहीं डाले। दूसरा काम हिन्दू-धर्म पर कम-से-कम हिन्दुओं की श्रद्धा को जमाये रखना था। किन्तु, हिन्दू यूरोप के प्रभाव में आ चुके थे तथा अपने धर्म और इतिहास पर भी वे तब तक विश्वास करने को तैयार नहीं थे, जब तक कि यूरोप के लोग उनकी प्रशंसा नहीं करें। और तीसरा काम भारतवासियों में आत्मगौरव की भावना को प्रेरित करना था, उन्हें अपनी संस्कृति, इतिहास और आध्यात्मिक परम्पराओं का योग्य उत्तराधिकारी बनाना था।

स्वामी विवेकानन्द का देहान्त केवल ३९ वर्ष की आयु में हो गया, किन्तु, इस छोटी-सी अवधि में ही उन्होंने उपर्युक्त तीनों कार्य सम्पन्न कर दिए। राममोहन राय के समय से भारतीय संस्कृति और समाज में जो आन्दोलन चल रहे थे, वे विवेकानन्द में आकर अपनी चरम सीमा पर पहुँचे। राममोहन, केशवसेन, दयानन्द, रानाडे, एनीबेसेन्ट, रामकृष्ण एवं अन्य चिन्तकों तथा सुधारकों ने भारत में जो जमीन तैयार की, विवेकानन्द उसमें से अश्वत्थ होकर उठे। अभिनव भारत को जो कुछ कहना था, वह विवेकानन्द के मुख से उद्गीर्ण हुआ। अभिनव भारत को जिस दिशा की ओर जाना था, उसका स्पष्ट संकेत विवेकानन्द ने दिया। विवेकानन्द वह सेतु हैं, जिस पर प्राचीन और नवीन भारत परस्पर आलिंगन करते हैं। विवेकानन्द वह समुद्र हैं, जिस में धर्म और राजनीति, राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता तथा उपनिषद् और विज्ञान, सब के सब समाहित होते हैं। रवीन्द्रनाथ ने कहा है, "यदि कोई भारत को समझना चाहता है, तो उसे विवेकानन्द को पढ़ना चाहिए।" अरविन्द के वचन हैं, "पश्चिमी जगत् में विवेकानन्द को जो सफलता मिली, वही इस बात का प्रमाण है कि भारत केवल मृत्यु से बचने को नहीं जगा है, वरन् वह

विश्व-विजय करके दम लेगा।" और नेताजी सुभाष चन्द्र बोस ने लिखा है कि "स्वामी विवेकानन्द का धर्म राष्ट्रीयता को उत्तेजना देने वाला धर्म था। नई पीढ़ी के लोगों में उन्होंने भारत के प्रति भक्ति जगायी, उसके अतीत के प्रति गौरव एवं उसके भाविष्य के प्रति आस्था उत्पन्न की। उनके उद्‌गारों से लोगों में आत्म-निर्भरता और स्वाभिमान के भाव जगे हैं। स्वामी जी ने सुस्पष्ट रूप से राजनीति का एक भी सन्देश नहीं दिया, किन्तु, जो भी उनके अथवा उनकी रचनाओं के सम्पर्क में आया, उसमें देशभक्ति और राजनीतिक मानसिकता, आप-से-आप उत्पन्न हो गयी।"

ये सारी प्रशंसाएँ सही हैं। इनमें कोई भी अत्युक्ति नहीं है। स्वामी जी धर्म और संस्कृति के नेता थे। राजनीति से उनका कोई सरोकार नहीं था। पर राजनीति तो स्वयं संस्कृति की चेरी है। उसका एक लघु अंग मात्र है। स्वामी जी ने अपनी वाणी व कर्तव्य से भारतवासियों में यह अभिमान जगाया कि हम अत्यन्त प्राचीन सभ्यता के उत्तराधिकारी हैं। हमारे धार्मिक ग्रंथ संसार में सबसे उन्नत और हमारा इतिहास सबसे महान् है; हमारी संस्कृत विश्व की सबसे प्राचीन भाषा और हमारा साहित्य सबसे उन्नत साहित्य है; यही नहीं, प्रत्युत, हमारा धर्म ऐसा है जो विज्ञान की कसौटी पर खरा उतरता है और जो विश्व के सभी धर्मों का सार होता हुआ भी उन सबसे कुछ अधिक है। स्वामी जी की वाणी से हिन्दुओं में यह विश्वास उत्पन्न हुआ कि उन्हें किसी के भी सामने मस्तक झुकाने या लज्जित होने की जरूरत नहीं है। भारत में सांस्कृतिक राष्ट्रीयता पहले उत्पन्न हुई, राजनैतिक राष्ट्रीयता बाद को जन्मी है और इस सांस्कृतिक राष्ट्रीयता के पिता स्वामी विवेकानन्द थे।

सन् १८९३ ई॰ में शिकागो (अमरीका) में निखिल विश्व के धर्मों का एक महासम्मेलन हुआ था। स्वामी विवेकानन्द के हृदय में यह भाव उत्पन्न हुआ कि वे इस सम्मेलन में अवश्य जाएँगे और अनेक प्रचण्ड बाधाओं के होते हुए भी वे इस सम्मेलन में सम्मिलित हुए। और हिन्दुत्व एवं भारतवर्ष के लिए यह अच्छा हुआ कि स्वामी जी इस सम्मेलन में जा सके क्योंकि इस सम्मेलन में हिन्दुत्व के पक्ष में ऐसा ऊँचा प्रचार हुआ, जैसा न तो कभी पहले हुआ था और न उनके बाद से आज तक हो पाया है।...

स्वामी जी के विदेश-गमन के कई उद्देश्य थे। एक तो वे भारतवासियों के इस अन्धविश्वास को तोड़ना चाहते थे कि समुद्र-यात्रा पाप है तथा विदेशियों के हाथ का अन्न और जल ग्रहण करने से जाति चली जाती है। दूसरे, भारत के अँग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों को वे यह भी दिखलाना चाहते थे कि भारतवासी अपना आदर आप भले ही नहीं करें, किन्तु, उनके सांस्कृतिक गुरु पश्चिम के लोग भारत से प्रभावित हो सकते हैं। उनका यह अटल विश्वास था कि भारत के आध्यात्मिक विचारों और आदर्शों का प्रचार यदि पश्चिम के उन्नत देशों में किया जाय, तो इससे वहाँ के लोग अवश्य प्रभावित होंगे तथा पृथ्वी पर एक नई कल्पना, एक नये जीवन का सूत्रपात होगा। स्वामी रामकृष्ण ने साधनापूर्वक यह जान लिया था कि विश्व के सभी धर्म एक ही धर्म के विभिन्न अंग है एवं सम्पूर्ण विश्व में एक प्रकार की धार्मिक एकता का भाव जगना ही चाहिए। अजब नहीं कि स्वामी जी इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए भी शिकागो के धार्मिक सम्मेलन में जाने को आतुर हो उठे हों।

शिकागो-सम्मेलन में स्वामी जी ने जिस ज्ञान, जिस उदारता, जिस विवेक और जिसे वाग्मिता का परिचय दिया, उससे वहाँ के सभी लोग मंत्रमुग्ध और पहले ही दिन से उनके भक्त हो गए। प्रथम दिन तो स्वामी जी को सबसे अन्त में बोलने का अवसर इसलिए दिया गया था कि उनका कोई समर्थक नहीं था, उन्हें कोई जानता या पहचानता नहीं था। किंतु, उसके बाद सम्मेलन में जो उनके दस-बारह भाषण हुए, वे भाषण भी उन्होंने सभा के अन्त में ही दिए, क्योंकि सारी जनता उन्हीं का भाषण सुनने को अन्त तक बैठी रहती थी। उनके भाषणों पर टिप्पणी करते हुए 'द न्यूयार्क हेराल्ड' ने लिखा कि "धर्मों की पार्लमेंट में सबसे महान् व्यक्ति विवेकानन्द हैं। उनका भाषण सुन लेने पर अनायास ही यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि ऐसे ज्ञानी देश को सुधारने के लिए धर्म-प्रचारक भेजना कितनी बेवकूफी की बात है।"

शिकागो-सम्मेलन से उत्साहित होकर स्वामी जी

अमेरिका और इंग्लैंड में तीन साल तक रह गए और इस अवधि में भाषणों, वार्तालापों, लेखों, कविताओं, विवादों और वक्तव्यों के द्वारा उन्होंने हिन्दू धर्म के सार को सारे यूरोप में फैला दिया। प्राय: डेढ़ सौ वर्षों से ईसाई धर्म-प्रचारक संसार में हिन्दुत्व की जो निन्दा फैला रहे थे, उस पर अकेले स्वामी जी के कर्तृव्य ने रोक लगा दी और जब भारतवासियों ने यह सुना कि सारा पश्चिमी जगत् स्वामी जी के मुख से हिन्दुत्व का आख्यान सुनकर गद्गद हो रहा है तब हिन्दू भी अपने धर्म और संस्कृति के गौरव का अनुभव कुछ तीव्रता से करने लगे। अँग्रेजी पढ़कर बहके हुए हिन्दू बुद्धिवादियों को समझाना बहुत कठिन कार्य था। किन्तु, जब उन्होंने देखा कि स्वयं यूरोप और अमेरिका के नर-नारी स्वामी जी के शिष्य बनकर हिन्दुत्व की सेवा में लगते जा रहे हैं, तब उनके भीतर भी ग्लानि की भावना जगी और बकवास छोड़कर वे भी स्थिर हो गए। इस प्रकार हिन्दुत्व को लीलने के लिए, अँग्रेजी भाषा, ईसाई धर्म और यूरोपीय बुद्धिवाद के पेट से जो तूफान उठा था, वह स्वामी विवेकानन्द के हिमालय जैसे विशाल वक्ष से टकराकर लौट गया। हिन्दू-जाति का धर्म है कि वह जब तक जीवित रहे, विवेकानन्द की याद उसी श्रद्धा से करती जाय, जिस श्रद्धा से वह व्यास और वाल्मीकि की याद करती है।

स्वामी जी की व्यावहारिकता यह थी कि यूरोप तथा अमेरिका को उन्होंने संयम और त्याग का महत्व समझाया था, किन्तु, भारतवासियों का ध्यान उन्होंने भारतीय समाज की आर्थिक दुरवस्था की ओर आकृष्ट किया एवं धर्म को उनके सामने ऐसा बनाकर रखा जिससे मनुष्य की आधिभौतिक उन्नति में कोई बाधा नहीं पड़े। अमेरिका की उच्छल जीवनी-शक्ति, वहाँ की स्वच्छता, वहाँ का संगठन, वहाँ की सौंदर्य-भावना और वहाँ के वैज्ञानिक साधनों का उपयोग, ये बातें स्वामी जी को बहुत पसन्द आई थीं, किन्तु यूरोपीय सभ्यता के जो दोष हैं, वे भी उनकी आँखों से ओझल नहीं रहे। बोस्टन में दिए गए अपने एक भाषण में स्वामी जी ने इन दोषों का ऐसा पर्दाफाश किया कि वहाँ की जनता उनसे रुष्ट हो गयी। फिर भी स्वामी जी ने अमेरिकी और यूरोपीय लोगों को उनकी सभ्यता का दोष दिखाना बन्द नहीं किया। यूरोप और अमेरिका में जो जातीय अहंकार है, स्वार्थ-साधन और विलासिता के लिए जो पारस्परिक होड़ है, धर्म और संस्कृति के मामले में वहाँ जो भयानक असहिष्णुता है, गरीबों के आर्थिक शोषण का जो विकराल भाव तथा राजनीतिक चालबाजियाँ और हिंसा के जो उद्वेग हैं, उन्हें स्वामी जी यूरोपीय सभ्यता के पाप कहते थे और पश्चिमी देशों के श्रोताओं के सामने वे इनका खुलकर उल्लेख करते थे। व्यक्ति और समाज, दोनों की रक्षा व शान्ति के लिए स्वामी जी धर्म को जरूरी मानते थे, अत: यूरोप को धर्म से विमुख होते देख कर उन्हें चिन्ता हुई। उनका विचार था कि धर्म हीन सभ्यता निरी पशुता का उज्जवल रूप है तथा उसका विनाश वैसे ही अवश्यम्भावी है, जैसे अतीत के अनेक साम्राज्य विनष्ट हुए हैं। उन्होंने कई बार चेतावनी दी कि आध्यात्मिकता को अनादृत करके यूरोप उस ज्वालामुखी के मुख पर बैठ गया है, जिसमें किसी भी क्षण विस्फोट हो सकता है।

रूढ़ियों, आडम्बरों और बाह्याचारों से ऊपर उठकर स्वामी जी ने धर्म की विलक्षण व्याख्या प्रस्तुत की। "धर्म मनुष्य के भीतर निहित देवत्व का विकास है।" "धर्म न तो पुस्तकों में है, न धार्मिक सिद्धान्तों में। वह केवल अनुभूति में निवास करता है।" "धर्म अन्धविश्वास नहीं है, धर्म अलौकिकता में नहीं है, वह जीवन का अत्यन्त स्वाभाविक तत्त्व है।" मनुष्य में पूर्णता की इच्छा है, उन्नत जीवन की कामना है, ज्ञान और आनन्द प्राप्त करने की चाह है। पूर्णता, ज्ञान और आनन्द है, ये निचले स्तर पर नहीं हैं; उनकी खोज जीवन के उच्च स्तर पर की जानी चाहिए। जहाँ ऊँचा स्तर आता है, वहीं धर्म का आरम्भ होता है। "जीवन का स्तर जहाँ हीन है, इन्द्रियों का आनन्द वहीं अत्यन्त प्रखर होता है। खाने में जो उत्साह भेड़िये और कुत्ते दिखाते हैं, वह उत्साह मनुष्य के भोजन के समय नहीं दिखायी देता। कुत्तों और भेड़ियों का सारा आनन्द उनकी इन्द्रियों में केन्द्रित होता है। इसी प्रकार, सभी देशों के निचले स्तर के मनुष्य इन्द्रियों के आनन्द में अत्यन्त उत्साह दिखाते हैं। किन्तु, जो सच्चे अर्थों में शिक्षित

और सुसंस्कृत व्यक्ति हैं, उनके आनन्द का आधार विचार और कला होती है, दर्शन और विज्ञान होता है। किन्तु आध्यात्मिकता तो और भी ऊँचे स्तर की चीज है, अतएव, इस स्तर का आनन्द भी अत्यन्त सूक्ष्म और प्रचुर होता है।" यूरोप और अमेरिका के निवासियों पर स्वामी जी ने यह प्रभाव डालना चाहा कि व्यक्ति अथवा समूह के जीवन की सफलता उसकी आधिभौतिक समृद्धि अथवा भौतिक उपलब्धियों पर निर्भर नहीं करके, आध्यात्मिक उन्नति पर निर्भर करती है। अतएव, मनुष्य को चाहिए कि पहले वह पवित्रता, भक्ति, विनयशीलता, सच्चाई, निःस्वार्थता और प्रेम का विकास करे, तथा बाद को अन्य गुणों का।

यूरोप और अमेरिका में भोग प्रचुर परिमाण में उपलब्ध था। इसीलिए स्वामी जी ने वहाँ के निवासियों को संयम और त्याग की शिक्षा दी। किन्तु, भारत में दरिद्रता का साम्राज्य था, निर्धनता का नग्न वास था एवं यहाँ के लोग धनाभाव के कारण भी जीवन के ऊँचे गुणों से वियुक्त हो गए थे। अतः भारतवासियों को उन्होंने जो उपदेश दिया वह केवल धर्म के लिए नहीं था, प्रत्युत, उन्होंने यहाँ के लोगों में असन्तोष जगाना चाहा और उन्हें कर्म की भावना से आन्दोलित करने की चेष्टा की। शिकागो के विश्व-धर्म-सम्मेलन में भी स्वामी जी ने ईसाईयों के समक्ष निर्भीक गर्जना की थी, "तुम ईसाई लोग मूर्तिपूजकों को आत्मा के बचाव के लिए भारत में धर्म-प्रचारक भेजने को बहुत ही आतुर दिखते हो, किन्तु, इन मूर्तिपूजकों के शरीर को क्षुधा की ज्वाला से बचाने के लिए तुम क्या कर रहे हो?भयानक दुर्भिक्षों के समय लाखों भारतवासी निराहार मर रहे थे, किन्तु, तुम ईसाइयों से कुछ भी नहीं बन पड़ा। भारत की भूमि पर तुम गिरजे बनवाते जा रहे हो, किन्तु, तुम्हें यह ज्ञात नहीं है कि पूर्वी जगत् की आकुल आवश्यकता रोटी है, धर्म नहीं। धर्म एशिया वालों के पास अब भी बहुत है। वे दूसरों से धर्म का पाठ नहीं पढ़ना चाहते। जो जाति भूख से तड़प रही है, उसके आगे धर्म परोसना, उसका अपमान है। जो जाति रोटी को तरस रही है, उसके हाथ में दर्शन और धर्म-ग्रंथ रखना उसका मजाक उड़ाना है।"

कहते हैं, एक बार कोई नवयुवक स्वामी जी के पास गया और उनसे बोला, "स्वामी जी! मुझे गीता समझा दीजिये।" स्वामी जी ने सच्चे मन से कहा, "गीता समझने का वास्तविक स्थान फुटबाल का मैदान है। जाओ, घण्टे भर खेल-कूद लो। गीता तुम स्वयं समझ जाओगे।"

स्वामी जी संसार घूम कर देख चुके थे कि नई मानवता कितनी उच्छल और बलवती है। उसकी तुलना में भारत के लोग उन्हें बौने और बीमार दिखाई दिए। अतः भारत में उनके अधिकांश उपदेश शारीरिक उन्नति, साहस, सेवा और कर्म की महत्ता सिद्ध करने को दिए गए। भारतवर्ष को वे क्षीण और कोमल-वपु सन्यासियों का देश बनाना नहीं चाहते थे। न उनका यही उद्देश्य था कि यहाँ के लोग अनिवार्यतः शाकभोजी होकर धर्म की साधना करते हुए निर्धनता और गुलामी का दंश सहते हुए मौन रहें। अपने एक शिष्य द्वारा यह पूछे जाने पर कि मांस-मछली खाना चाहिए या नहीं, स्वामी जी ने कहा, "हाँ, निन्दा का भय माने बिना मांस-मछली तुम जी भर खा सकते हो। शाक-पात खाकर जीने वाले आमाशय के रोगी साधुओं से सारा देश भर गया है। ये लक्षण सत्त्व के नहीं, भयानक तमस् के हैं और तमस् मृत्यु की कालिमा का नाम है। आकृति में दमकती हुई कान्ति, हृदय में अदम्य उत्साह, कर्म-चेष्टा की विपुलता और उद्वेलित शक्ति, ये सत्त्व की पहचान है। इसके विपरीत तमस् का लक्षण आलस्य और शैथिल्य है, अनुचित आसक्ति और निद्रा का मोह है।... कौन सा भोजन शुद्ध और कौन सा अशुद्ध है, क्या इसी विचिकित्सा में जीवन बिता दोगे या इन्द्रिय-निग्रह का भी कुछ ध्यान है?हमारा लक्ष्य इन्द्रियों का निग्रह है, मन का वश में लाना है। अच्छे और बुरे का भेद, शुद्ध और अशुद्ध का विचार इन्द्रिय-निग्रह नहीं, उस ध्येय के सहायक मात्र हैं।"

स्वामी जी बार-बार कहा करते थे कि भारत का कल्याण शक्ति की साधना में है। जन-जन में जो शक्ति छिपी हुई है, हमें उसे साकार करना है। जन-जन में जो साहस और विवेक प्रच्छन्न है, हमें उसे बाहर लाना है। "मैं भारत में लोहे की मांस-पेशियाँ और फौलाद की नाड़ी तथा धमनी देखना चाहता हूँ, क्योंकि इन्हीं के भीतर वह मन निवास करता है जो

शंपाओं एवं वज्रों से निर्मित होता है। शक्ति, पौरुष, क्षात्रवीर्य और ब्रह्मतेज–इनके समन्वय से भारत की नई मानवता का निर्माण होना चाहिए।" "मृत्यु का ध्यान करो, प्रलय को अपनी समाधि में देखो तथा महाभैरव रुद्र को अपनी पूजा से प्रसन्न करो। जो भयानक है, उसकी अर्चना से ही भय बस में आएगा।... सम्भव हो तो जीवन को छोड़कर मृत्यु की कामना करो। तलवार की धार पर अपना शरीर लगा दो और रुद्र शिव से एकाकार हो जाओ।"

संस्कृति का ध्यान करते करते भारत का स्वाभिमान जग चुका था। अब दूसरा सोपान उसकी वीरता, निर्भयता और बलिदान की भावना को जागृत करना था। स्वामी जी ने वीरता, बलिदान और निर्भयता की शिक्षाएँ भी धर्म से निकालीं एवं रुद्र-शिव तथा महाकाली को लोगों का आराध्य बना दिया। स्वामी जी की अहिंसा और वैराग्य-भावना में भी क्षात्र-धर्म का स्पर्श था। जिन विचारों, जिन धर्मों और आचारों से कायरता की बृद्धि एवं पौरुष का दलन होता है, स्वामी जी उनके अत्यन्त विरुद्ध थे। इसीलिए, बुद्ध की अहिंसा की स्वामी जी ने कभी भी खुलकर प्रशंसा नहीं की, बल्कि एक बार तो उन्होंने कह भी दिया कि बुद्ध की शिक्षाओं के पीछे 'भयानक दुर्बलता की छाया विद्यमान है।' स्वामी जी न तो धर्मयुद्ध के प्रेमी थे, न उनकी यही सम्मति थी कि क्रोध के प्रत्येक उफान पर मनुष्य को तलवार लेकर दौड़ना ही चाहिए। किन्तु, हिंसा को, कदाचित् वे सभी स्थितियों में त्याज्य नहीं मानते थे। एक बार उनसे किसी भक्त ने पूछा–"महाराज! कोई शक्तिशाली व्यक्ति यदि किसी दुर्बल का गला टीप रहा हो, तो हमें क्या करना चाहिए?" स्वामी जी ने तड़ाक से उत्तर दिया, "क्यों?बदले में उस शक्तिशाली की गर्दन टीप दो। क्षमा भी कमजोर होने पर अक्षम्य है, असत्य है, अधर्म है। युद्ध उससे उत्तम धर्म है। क्षमा तभी करनी चाहिए, जब तुम्हारी भुजा में विजय-शक्ति वर्तमान हो।"

आधिभौतिकता ने भारत के सामने जो चुनौती रखी थी, उसका भी समीचीन उत्तर विवेकानन्द ने दिया। वे उस प्रकार के सुधारक और सन्त थे, जिनकी अनुभूति में पुराने धर्म नवीन रूप ग्रहण करते हैं, प्राचीन दर्शन की परतें छूटकर गिर जाती हैं और जंग लगे विचार धुलकर चमकने लगते हैं। वे इस बात को कब बर्दाशत कर सकते थे कि परम्पराएँ भारतवासियों की उन्नति का मार्ग रोकें, अथवा धर्म उन्हें निर्धन और गुलाम रहने को लाचार करे?उपनिषदों का उपदेश है कि सभी आत्माएँ एक हैं, क्योंकि वे सब की सब एक ही परब्रह्म के असंख्य प्रतिबिम्ब मात्र हैं। इस सिद्धान्त से स्वामी जी ने यह निष्कर्ष निकाला कि जिसे परब्रह्म कहते हैं वह सभी जीवों के योग से अधिक नहीं है। अतएव, सच्ची ईशोपासना यह है कि हम अपने मानव-बन्धुओं की सेवा में अपने आपको लगा दें। जब पड़ोसी भूखा मरता हो, तब मन्दिर में भोग चढ़ाना पुण्य नहीं, पाप है। जब मनुष्य दुर्बल और क्षीण हो, तब हवन में घृत जलाना अमानुषिक कर्म है। "संसार के अगणित नर-नारियों में परमात्मा भासमान है।" तथा "मेरे जीवन का परम ध्येय उस ईश्वर के विरुद्ध संघर्ष करना है, जो परलोक में आनन्द देने के बहाने इस लोक में मुझे रोटियों से वंचित रखता है, जो विधवाओं के आँसू पोंछने में असमर्थ है, जो माँ-बाप से हीन बच्चे के मुख में रोटी का टुकड़ा नहीं दे सकता।" केष्टा नामक संथाल को भोजन कराके उन्होंने कहा था, "तुम भगवान हो। आज मुझे सन्तोष है कि भगवान ने मेरे समक्ष भोजन दिया।" वे कहते थे, "वास्तविक शिव की पूजा निर्धन और दरिद्र की पूजा है, रोगी और कमजोर की पूजा है।" निर्धनता, पुरोहितवाद और धार्मिक अत्याचार सिखाने वाले दर्शनों के स्वामी जी प्रचण्ड विरोधी थे। इसी प्रकार, धनियों के प्रति भी उनमें आदर का भाव नहीं था। "भारत की एक मात्र आशा उसकी जनता है। ऊँची श्रेणी के लोग तो शरीर और नैतिकता, दोनों ही दृष्टियों से मर चुके हैं।"

स्वामी जी स्वयं संन्यासी थे। संन्यासियों का एक महत् मठ भी उन्होंने ही खड़ा किया एवं समाजसेवी युवकों को वे अविवाहित रहने का उपदेश देते थे। किन्तु, गृहस्थों को वे हीन नहीं मानते थे। उलटे, उनका विचार था कि गृहस्थ भी ऊँचा और संन्यासी भी नीचा हो सकता है। "मैं संन्यासी और गृहस्थ में कोई भेद नहीं करता। संन्यासी हो या गृहस्थ, जिसमें भी मुझे महत्ता, हृदय की विशालता और चरित्र की

पवित्रता के दर्शन होते हैं, मेरा मस्तक उसी के सामने झुक जाता है।"

नारियों के प्रति उनमें असीम उदारता का भाव था। वे कहते थे, "ईसा अपूर्ण थे क्योंकि जिन बातों में उनका विश्वास था, उन्हें वे अपने जीवन में नहीं उतार सके। उनकी अपूर्णता का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि उन्होंने नारियों को नरों के समकक्ष नहीं माना। असल में उन्हें यहूदी संस्कार जकड़े हुए था, इसीलिए, वे किसी भी नारी को अपनी शिष्या नहीं बना सके। इस मामले में बुद्ध उनसे श्रेष्ठ थे, क्योंकि उन्होंने नारियों को भी भिक्षुणी होने का अधिकार दिया।" एक बार उनके एक शिष्य ने पूछा, "महाराज! बौद्ध मठों में भिक्षुणियाँ बहुत रहती थीं। इसी लिए तो देश में अनाचार फैल गया।" स्वामी जी ने इस आलोचना का उत्तर नहीं दिया, किन्तु, वे बोले, "पता नहीं, इस देश में नारियों और नरों में इतना भेद क्यों किया जाता है। वेदान्त तो यही सिखाता है कि सब में एक ही आत्मा का वास है। तुम लोग नारियों की सदैव निन्दा ही करते रहते हो, किन्तु कह सकते हो कि उनकी उन्नति के लिए अब तक तुमने क्या किया है?स्मृतियाँ रचकर तथा गुलामी की कड़ियाँ गढ़कर पुरुषों ने नारियों को बच्चा जनने की मशीन बना रख छोड़ दिया। नारियाँ महाकाली की साकार प्रतिमाएँ हैं। यदि तुमने इन्हें और नहीं उठाया तो यह मत सोचो कि तुम्हारी अपनी उन्नति का कोई अन्य मार्ग है।... संसार की सभी जातियाँ नारियों का समुचित सम्मान करके ही महान् हुई हैं। जो जाति नारियों का सम्मान करना नहीं जानती, वह न तो अतीत में उन्नति कर सकी, न आगे उन्नति कर सकेगी।"

जहाँ तक स्त्री-जाति की वेदनाओं और पीड़ाओं का प्रश्न है, स्वामी जी को भारत और यूरोप, दोनों ही महादेश आँसुओं से सिक्त दिखाई पड़े थे। स्वामी जी ने कहा था, "विपत्तियाँ भारत में भी हैं और पश्चिमी देशों में भी। यहाँ विधवाएँ रोती हैं, वहाँ कुमारियाँ।"

स्वामी जी हिन्दुत्व की शुद्धि के लिए उठे थे तथा उनका प्रधान क्षेत्र धर्म था। किन्तु, धर्म और संस्कृति, ये दोनों परस्पर एक दूसरे का स्पर्श करते चलते हैं। भारतवर्ष में राष्ट्रीय पतन के कई कारण आर्थिक और राजनीतिक थे। किन्तु, बहुत से कारण ऐसे भी थे जिनका धर्म से सम्बन्ध था। अतः स्वामी विवेकानन्द ने धर्म का परिष्कार भारतीय समाज की आवश्यकताओं को दृष्टिगत रखकर करना आरम्भ किया और इस प्रक्रिया में उन्होंने कड़ी-से-कड़ी बातें भी बड़ी ही निर्भीकता से कह दीं। "शक्ति का उपयोग केवल कल्याण के निमित्त होना चाहिए। जब उससे पाप का समर्थन किया जाता है, तब वह गर्हित हो जाती है। युगों से ब्राह्मण भारतीय संस्कृति का थातीदार रहा है। अब उसे इस संस्कृति को सब के पास विकीर्ण कर देना चाहिए। उसने इस संस्कृति को जनता में जाने से रोक रखा, इसीलिए, भारत पर मुसलमानों का आक्रमण संभाव्य हो सका। ब्राह्मण ने संस्कृति के भंडार पर ताला लगा रखा, जन-साधारण को उसमें से कुछ भी लेने नहीं दिया, इसीलिए हजारों साल तक जो भी जातियाँ भारत आ पड़ीं, हम उनके गुलाम होते गए। हमारे पतन का कारण ब्राह्मण की अनुदारता रही है। भारत के पास जो भी सांस्कृतिक कोष है, उसे जन-साधारण के कब्जे में जाने दो। और चूँकि ब्राह्मण ने यह पाप किया था, इसीलिए प्रायश्चित भी सबसे पहले उसी को करना है। साँप का काटा हुआ आदमी जी उठता है, यदि वही साँप आकर फिर से अपना जहर चूस ले। भारतीय समाज को ब्राह्मण-रूपी सर्प ने डसा है। यदि ब्राह्मण अपना विष वापस ले ले, तो यह समाज अवश्य जी उठेगा।"

ऊँची और तथाकथित नीची जातियों के बीच सामाजिक पद-प्रतिष्ठा को लेकर जो संघर्ष है, स्वामी जी ने उससे पैदा होने वाले खतरों पर भी विचार किया था। इस संबंध में उनका समाधान यह था कि यदि ब्राह्मण कहलाने से सभी जातियों को संतोष होता है, तो उचित है कि वे अपनी-अपनी सभाओं में यह घोषणा कर दें कि हम ब्राह्मण हैं। इससे भारत को बहुत बड़ी शक्ति प्राप्त होगी। एक तो इस देश में जातियों का भेद आप-से-आप समाप्त हो जाएगा, दूसरे, सभी वर्ण के लोग ब्राह्मण संस्कृति को स्वीकार करके आज के सांस्कृतिक धरातल से स्वयमेव ऊपर उठ जाएँगे। हाँ, स्वामी जी का यह भी विचार था कि रुपये चाहे जिस विद्या से भी प्राप्त हो जाएँ,

किन्तु, सामाजिक प्रतिष्ठा भारतवर्ष में अब भी संस्कृत भाषा के ज्ञान से मिलती है। अतएव, जो भी भारतवासी ब्राह्मण की प्रतिष्ठा वाला पद प्राप्त करना चाहता है, उसे संस्कृत में दक्षता अवश्य प्राप्त करनी चाहिए।

भारतीय एकता का महत्व स्वामी जी ने जनता के समक्ष अत्यन्त सुस्पष्ट रूप में रखा। "अथर्ववेद में एक मंत्र है, जिसका अर्थ होता है कि मन से एक बनो, विचार से एक बनो। प्राचीन काल में देवताओं का मन एक हुआ, तभी से वे नैवेद्य के अधिकारी रहे हैं। मनुष्य देवताओं की अर्चना इसलिए करते हैं कि देवताओं का मन एक है। मन से एक होना समाज के अस्तित्व का सार है। किन्तु, द्रविड़ और आर्य, ब्राह्मण और अब्राह्मण–इन तुच्छ विवादों में पड़कर तुम जितना ही झगड़ते जाओगे, तुम्हारी शक्ति उतनी ही क्षीण होती जाएगी। तुम्हारा संकल्प एकता से उतना ही दूर पड़ता जाएगा। स्मरण रखो कि शक्ति संचय और संकल्प की एकता, इन्हीं पर भारत का भविष्य निर्भर करता है। जब तक महान् कार्यों के लिए तुम अपनी शक्तियों का संचय नहीं करते, जब तक एक मन होकर तुम आत्मोद्धार के कार्य में नहीं लगते, तब तक तुम्हारा कल्याण नहीं है। प्रत्येक चीनी अपने ही ढंग पर सोचता है, किन्तु मुट्ठी भर जापानियों का मन एक है। इसके जो परिणाम निकले हैं, उन्हें तुम भली-भाँति जानते हो। विश्व के समग्र इतिहास में यही होता आया है।"

व्यावहारिक नेता के समान स्वामी जी ने भारतीयों के चरित्र के एक भीषण दोष पर अपनी उँगली रखी और काफी जोर देकर कहा, "हमारे देशवासियों में से कोई व्यक्ति जब ऊपर उठने की चेष्टा करता है, तब हम सब लोग उसे नीचे घसीटना चाहते हैं, किन्तु यदि कोई विदेशी आकर हमें ठोकर मारता है, तो हम समझते हैं, यह ठीक है। हमें इन तुच्छताओं की आदत पड़ गई है। लेकिन, अब गुलामों को अपना मालिक आप बनना है। इसलिए, दास-भावना को छोड़ दो। अगले पचास वर्षों तक भारतमाता को छोड़कर हमें और किसी का ध्यान नहीं करना है। भारतमाता को छोड़कर और सभी देवता झूठे हैं। उन्हें अपने मन से निकालकर फेंक दो। यही देवी, यही हमारी जाति वास्तविक देवी है। सर्वत्र उसके हाथ दिखायी पड़ते हैं, सर्वत्र उसके पाँव विराजमान हैं, सर्वत्र उसके कान हैं और सब कुछ पर उसी देवी का प्रतिबिम्ब छाया हुआ है। बाकी जितने देवता हैं, नींद में है। यह विराट् देवता हमारे सामने प्रत्यक्ष है। इसे छोड़कर हम और किस देवता की पूजा करेंगे?"

धर्म-साधना के लोभ में जीवन से भागकर गुफा में नाक-कान दबाकर प्राणायाम करने की परम्परा की भारत में बड़ी महिमा थी। स्वामी विवेकानन्द ने इस परम्परा की महिमा एक झटके में उड़ा दी। "आधा मील की खाई तो हम से पार नहीं की जाती, मगर, हनुमान के समान हम समग्र सिन्धु को लाँघ जाना चाहते हैं। यह होने वाली बात नहीं है। हर आदमी योगी बने, हर आदमी समाधि में चला जाए, यह गलत बात है। यह असंभव है, यह अकरणीय है। दिन भर कर्मसंकुल विश्व के साथ मिलन और संघर्ष तथा संध्या समय बैठकर प्राणायाम! क्या यह इतना सरल कार्य है?तुमने तीन बार नाक बजायी हे, तीन बार नासिका से भीतर की वायु को बाहर किया है, तो क्या इतने से ही ऋषिगण आकाश से होकर तुम्हारे पास चले आएँगे?क्या यह भी कोई मजाक है?ये सारी बेवकूफी की बातें हैं। जिस चीज की जरूरत है वह है चित्तशुद्धि और चित्तशुद्धि कैसे होगी?सबसे पहले पूजा विराट् की होनी चाहिए, उन असंख्य मानवों की जो तुम्हारे चारों ओर फैले हुए हैं। संसार में जितने भी मनुष्य और जीव-जन्तु हैं, सभी परमात्मा हैं, सभी परब्रह्म के रूप हैं और इनमें भी सर्वप्रथम हमें अपने देशवासियों की पूजा करनी चाहिए। आपस में ईर्ष्या-द्वेष रखने के बदले, आपस में झगड़ा और विवाद करने के बदले तुम परस्पर एक-दूसरे की अर्चना करो, एक-दूसरे से प्रेम रखो। हम जानते हैं कि किन कर्मों ने हमारा सर्वनाश किया, किन्तु फिर भी हमारी आँखें नहीं खुलतीं।"

गांधी, रवीन्द्रनाथ, राधाकृष्णन् और जवाहरलाल में हम इस आशा को गतिशील पाते हैं कि भारत के पास जो सन्देश है, भारत के पास जो दीर्घकालीन अनुभव है, उससे सारे विश्व का कल्याण हो सकता है। एशिया साधनहीन और

दु:खी, किन्तु यूरोप समृद्ध एवं असन्तुष्ट है। एशिया उच्च जीवन की कामना लिए अनेक दुर्गतियों को झेलता आ रहा है। यूरोप ने दुर्गतियों पर तो विजय प्राप्त कर ली, किन्तु उच्च जीवन की राह उसे मानो मिली ही नहीं। विश्व का कल्याण इसमें है कि एशिया यूरोप की आधिभौतिकता को ग्रहण करे और इस प्रकार ग्रहण करे कि उसकी मानसिकता को आँच नहीं आए। इसी प्रकार यूरोप के दुर्दान्त शरीर के भीतर जो आत्मा सोती जा रही है, उसे जगकर सचेष्ट होना चाहिए। यूरोप का यह आत्मिक जागरण एशिया की संगति से आएगा। स्वामी जी की दृष्टि इस आवश्यकता पर भी पड़ी थी और जब सारा भारतवर्ष यूरोप के चाकचिक्य से मोहित हो रहा था, तब उन्होंने घोषणा की, "जीवन का धर्म आदान-प्रदान है। क्या यह अच्छा होगा कि हम सदैव पश्चिमवालों के चरणों के पास बैठकर सब कुछ, यहाँ तक कि धर्म भी, सीखते रहें! क्या हम केवल लेते ही रहेंगे?देना हमें भी नहीं है?पश्चिम से हम यंत्रवाद की शिक्षा ले सकते हैं। और भी कई बातें अच्छी हैं, जिन्हें पश्चिम से ग्रहण करना आवश्यक दीखता है। किन्तु हमें उन्हें कुछ सिखाना भी है। हम उन्हें धर्म और आध्यात्मिकता की शिक्षा दे सकते हैं। विश्व-सभ्यता अभी अधूरी है। पूर्ण होने के लिए वह भारत की राह देख रही है। वह भारत की उस आध्यात्मिक सम्पत्ति की प्रतीक्षा में है, जो पतन, गन्दगी और भ्रष्टाचार के होते हुए भी भारत के हृदय में जीवित और अक्षुण्ण है।... इसलिए संकीर्णता को छोड़कर हमें बाहर निकलना है। पश्चिम वालों से हमें एक विनिमय करना है। धर्म और आध्यात्मिकता के स्तर की चीजें हम उन्हें देंगे और बदले में भौतिक साधनों का दान हम सहर्ष स्वीकार करेंगे। समानता के बिना मैत्री सम्भव नहीं होती और समानता वहाँ आएगी कहाँ से, जहाँ एक तो बराबर गुरु बना रहना चाहता है और दूसरा उसका सनातन शिष्य?"

औसत हिन्दू धीर और अनुग्र होता है। इस धीरज और अनुग्रता को स्वामी जी भावी सभ्यता के लिए वरदान समझते थे। उनका विचार था कि संसार पर धीर और अनुग्र हिन्दू-जाति का जितना आभार है, उतना और किसी जाति का नहीं। "हिन्दू-जाति की महिमा राजनैतिक महत्ता अथवा सामरिक शक्ति के कारण नहीं है। राजनैतिक महत्ता और सामरिक शक्ति का अर्जन हमारी जाति का ध्येय न तो पहले था, न कभी आगे होने वाला है।" हिन्दू का मस्तिष्क शीतल और शान्त होता है। मानव-जाति की सर्वांगीण उन्नति में हिन्दुओं को अपना अंशदान इस शीतल-शान्त मस्तिष्क के द्वारा ही प्रदान करना होगा।

स्वामी जी के समय से ही यह प्रत्यक्ष हो गया था कि भारत यूरोप के समान राजनैतिक शक्ति का अगार होना चाहता है। इसकी उपयोगिता स्वीकार करते हुए भी स्वामी जी ने यह चेतावनी दी थी कि भारत की रीढ़ धर्म है। वह दिन बुरा होगा, जब यह देश अपनी आध्यात्मिक रीढ़ को हटाकर उसकी जगह पर एक राजनैतिक रीढ़ बैठा लेगा।

भारत को स्वामी जी ने यह भी सुझाया था कि भारत यूरोप में गरीबी और पाप सहभागी माने जाते हैं। किंतु, अपने देश में गरीबी पाप नहीं है। उलटे, इस देश के सबसे बड़े लोग गरीबी की पोशाक में रहते थे।

हिन्दुत्व का प्रबल समर्थक होने पर भी स्वामी विवेकानन्द में इसलाम के प्रति कोई द्वेष नहीं था। उनके गुरु परमहंस रामकृष्ण ने तो छ: महीनों तक विधिवत् मुसलमान होकर इस्लाम की साधना भी की थी। इस संस्कार के कारण इस्लाम के प्रति उनका दृष्टिकोण यथेष्ट रूप से उदार था। उन्होंने कहा है, "यह तो कर्म का फल था कि भारत को दूसरी जातियों ने गुलाम बनाया। किन्तु भारत ने भी अपने विजेताओं में से प्रत्येक पर सांस्कृतिक विजय प्राप्त की। मुसलमान इस प्रक्रिया के अपवाद नहीं हैं। शिक्षित मुसलमान, प्राय: सूफी होते हैं जिनके विश्वास हिन्दुओं से भिन्न नहीं होते। इस्लामी संस्कृति के भीतर भी हिन्दू विचार प्रविष्ट हो गए हैं। विख्यात मुगल सम्राट् अकबर हिन्दुत्व के काफी समीप था। यही नहीं, प्रत्युत, काल-क्रम में इंग्लैंड पर भी भारत का प्रभाव पड़ेगा।"

सिस्टर निवेदिता की (स्वामी जी विषयक अँग्रेजी) पुस्तक में इस बात का उल्लेख है कि एक बार स्वामी जी तीन-चार दिनों की एकान्त समाधि से लौटकर निवेदिता से बोले, "मेरे मन में यह सोचकर बराबर क्षोभ उठता था कि

मुसलमानों ने हिन्दुओं के मन्दिरों को क्यों तोड़ा, उनके देवी-देवताओं की मूर्तियों को क्यों भ्रष्ट किया। किन्तु आज माता (काली) ने मेरे मन को आश्वस्त कर दिया। उन्होंने मुझसे कहा, 'अपनी मूर्तियों को मैं कायम रखूँ या तुड़वा दूँ, यह मेरी इच्छा है। इन बातों पर सोच-सोचकर तू क्यों दुःखी होता है?' "

इस्लाम और हिन्दुत्व के मिलन का महत्त्व स्वामी जी ने एक और उच्च स्तर पर बतलाया है। सामान्यतः वेदान्त ज्ञान का विषय समझा जाता है, जिसमें त्याग और वैराग्य की बातें अनिवार्य रूप से आ जाती है; किन्तु इस्लाम मुख्यतः भक्ति का मार्ग है तथा हजरत मुहम्मद का पंथ देह-दंडन, संन्यास और वैराग्य को महत्व नहीं देता। किन्तु स्वामी विवेकानन्द की व्याख्या का वेदान्त इस्लाम से कोई विरोध नहीं रखता था। इसलिए स्वामी जी की कल्पना थी कि इस्लाम की व्यावहारिकता को आत्मसात् किए बिना वेदान्त के सिद्धान्त जनता के लिए उपयोगी नहीं हो सकते। सन् १८९८ ई॰ में उन्होंने एक चिट्ठी में यह भी लिखा था—"हमारी जन्मभूमि का कल्याण तो इसमें है कि उसके दो धर्म, हिन्दुत्व और इस्लाम मिलकर एक हो जाएँ। वेदान्ती मस्तिष्क और इस्लामी शरीर के संयोग से जो धर्म खड़ा होगा, वही भारत की आशा है।"

भारत के विश्व-धर्म, विश्व-बन्धुत्व और विश्ववाद की भावना का आरम्भ राममोहन राय की अनुभूतियों में हुआ था एवं उन्होंने हिन्दू धर्म की जो व्याख्या प्रस्तुत की, वह विश्वधर्म की भूमिका से तनिक भी कम नहीं थी। मुक्त चिन्तन, वैयक्तिक स्वातंत्र्य और प्रत्येक प्रकार का विश्वास रखकर भी धर्मच्युत नहीं होने की योग्यता—हिन्दू धर्म के ये पुराने लक्षण रहे हैं। हिन्दू नास्तिक भी रहा है और आस्तिक भी, साकारवादी भी रहा है और निराकारवादी भी, उसने महावीर का भी आदर किया है और बुद्ध का भी, उसने वेदों को अपौरुषेय भी माना है और सादि भी। विश्वासों में यह जो प्रचंड भिन्नता है, उससे हिन्दू का हिन्दुत्व दूषित नहीं होता। हिन्दू जन्म से ही उदार होता है एवं किसी एक विचार पर सभी को लाठी से हाँककर पहुँचाने में वह विश्वास नहीं करता। जब थियोसोफिस्ट लोग हिन्दुत्व का प्रचार करने लगे, तब हिन्दुत्व का यह सार्वभौम पक्ष कुछ और विकसित हो गया। और रामकृष्ण ने तो बारी-बारी से मुसलमान और क्रिस्तान होकर इस सत्य पर अपनी अनुभूति की मुहर लगा दी कि संसार के सभी धर्म एक हैं। उनके बीच किसी प्रकार का भेद-भाव मानना नितान्त अज्ञानता की बात है। स्वामी विवेकानन्द ने हिन्दुत्व के सार्वभौम रूप का और भी व्यापक विस्तार किया। संसार में जो अनेक धर्म फैले हुए हैं, उनकी अनिवार्यता बताते हुए उन्होंने कहा कि मनुष्य सर्वत्र अन्न ही खाता है, किन्तु देश-देश में अन्न से भोजन तैयार करने की विधियाँ अनेक हैं। इसी प्रकार धर्म मनुष्य की आत्मा का भोजन है, एवं देश देश में उसके भी अनेक रूप हैं। भारत में जितने भी धर्म प्रचलित हैं उनके विषय में स्वामी जी का कहना था कि हमें इन धर्मों को केवल बर्दाश्त ही नहीं करना है। ये सभी धर्म हमारे अपने धर्म हैं—इस भाव से उन सबको हमें अपना लेना है।

संसार के धर्मों में एकता कैसे लायी जाए, इसका समाधान नहीं मिलता। प्राचीन काल में अनेक लोग यह मानते थे कि जो धर्म सबसे अच्छा हो, संसार भर के मनुष्यों को उसी धर्म में दीक्षित हो जाना चाहिए। इसका परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक धर्म के लोग अपने ही धर्म का व्यापक प्रचार करने लगे, जिनमें से इस्लाम और ईसाइयत के प्रचारकों ने सबसे अधिक उत्साह दिखलाया। शिकागो में जो विश्व-धर्म-सम्मेलन हुआ था, उसका भी एक आशय यह था कि संसार में सर्वोत्तम धर्म कौन-सा हे, इसका निर्णय कर लिया जाए। किन्तु उस सम्मेलन में स्वामी जी ने अपना जो विचार रखा, उससे सभी प्रतिनिधि चमत्कृत हो उठे। उन्होंने कहा, "धार्मिक एकता कैसे हो, इस बात की यहाँ काफी विचिकित्सा हुई है। इस सम्बन्ध में मेरा जो अपना मतवाद है, उसे प्रस्तुत करने का साहस मैं नहीं करूँगा। किन्तु इतना कहना आवश्यक है कि यदि कोई व्यक्ति यह समझता हो कि धार्मिक एकता का मार्ग एक धर्म की विजय और बाकी का विनाश है, तो मैं उससे निवेदन करूँगा—'बन्धु! तम्हारी आशा पूरी नहीं होगी।' क्या मैं यह चाहता हूँ कि सभी ईसाई हिन्दू

हो जाएँ?भगवान करे कि ऐसा नहीं हो। क्या मैं यह चाहता हूँ कि सभी हिन्दू और बौद्ध ईसाई हो जाएँ?ईश्वर न करे कि ऐसा हो।... ईसाई को हिन्दू या बौद्ध अथवा हिन्दू और बौद्ध को ईसाई नहीं होना है। किन्तु इनमें से प्रत्येक का कर्तवय है कि वह अन्य धर्मों के सार अपने भीतर पचा ले और अपनी वैयक्तिता की पूर्ण रूप से रक्षा करते हुए उन नियमों के अनुसार अपना विकास खोजें, जो उसके अपने नियम रहे हैं।" अन्यत्र उन्होंने कहा है, "आत्मा की भाषा एक है, किन्तु जातियों की भाषाएँ अनेक होती हैं। धर्म आत्मा की वाणी है। वही वाणी अनेक जातियों की विविध भाषाओं तथा रीति-रिवाजों में अभिव्यक्त हो रही है।"

धर्म को स्वामी जी व्यक्ति और समाज दोनों के लिए उपयोगी मानते थे। धर्म के विरुद्ध संसार में जो भयानक प्रतिक्रिया उठी है, उसका निदान वे यह देते थे कि दोष धर्म का नहीं, धर्म के गलत प्रयोग का है। ठीक वैसे ही जैसे विज्ञान से उठने वाली भीषणताओं का दायित्व विज्ञान पर न होकर, उन लोगों पर है जो विज्ञान का गलत उपयोग करते है। स्वामी जी का विचार था, "धर्म को समाज पर जिस ढंग से लागू किया जाना चाहिए था, उस ढंग से वह लागू नहीं किया गया। हिन्दू अपनी सारी धार्मिक योजनाओं को कार्य के रूप में परिणत करने में असफल भले ही रहा हो, किन्तु यदि कभी भी कोई विश्वधर्म जैसा धर्म उत्पन्न होने वाला है, तो वह हिन्दुत्व के ही समान होगा जो देश और काल में कहीं भी सीमित या आबद्ध नहीं होगा, जो परमात्मा के समान ही अनन्त और निर्बाध होगा तथा जिसके सूर्य का प्रकाश कृष्ण और ईसा के अनुयायियों पर, सन्तों और अपराधियों पर एक समान चमकेगा। यह धर्म न तो ब्राह्मण होगा, न बौद्ध, न ईसाई, न मुसलमानी, प्रत्युत, वह इन सब के योग और सामंजस्य से उत्पन्न होगा।"

विवेकानन्द ने हिन्दू धर्म और भारतीय संकृति की जो सेवा की, उसका मूल्य नहीं चुकाया जा सकता। उनके उपदेशों से भारतवासियों ने यह सीखा कि भारतवर्ष का अतीत इतना उज्जवल और महान् है कि उसके प्रति गौरव तथा अभिमान होना ही चाहिए। उनके उपदेशों से हमें यह ज्ञान हुआ कि हमारी प्राचीन संस्कृति प्राणपूर्ण एवं आज भी विश्व का कल्याण करने वाली है। अँग्रेजी पढ़े-लिखे हिन्दू, जो अपने धर्म और संस्कृति की खिल्ली उड़ाने में ही अपनी सार्थकता समझते थे, विवेकानन्द के उपदेशों और कर्तृव्य से ही अन्तिम बार पराजित हुए। यह भी हुआ कि विवेकानन्द के उपदेशों से ही भारतवासी अपने पतन की गहराई माप सके, अपने शारीरिक क्षय एवं आधिभौतिक विनाश, अपनी क्रिया-विमुखता और आलस्य तथा अपने पौरुष के भयानक ह्रास को पहचान सके। और विवेकानन्द की वाणी में ही सांस्कृतिक राष्ट्रीयता का जन्म हुआ एवं लोगों में अपने भविष्य के प्रति उज्जवल आशा संचरित हुई। "साहस का सूर्य उदित हो चुका है, भारत का उत्थान अवश्य होगा। किसी में यह दम नहीं कि वह अब भारत को रोक सके। भारत अब फिर से निद्रा में नहीं पड़ेगा। यह भीमाकार देश फिर से अपने पाँव पर खड़ा हो रहा है।"

जब नरेन्द्रनाथ परमहंस रामकृष्ण की संगति में आए, तो रामकृष्ण ने उनकी प्रतिभा को फौरन पहचान लिया। एक बार परमहंस जी ने कहा था, "जिस एक शक्ति के उत्कर्ष के कारण केशवचन्द्र सेन (ब्रह्म-समाज के प्रसिद्ध नेता) जगद्विख्यात हुआ है, वैसी अठारह शक्तियों का नरेन्द्र में पूर्ण उत्कर्ष है।" स्वयं नरेन्द्रनाथ के समक्ष प्रार्थना की मुद्रा में रामकृष्ण ने कहा था, "प्रभो! मुझे लगता है कि तू पुरातन नारायण ऋषि है और जीवों की दुर्गति का निवारण करने के लिए पुनः शरीर धारण करके आया है।" यह भक्त की परम्परागत भाषा है। किन्तु विवेकानन्द की प्रतिभा लोकोत्तर थी, यह हम भी कह सकते हैं। वर्तमान भारत जिस ध्येय को लेकर उठा है, उसका सारा आख्यान विवेकानन्द कर चुके थे। बाद के महात्मा और नेता उस ध्येय को कार्य का रूप देने का प्रयास करते रहे हैं। जिस स्वप्न के कवि विवेकानन्द थे, गांधी और जवाहरलाल उसके इंजीनियर हुए हैं।

दिनकर और भारतीय संस्कृति

– प्रो॰ के॰ पी॰ शर्मा

रामधारी सिंह 'दिनकर' यूँ तो इतिहास के विद्यार्थी थे, लेकिन साहित्य हीं उनकी कर्मभूमि रही है। रामधारी सिंह 'दिनकर' की विशेष अभिरूचि भारतीय शास्त्रों के पौरूष प्रधान इतिहास पुरुषों में रही है। उन्होंने पौरुष प्रधान इतिहास पुरूषों पर एवं ऐतिहासिक घटनाओं पर काव्यों की रचनाएँ की है।

इन काव्यों से पता चलता है कि 'दिनकर' साहित्य-प्रधान व्यक्ति होते हुए भी इतिहास को साथ-साथ लेकर चलने में विश्वास रखते हैं

भारत एक प्राचीन सभ्यता और संस्कृति का देश रहा है। इस कारण 'दिनकर' की अभिरूचि भारतीय संस्कृति में प्रगाढ़ रूप में रही है। 'दिनकर' की रचना 'संस्कृति के चार अध्याय' वास्तव में भारत का इतिहास नहीं है बल्कि भारतीय संस्कृति का इतिहास है। अगर वह भारत का इतिहास होता तो राजाओं-महाराजाओं के उत्थान और पतन का इतिहास होता। इसके स्थान पर 'संस्कृति के चार अध्याय' भारतीय सभ्यताओं के संयोग से उत्पन्न सामासिक संस्कृति का इतिहास है।

कोई देश अगर संकट काल से गुजरता है तो उस देश के शासक, प्रशासक या सामान्य जन अपनी प्रेरणा उस देश के संस्कृति और इतिहास से प्राप्त करते हैं। यही कारण है कि 'दिनकर' भारतीय संस्कृति के सशक्त मूल्यों के प्रति सदा आस्थावान रहे। 'दिनकर' अपनी लेखनी के आधार पर कहे जा सकते हैं कि वे पौरुष के प्रबल समर्थक रहे हैं। वे राष्ट्रीय आन्दोलन में तिलक के विचारों से अनुप्राणित होकर पौरुष का प्रतीक बनकर उभरे हैं। 'दिनकर' ने अपनी रचनाओं में वीरता का निनाद किया है।

'दिनकर' ने 'संस्कृति के चार अध्याय' लिखकर आर्य संस्कृति को चार भाग में विभाजित किया है तथा सांस्कृतिक इतिहास के गरिमा को महत्वपूर्ण अध्यायों में वर्णन किया है। 'दिनकर' का सांस्कृतिक विषयक चिन्तन 'हारे को हरि नाम' में व्यक्त हुआ है। जिसे वे कविता के माध्यम से अभिव्यक्त करते हैं –

'और यह बात याद रहे
कि परम्परा चीनी नहीं मधु है।
वह न तो हिन्दू है, न मुस्लिम है
न द्रविड़ है, न आर्य,
न परम्परा का हर प्रहरी
पुरी का शंकराचार्य है।'

इसी तरह 'दिनकर' ने गुरूदेव रविन्द्रनाथ टैगोर को समर्पित करते हुए अपने 'संस्कृति के चार अध्याय' के भावार्थ को उन्हीं के कविता में अभिव्यक्त किया है –

'हेथाय आर्य, हेथा अनार्य, हेथाय द्रविड़-चीन,
शक-हूण-दल, पठान-मोगल एक देहे होलो लीन।'

राष्ट्रकवि दिनकर यह मानते हैं कि भारतीय संस्कृति में चार बड़ी क्रांतियाँ हुयी हैं और हमारी संस्कृति का इतिहास उन्हीं चार क्रांतियों का इतिहास है। पहली क्रांति तब हुई, जब आर्य भारतवर्ष में आए तथा उनका आर्येतर जातियों से सम्पर्क हुआ। आर्यों ने आर्येतर जातियों से मिलकर जिस समाज की रचना, की वही आर्यों तथा हिन्दुओं का बुनियादी समाज है।

दिनकर का मानना है कि दूसरी क्रांति तब हुई, जब महावीर और गौतम बुद्ध ने इस स्थापित धर्म या संस्कृति के विरुद्ध विद्रोह किया, तथा उपनिषदों की चिन्तनधारा को खींचकर वे अपनी मनोवांछित दिशा की ओर ले गए।

तीसरी क्रांति उस समय हुई जब इस्लाम विजेताओं के धर्म के रूप में भारत पहुँचा और इस देश में हिन्दुत्व के साथ उसका सम्पर्क हुआ।

चौथी क्रांति वर्तमान समय में हुई जब भारत में युरोप का आगमन हुआ तथा उसके सम्पर्क में आकर हिन्दुत्व एवं इस्लाम दोनों ने नवजीवन का अनुभव किया।

दिनकर इन सारी बातों को देखने के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचे है कि भारतीय संस्कृति सामासिक रही है।

जवाहरलाल नेहरू, जो स्वयं भारतीय और विश्व

इतिहास के ज्ञाता और विद्वान माने जाते है। उन्होंने इस पुस्तक की प्रस्तावना लिखते हुए, 'संस्कृति के चार अध्याय' में 'दिनकर' द्वारा अभिव्यक्त विचारों और निष्कर्षों का समर्थन किया है। जवाहरलाल नेहरू का मानना है कि भारत के काफी लम्बे इतिहास को भारतीय भूगोल ने जो स्वरूप प्रदान किया, उसके कारण वह एक ऐसा देश, काल के बीतने के साथ बन गया जिसके दरवाजे बाहर की ओर से बन्द थे। नेहरू का मानना है कि बहुत दिनों तक बाहरी दुनिया से अलग रहने के कारण भारत का स्वभाव और देशों से भिन्न हो गया था। हमारे भीतर कुछ ऐसे रिवाजों का चलन हो गया जिन्हें बाहर के लोग न तो जानते हैं और न समझ ही पाते हैं।

भारत, दुनिया के लिए एक आश्चर्य है। भारत क्या है और कैसे इस राष्ट्र ने अपने सामासिक व्यक्तित्व का विकास किया है इसे समझाने का ही नाम दिनकर का 'संस्कृति के चार अध्याय' है।

पश्चिम के लिए और पश्चिमी विद्वानों के लिए राष्ट्रीयता, भाषा और धर्म के समानता पर निर्मित होती है और किसी राष्ट्र का निर्माण एवं उसका टिकाऊपन होना इन्हीं शर्तों पर निर्भर करता है।

भारत की संस्कृति इसे नहीं मानती। वह अगर मानती है तो यह मानती है कि एक भौगोलिक, मौलिक प्राकृतिक सीमाओं से घिरा हुआ देश हीं एक राष्ट्र होता है। उस सीमाओं में बसने वाले किसी भाषा या धर्म, जाति या विचार के व्यक्ति मिलकर एक ऐसी सभ्यता और संस्कृति का निर्माण कर सकते है, जिसमें सभी सहिष्णुता के साथ रह सकते हैं। यह सहिष्णुता और भौगोलिक एकता लोगों को तब तक एकजुट रखने की ताकत रखती है जब तक की वह भौगोलिक क्षेत्र आर्थिक रूप में अपने नागरिकों का भरण-पोषण करते रही है। भारत वर्ष ने इस बात को सिद्ध किया है कि बाहर से आने वाले आक्रमणकारी भी भारतवर्ष के समृद्धि और संस्कृति से आकर्षित होकर भारतवर्ष आए। भारतवर्ष पर जितने भी आक्रमण हुए और आक्रमणकारी जिन देशों से भारत आए उनकी संस्कृति एवं उनकी आर्थिक स्थिति भारतवर्ष से दयनीय थी, यहाँ तक की अंग्रेज भी जब भारतवर्ष आए थे तो भारतवर्ष की आर्थिक सम्पन्नता से ही आकर्षित होकर आए थे।

दिनकर ने 'संस्कृति के चार अध्याय' में यह भी बतलाने की कोशिश की है कि भारतवर्ष में जब आंतरिक, सामाजिक एवं धार्मिक विकृति उत्पन्न हुई तो उसका शुद्धि करण का कार्य भी भारत से उपजे हुए विभिन्न सुधारकों या धार्मिक प्रवर्तकों ने किया है।

दिनकर यह मानते है कि मानव सभ्यता को कुछ न कुछ देने की ताकत सभी जातियों में होती है। वह संस्कृति बलवान होती है, जो दूसरों के भी अच्छी बातों को आत्मसात कर अपना बनाने की क्षमता रखती हो। भारतवर्ष हमेशा ही यह करता रहा है। भारतवर्ष में अगर कुछ तनाव नजर आते हैं तो इसका कारण भी देशी से ज्यादा विदेशी है। क्या कारण है कि इजरायल और अरब देश एक साथ नहीं रह सकते? क्या कारण है कि इंग्लैण्ड और आयरलैण्ड एक साथ नहीं रह सकते ? क्या कारण है कि कनाडा और क्यूबेक एक साथ नहीं रह सकते ?क्या कारण है कि सोवियत रूस का विघटन हो गया ?क्या कारण है कि नाइजिरिया और यूथोपिया संकट में है ? वहीं दूसरी ओर क्या कारण है कि भारतीय संघ जिसे यूरोप के लोग विभिन्न विषमताओं का देश मानते हैं, उस विषमता के बावजूद भी भारत टिका रहा। अगर भारत का कुछ बिगाड़ा है तो विदेशी ताकतों ने बिगाड़ा है। भारत की चारों ही संस्कृतियाँ, भारत में आपस में मिलकर रहते रहे है और आगे भी रहेंगे। क्योंकि भारतीय इतिहास इस बात की साक्षी है कि भारत विदेशी संस्कृतियों को भी उतना ही सम्मान देता रहा है जितना अपनी संस्कृति को। दिनकर ने 'संस्कृति के चार अध्याय' में यह बतलाने की, कोशिश की है कि भारत विदेशी संस्कृतियों को हिंसा के सहारे कभी पछाड़ने में विश्वास नहीं करता रहा है बल्कि उनका आत्मसातीकरण कर उन्हें अपना बना लेने में उसका विश्वास है। भारतवर्ष में जितने पंथ पैदा लिए उतने दुनिया में एक देश में कभी पैदा नहीं हुए। दुनिया का इतिहास इस बात का गवाह है कि एक ही धर्म के लोग विदेशों में विभिन्न शाखाओं में बंटकर लड़ते रहे, वहीं भारत ने विभिन्न धर्मों एवं पंथों को, विभिन्न संस्ख्रतियों को, विभिन्न भाषाओं को एक भौगोलिक सीमा में रहना सिखाया है। इस प्रकार के प्रयोग विदेशों में हुए ही नहीं, क्योंकि उनके शास्त्रों में, उनके विद्वानों के नजरिया में विभिन्न राष्ट्रीयता और संस्ख्रति के लोग आपस में मिलकर रह ही नहीं सकते। प्रथम विश्व युद्ध और द्वितीय विश्व युद्ध राष्ट्रीयताओं के नाम पर राष्ट्रों के निर्माण और पतन का इतिहास रहा है। अगर किसी का पतन नहीं हुआ तो वह भारतवर्ष है। अगर उसका विभाजन भी हुआ तो यह विदेशी षड्यंत्र के अलावे कुछ नहीं है।

कर उन्हें अपना बना लेने में उसका विश्वास है। भारतवर्ष में जितने पंथ पैदा लिए उतने दुनिया में एक देश में कभी पैदा नहीं हुए। दुनिया का इतिहास इस बात का गवाह है कि एक ही धर्म के लोग विदेशों में विभिन्न शाखाओं में बंटकर लड़ते रहे, वहीं भारत ने विभिन्न धर्मों एवं पंथों को, विभिन्न संस्कृतियों को, विभिन्न भाषाओं को एक भौगोलिक सीमा में रहना सिखाया है। इस प्रकार के प्रयोग विदेशों में हुए ही नहीं,

क्योंकि उनके शास्त्रों में, उनके विद्वानों के नजरिया में विभिन्न राष्ट्रीयता और संस्कृति के लोग आपस में मिलकर रह ही नहीं सकते। प्रथम विश्व युद्ध और द्वितीय विश्व युद्ध राष्ट्रीयताओं के नाम पर राष्ट्रों के निर्माण और पतन का इतिहास रहा है। अगर किसी का पतन नहीं हुआ तो वह भारतवर्ष है। अगर उसका विभाजन भी हुआ तो यह विदेशी षड्यंत्र के अलावे कुछ नहीं है।

राष्ट्रकवि 'दिनकर' के 'संस्कृति के चार अध्याय' को पढ़ने से यह लगता है कि उनके विचारानुसार भारत का राष्ट्रवाद हिन्दू राष्ट्र नहीं वरन् भारत के भौगोलिक सीमा के अन्दर बसने वाले लोगों का सांस्कृतिक राष्ट्रवाद है। दिनकर ने माना है कि गांधीवादी विचारधारा ने पश्चिम की राष्ट्रवाद के विचारधारा को अभिनव दृष्टि दी और एक नई चेतना को गांधी भारत में व्यापक रूप देने में समर्थ हुए। इसी विचारधारा से प्रभावित होकर कवियों और साहित्यकारों ने जिनमें माखनलाल चतुर्वेदी, सोहनलाल द्विवेदी एवं रामधारी सिंह दिनकर प्रमुख हैं। जिन्होंने अपनी लेखनी के माध्यम से राष्ट्रवादी स्वर प्रदान किए है जिसकी झलक 'संस्कृति के चार अध्याय' में मिलती है। 'संस्कृति के चार अध्याय' में सम्पूर्ण भारत के प्रति आस्था, संस्कृति के प्रति निष्ठा, मानवतावाद के प्रति आग्रह, सामन्तवाद के प्रति आक्रोश और स्वतंत्रता के लिए संकल्प, निर्माण एवं सृजन के लिए प्रेरणा तथा शोषकों के प्रति क्रांति को जन्म देकर साहित्य में एक नई दिशा दी।

श्री दिनकर 'संस्कृति के चार अध्याय' के ही लेखक नहीं थे बल्कि वे महाकवि, समीक्षक और विचारक भी रहे हैं। यही कारण है कि वे हमेशा भारतीय संस्कृति के गरिमामय राष्ट्रीय पात्रों की तलाश में रहे हैं। इसे हम उनके अतीत के जीवंत पात्रों के संदर्भ में उनकी कविता में देख सकते है, जो उन्होंने लिखा है –

'जब भी अतीत में जाता हूँ
मुरदों को नहीं जिलाता हूँ,
पीछे हटकर फेंकता वाण
जिससे कम्पित हो वर्तमान
खण्डहर हो, हो भग्नावशेष
पर, कहीं बचा हो स्नेहशेष
तो जा उसको ले आता हूँ
निज-युग का दिया जलाता हूँ।'

दिनकर के 'संस्कृति के चार अध्याय' किसी विदेशी के लिए नहीं लिखा गया। अगर विदेशी के लिए लिखा जाता तो यह अंग्रेजी या किसी अन्य भाषा में होता। यह वास्तव में भारत के संस्कृति के विषय में है, जो सामान्य भारतीयों को बताने के लिए लिखा गया है, क्योंकि दिनकर इस बात से परिचित थे कि बिना जाने-बुझे लोग भारतीय संस्कृति के बारे में असंस्कृत रूप में बोलते थे जिससे उनकी अज्ञानता झलकती थी। इसलिए दिनकर ने स्वत: लिखा है कि यह पुस्तक विद्वानों या पुर्वाग्रह से पीड़ित लोगों के लिए नहीं है। जवाहरलाल नेहरू ने भी प्रस्तावना में लगभग यह मान लिया है कि भारतीय संस्कृति का ज्ञान लोगों के पास नहीं है और कुछ लोग जानते हुए भी पुर्वाग्रह से पीड़ित होकर तोड़-मरोड़ कर भारत की छवि को या तो बदनाम करने की कोशिश करते रहे है या उस कार्य में लगे हुए हैं।

मैंने आज तक इतिहास, दर्शन, संस्कृति और राजनीतिक सिद्धांतों पर जो कुछ भी अध्ययन किया है, दिनकर के 'संस्कृति के चार अध्याय' को पढ़ने के बाद यह लगता है कि दिनकर इतिहास और साहित्य दोनों के न केवल विद्यार्थी या ज्ञाता रहे है बल्कि जिस किसी चीज को उन्होंने पढ़ा है और उससे पुर्नप्रस्तुतीकरण किया है उसमें इतनी स्पष्टता रही है कि उसकी जितनी भी प्रशंसा की जाए वह कम है। शायद भारत जैसे हजारों वर्ष पुराने सनातन संस्कृति वाले देश के इतिहास और संस्कृति का प्रस्तुतीकरण जो कुछ पृष्ठों में दिनकर ने किया है, इस प्रकार की और कोई रचना हमें देखने को नहीं मिलती, जिस एक मात्र किताब को पढ़कर कोई सामान्य भारतीय पूरे भारत का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। मैं मानता हूँ कि इस पुस्तक का अनुवाद ने केवल सभी भारतीय भाषाओं में किया जाए और इसे सरकार मुफ्त या कम कीमत में वितरित करें बल्कि इसे विदेशी भाषाओं में भी अनुवादित कर दुनिया के पटल पर इसे रखे।

वितरित करें बल्कि इसे विदेशी भाषाओं में भी अनुवादित कर दुनिया के पटल पर इसे रखे।

पूर्वाग्रह से पीड़ित विचारकों से भी आग्रह है कि वे दिनकर के प्रति पूर्वाग्रह छोड़े और भारतीय संस्कृति को सामान्यजन एवं पूरी दुनिया को समझाने में अग्रण्य भूमिका अदा करें। इसमें उनकी ज्यादा बड़ाई होगी न की दिनकर की आलोचना करने में।

अंत में आयोजक को साधुवाद, कि वे दिनकर को उनके शताब्दी वर्ष के समापन पर पुन: याद कर रहे हैं। यह वास्तव में दिनकर के प्रति कोई बहुत बड़ा सम्मान नहीं है। दिनकर तो खुद महान थे ही, उनकी रचनाएँ कालजयी है।

सेवा निवृत विभागाध्यक्ष,
राजनीतिक शास्त्र विभाग,
विनोबा भावे विश्वविद्यालय, हजारीबाग (झारखण्ड)

संस्कृति के चार अध्याय : अतीत से मुलाकात

राजेश मंझवेकर

दिनकर मानते हैं कि मैंने जो कुछ लिखा है, ''वह मेरी शिक्षा दीक्षा और चिंतन का परिणाम है। मेरा विश्वास है कि यद्यपि, मेरी कुछ मान्यताएँ गलत साबित हो सकती है, लेकिन, इस ग्रंथ को उपयोगी मानने वाले लोग दिनों दिन अधिक होते जाएंगे।'' 'संस्कृति के चार अध्याय की भूमिका में लिखी उनकी उस बात से उतर मेरा यह मानना है कि भारतीयता एवं भारत होने का मतलब तथा भारत का समग्र सार लिखने की अप्रतिम उत्कंठा में दिनकर ने अपना 'दी बेस्ट' निकाल कर रख दिया है। मुझे यह कहनें में कतई हिचक नहीं कि भारतीय संस्कृति की तलाश और उसे उकरने में दिनकर इस शिद्दत से भिड़े दिखते है कि शायद वे अपनी उम्मीदों से भी ज्यादा बढ़-चढ़ कर लिख गए है। बेशक ऐसी कोशिशों की कोई विशेषण देने के लिए ही 'कालजयी' सरीखे शब्द का निर्माण हुआ होगा। लोग तो इसे हाथों-हाथ लेंगे ही। अपनी भूमिका में ही दिनकर 'कान्फ्रेंश' करते से दिखते है, '' लेकिन, तमाम कोलाहल के बीच यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो गयी कि जिन लोगों के लिए यह पुस्तक लिखी गई थी, उन्हें यह खूब पसंद आयी है; नापसन्द यह उन्हें हुई, जिनके लिए, शायद, यह है ही नहीं। खास दिलचस्पी की बात तो यह है कि सांस्कृतिक एकता की बातें जनसाधारण ही सुनना चाहता है; पंडित और विशेषज्ञ ऐसी बातों से बिदक जाते हैं। यहाँ मेरा मानना है कि ऐसे पंडितों और विशेषज्ञों का बौद्धिक 'आइ क्यू' बढ़ाने में भी 'संस्कृति के चार अध्याय' की अहम् भूमिका रही है। इसकी आत्मस्वीकारोक्ति से ये सिर्फ इसलिए बिदकते हैं कि कहीं इससे इनकी 'दुकानदारी' पर फर्क न पड़े। दूसरी बात, विरोध के लिए विरोध करने वालों की जमात से वे अपने कारणों से बाहर निकल भी नहीं सकते। साथ ही मेरा मानना है, आईना में अपनी ही सूरत पसन्द न आए तो इसके लिए 'आईना' को ही दोषी ठहरा देना कहाँ तक उचित है। जिन्हें कुछ विरोध है, वे 'आईने' को ही झुठलाना चाहते है।

साहित्य एवं दर्शन के कमाल के घाल-मेल के साथ ही दिनकर जी के शब्दों में 'महल के किराएदार' इतिहास का भी कुछ ऐसा संगम इस महाग्रंथ में है, जिससे साक्षात्कार कर मेरे जैसे कलमघिस्सूओं की नई पीढ़ी को घर बैंठे पाठशाला का अहसास होता है। जब भी कुछ ढूढ़ना हो ऐसा तथ्य, जो जान डाल दे हमारी भी लेखनी में, तो अद्यतन संदर्भ ग्रन्थ के रूप में याद आती है सिर्फ एक नाम 'संस्कृति के चार अध्याय'। मुझे यह कहने में कोई हिचक नहीं है कि कई नवोढ़े रचनाकार इस महाग्रंथ की पूँछ पकड़कर साहित्य की वैतरणी पार करने में लगे है।

बेशक यहाँ मैं ग्रन्थ के सन्दर्भ में ढेर सी समीक्षात्मक बातें भी तफ्सील से लिख सकता था पर

इससे इतर सिर्फ संस्मरणात्मक बातें लिखना इसलिए भी उचित समझा, क्योंकि मुझे लगा आत्मलोचना की यह बात 'कुछ और' को 'ढेर सारे' तथ्य उद्घाटित करने का साहस दे सकेगा, जहाँ के चोर दरवाजे से वे बाहर ही आना नहीं चाहते है।

दिनकर जी से जुड़े मेरे कोई संस्मरण हो नहीं सकते थे सिवा इसके कि उनके पुत्र श्री केदार सिंह जी से मुझे मिलने का अवसर भाई नीरज जी (दिनकर स्मृति न्यास समिति) के कारण एकदम हाल के वर्षों में मिला है। मैं तो दुर्भाग्य से पैदा ही तब हुआ, जबतक भारतीय जन-मानस पर जादू की तरह छा चुका था दिनकर जी का यह करिश्माई प्रयास तथा खुद दिनकर 'सूर्य पुरूष' बनकर।

स्थापित पत्रकार सह उदीयमान कथाकार के रूप में पिछले दिनों 'अभिलाषा' (हिसुआ, नवादा) द्वारा मुझे जब रामधारी सिंह 'दिनकर' स्मृति चिह्न से राजगीर आयुध कारखाना के महाप्रबंधक कꣳभूपसिंह एवं प्रख्यात साहित्कार डॉ. सतीशराज पुष्करण के हाथों सम्मानित किया गया तथा अतिथिद्वय द्वारा मेरी पीठ थपथाई गयी तो मैं दिनकर जी के स्पर्श की अनुभूति से ओत-प्रोत था। उस दिन पहनाई गयी माला को मैंने सूखने तक सहेज कर रखा था। उस माला को मैंने दिनकर जी की तस्वीर को समर्पित किया और और उस स्मृति को चित्र रूप में अपने मनो-मस्तिष्क तथा कम्प्यूटर में सहेज कर रख लिया। इस अनावश्यक से संस्मरण का उल्लेख बस अपनी भावना में बहकर यहाँ कर दिया। पर यह सोच कर कि जैसे भी मिला, दिनकर जी का 'साथ' तो आखिर मुझे भी मिल ही गया, तो क्यों न इतराऊँ।

अंत में बस इतना ही उल्लेखित करना चाहूँगा कि हर भारतीय के लिए जितना श्लाघनीय और अपरिहार्य है 'रामायण', 'गीता' और 'महाभारत', उस से कमतर नहीं 'संस्कृति के चार अध्याय'। भारत को जिस नजरिए से इस में आप ढूढ़ना चाहें, आप को निराशा हाथ नहीं लगेगी। आप इसमें रमें नहीं तो समझिए भारत में रहकर भारत की आत्मा से आपकी मुलाकात नहीं।

बुनियादी बातों से लेकर प्रचण्ड गंभीर चर्चा, सामान्य तथ्य से लेकर ठोस, प्रभावपूर्ण तथा शोध से छनकर उद्घाटित तथ्य, इतिहास और भूगोल खंगालने का भागीरथ प्रयास तो समाज, राजनीति, दर्शन, अर्थशास्त्र और सबसे बढ़ कर साहित्य का विहंगम समावेश, आम बुद्धिवाले से लेकर प्रखर बुद्धिजीवी के लिए भरपूर मानसिक खुराक की उपलब्धता, भारतवंशियों के सूत्रपात से लेकर चरम तक का मारूत, जीवन्त, गतिशीलता, शांति, अहिंसा, सदाशयता, सहिष्णुता, अनुशासन, व्यक्तित्व, सिद्धांत, आचरण, शील आदि-आदि का सम्पूर्ण प्रदर्शन 'संस्कृति के चार अध्याय' पग-पग मिलते हैं, तभी तो 'भारत की खोज' भी साथ ही पूरी हो जाती है। मेरे लिए मामला थोड़ा अलग है क्योंकि मैंने तो भारत की खोज के अलावा इस ग्रंथ के जरिए 'दिनकर' की भी खोज कर ली ।

राजेश मंझवेकर, पत्रकार, ''हिन्दुस्तान'', हिसुआ (नवादा)

मों. - 9431230590, 9934075004, 9334988252

दिनकर की इतिहास दृष्टि और सांस्कृतिक सरोकार

नारायण कुमार

'संस्कृति के चार अध्याय' हिन्दी के सुप्रसिद्ध राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' की कालजयी कृति है। शौर्य और सौन्दर्य का कवि जब भारत जैसे विशाल देश के सांस्कृतिक अतीत और वर्तमान को लिपिबद्ध करना चाहता है, तो निश्चय उसके सामने अनेक चुनौतियाँ उपस्थित होती हैं। दिनकर की इतिहास-दृष्टि के सन्दर्भ में इस पुस्तक के बारे में उनकी अवधारणा पर विचार करना आवश्यक है। उन्होंने लिखा है, 'इस पुस्तक मैं इतिहास नहीं, साहित्य का ग्रंथ कहता हूँ। फिर भी पूरी संभावना है कि इसकी प्रामाणिकता पर प्रहार होंगे और विद्वानों के पास उठने-बैठने वाले लोग कहेंगे कि अमुक स्थापना केवल अनुमान पर आधारित है और लेखक की अमुक उक्ति केवल अर्ध-सत्य है। उसके बाद भी कट-छट कर जो बचेगा वह काफी प्रामाणिक होगा और हमारे देश का उससे भी काफी कल्याण होगा। अर्ध-सत्य और अनुमान चाहे जितने हों, किन्तु जो प्रतिमा इस पुस्तक में खड़ी की गई है, वह निर्जीव नहीं है। मेरी आशा है कि पाठक जब इस पुस्तक को हाथ में लेंगे, हमारी सामासिक संस्कृति की प्रतिमा उनसे अंत तक बात करती चली जाएगी।"

यद्यपि दिनकर इसे इतिहास नहीं बल्कि साहित्य का ग्रंथ मानते हैं लेकिन उन्होंने जब यह देखा कि भारतीय भाषाओं में ही नहीं, बल्कि दुर्भाग्यवश, अंग्रेजी में भी कोई पुस्तक ऐसी नहीं है जिसमें भारतीय संस्कृति के सम्पूर्ण इतिहास की झांकी एक ही जिल्द में उतार दी गई हो, तो इस अभाव को पूरा करने के लिए 'संस्कृति के चार अध्याय' का लेखन प्रारम्भ किया ताकि हिन्दी के पाठक यह समझ सकें कि भारत की संस्कृति क्या है, कैसे-कैसे वह बढ़ती आई है और आगे वह कौन रूप ले सकती है। यह भारत के अतीत, वर्तमान और भविष्य को ध्यान में रखकर लिखा गया ग्रंथ है।

यह स्पष्ट है कि दिनकर ने भारत की संस्कृति की विकासमान प्रक्रिया और उसके भावी स्वरूप को ध्यान में रखकर इस पुस्तक में भारतीय संस्कृति के सम्पूर्ण इतिहास की झांकी प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। भारतीय संस्कृति अत्यन्त जटिल और संश्लिष्ट विषय है। अतः उसे परिभाषित करना तथा अध्यायों में बांटना खतरे से खाली नहीं है, फिर भी दिनकर ने इस चुनौती को स्वीकार कर भारतीय संस्कृति का अध्ययन और आंकलन करने का जोखिम हमारे जैसे असंख्य पाठकों के लिए लिया है जो भारतीय संस्कृति को समझना तो चाहते हैं किन्तु अनुसंधान और खोज की नीरस भाषा से भी घबराते हैं। यही कारण है कि दिनकर जी ने इतिहास जैसे दुरुह विषय को भी अत्यन्त सरल एवं रोचक शैली में इस प्रकार लिखा है कि सचमुच यह इतिहास की जटिलता से मुक्त एक ऐसा ग्रंथ है जिसमें इतिहास के सत्य और साहित्य के सौंदर्य का एक इस प्रकार मणिकांचन संयोग हुआ है जो इतिहास और साहित्य दोनों ही के लिए एक विशिष्ट और विलक्षण प्रतिमान बन गया है।

दिनकर जी ने भारतीय संस्कृति के चार सोपानों में विभाजित कर यह प्रतिपादित करने का प्रयास किया है कि भारत की संस्कृति आरम्भ से ही सामासिक रही है। उन्होंने लिखा है कि-"उत्तर-दक्षिण, पूर्व-पश्चिम, देश में जहाँ भी

जो हिन्दू बसते हैं, उनकी संस्कृति एक है एवं भारत की प्रत्येक क्षेत्रीय विशेषता हमारी इसी सामासिक संस्कृति की विशेषता है।" उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि हिन्दू और मुसलमान, जो देखने में अब दो लगते हैं, उनके बीच भी सांस्कृतिक एकता विद्यमान है, जो उनकी भिन्नता को कम करती है। दिनकर जी ने इस बात पर दु:ख प्रकट किया है कि हम इस एकता को पूर्ण रूप से समझने में असमर्थ रहे हैं। उनका विचार है कि इन दोनों समुदायों में एकता स्थापित करने का काम राजनीति नहीं बल्कि शिक्षा और साहित्य द्वारा सम्पन्न किया जाना चाहिए जिसके लिए साहित्य में प्रयत्न किए गए हैं और संस्कृति के चार अध्याय 'उसी दिशा में एक प्रयास है।'

मेरे विचार में दिनकर जी की उपर्युक्त टिप्पणी से उनकी इतिहास दृष्टि और सांस्कृतिक अवधारणा पूर्णत: स्पष्ट हो जाती है। वे निश्चित रूप से भारत की सामासिक संस्कृति और हिन्दू एवं मुसलमानों के बीच सांस्कृतिक एकता को परिभाषित एवं रेखांकित करना चाहते हैं। सामासिक संस्कृति की संकल्पना और दो समुदायों के बीच सांस्कृतिक एकता की स्थापना सुनने में जितना सरल लगता है, उतना आसान है, नहीं। इसका विश्लेषण करना तथा उसे एक तार्किक परिणति तक पहुँचाना अत्यन्त रेतीले, पथरीले और दुर्गम रास्ते से चलकर मंजिल पर पहुँचने का प्रयास है। कभी-कभी ऐसा भी लगता है यह सामासिक संस्कृति या राष्ट्रीय एकता वस्तुत: क्या चीज है। सिद्धान्त के रूप में यह आदर्श स्थिति तो है लेकिन इसका वास्तविक स्वरूप उतना सरल नहीं है।

यही कारण है कि दिनकर जी ने भारतीय संस्कृति के चार सोपानों को चार क्रांतियों के रूप में परिभाषित करते हुए यह बताया है कि भारत में पहली सांस्कृतिक क्रान्ति तब हुई, जब आर्य भारतवर्ष में आए अथवा जब भारतवर्ष में उनका आर्योत्तर जातियों से सम्पर्क हुआ और इन दोनों के मिलन से उत्पन्न संस्कृति भारत की बुनियादी संस्कृति थी। दूसरी क्रान्ति उस समय हुई जब महावीर और गौतम बुद्ध ने उस स्थापित संस्कृति के विरुद्ध विद्रोह किया और उपनिषदों की चिन्ताधारा को अपनी मनोवांछित दिशा में ले गए। इस क्रान्ति ने भारतीय संस्कृति की अपूर्व सेवा तो की परन्तु बाद में भारतीय धर्म और संस्कृति में इस क्रान्ति के कारण काफी गंदलापन भी आया। दिनकर जी विजेताओं के धर्म के रूप में भारत में इस्लाम धर्म के आगमन और हिन्दुत्व के साथ उसके सम्पर्क को भारत की तीसरी सांस्कृतिक क्रान्ति मानते हैं तथा उन्होंने भारत में यूरोप के शासकों के आगमन और हिन्दुत्व एवं इस्लाम के साथ यूरोपीय समुदाय के सम्पर्क को चौथी सांस्कृतिक क्रान्ति के रूप में स्वीकार करते हुए यह अवधारणा प्रस्तुत है कि इस सांस्कृतिक क्रांन्ति के कारण 'हिन्दुत्व तथा इस्लाम दोनों ने नव-जीवन का अनुभव किया'। इन चारों घटनाक्रम को क्रांन्ति के रूप में स्वीकार कर उसके आधार पर भारत के सांस्कृतिक रूप-रंग का आंकलन अपने-आप में कम क्रांन्तिकारी विचार नहीं है।

दिनकर कवि के रूप में अपने क्रान्तिकारी एवं राष्ट्रीय विचारों की खोज एवं शौर्य के साथ प्रकट करते रहे हैं तथा कभी कुरुक्षेत्र के रणक्षेत्र से तो कभी 'रश्मिरथी' की काव्यात्म यात्रा में प्राचीन आध्यात्मिक इतिहास का भी संधान कर चुके हैं। वे कभी "वैशाली के भग्नावशेष में लिच्छवी शान" को खोजते दीखते हैं तो कभी उदास गंडकी से विद्यापति के सुमधुर कोमल-कांत पदावली की पहचान जानना चाहते हैं। अत: कवि दिनकर का इतिहासकार जितना सजग है उतना ही इतिहासकार दिनकर का कवि हृदय भी मुखर रहा है। दिनकर जी अपनी कविताओं में भी राजनीतिक व्यवस्था, सामाजिक असमानता और धार्मिक पाखंड पर निर्मम प्रहार करते रहे हैं, उसी प्रकार संस्कृति के चार अध्याय में भी उन्होंने निर्भीक होकर यह कहा है कि भारत में छठी से उन्नीसवीं शताब्दी तक बारह सौ वर्ष तक बुद्धि के क्षेत्र में कोई महत्वपूर्ण काम नहीं हुआ और भामह के बाद इस देश के संस्कृत साहित्य में जो काव्य रचना की गई वह बाल्मीकि और कालिदास के मुकाबले कहीं भी नहीं है इसलिए उन्होंने

रीतिकालीन साहित्य में जातीय जीवन के स्पन्दन के अभाव को उजागर किया है। इसी प्रकार दिनकर जी 'हिन्दू-मुस्लिम संबंध का गूढ़ विवेचन करते हुए कहते हैं कि भारतीय इतिहास का मुस्लिमकाल राजनीति-शून्यता का काल है क्योंकि इस काल के संतो और कवियों में यह जानने की उत्सुकता नहीं थी कि शासन किसका चल रहा है। जनता भी धार्मिक आवेश में इस तरह लीन थी कि विदेशी शासकों को भगाने की चिन्ता नहीं करती थी और 'सन्तन को कहाँ सिकरी सो काम' जेसी अवधारणा के कारण तुलसी तथा राणा प्रताप समकालीन होते हुए भी एक-दूसरे से अपरिचित रहे। इसी प्रकार 'हिन्दू नवोत्थान' पर विचार करते हुए उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है कि "हिन्दुओं का दुर्भाग्य यह था कि वे जीवन को निस्सार मानने लगे थे। निवृत्ति की धारा में बहते-बहते, हिन्दू एक ऐसे स्थान पर जा पहुँचे थे जहाँ स्वाधीनता और पराधीनता में कोई भेद नहीं था। यह बड़ी ही अर्थपूर्ण बात है कि उन्नीसवीं सदी से पूर्व भारतीय साहित्य में कोई भी लेखक या कवि ऐसा नहीं हुआ जो यह कहने का साहस करे कि यह अन्याय है और हम इस अन्याय का विरोध करते हैं।"

अत: हम दिनकर जी की इतिहास दृष्टि में भारत के संतों और साहित्यकारों द्वारा अन्याय की मौन स्वीकृति, सत्ता और शासन के प्रति उदासीनता, समाज से विलग रहकर आत्मचिन्तन और संघर्ष के अभाव के प्रति न सिर्फ छटपटाहट बल्कि एक विद्रोह की भावना देखते हैं।

दिनकर जी ने 'संस्कृति के चार अध्याय' में गहन अध्ययन और चिन्तन के बाद अत्यन्त प्रामाणिक रूप से यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि भारत की सामासिक संस्कृतिपूर्ण रूप से सामाजिक और समावेशी संस्कृति रही है परन्तु उन्होंने मध्यकाल के संतों एवं साहित्यकारों द्वारा भजन, मनन एवं चिन्तन में मगन रहकर सामाजिक दायित्वों की उपेक्षा और निन्दा भी की है। उन्होंने भारत की धर्म निरपेक्षता के आदर्शों का समर्थन करते हुए उग्र हिन्दुत्व और कट्टर इस्लामी मनोवृत्ति की भी कड़े शब्दों में आलोचना की है।

इस कालजयी कृति के प्रथम प्रकरण में 'भारतीय जनता की रचना' का आंकलन किया गया है। अत्यन्त गम्भीर चिन्तन के बाद भी दिनकर जी प्रामाणिक रूप से यह तय नहीं कर पाते कि महंजोदरो (सिंध) हड़प्पा (पंजाब) तथा नाल (बलुचिस्तान) की खुदाइयों में जिस सभ्यता का अवशेष मिला वह आर्यों की थी, या द्रविड़ों की या दासों की। परन्तु यह अनुमान लगाते हैं कि यह सभ्यता आर्य-पूर्व भारतीय सभ्यता रही होगी। वे इसे द्रविड़ सभ्यता होने की बात करते हैं जहाँ दास और असुर जातियों से आर्यों की मुठभेड़ हुई थी। अन्तत: दिनकर जी इतिहासकारों के इस मत से सहमत दीखते हैं कि द्रविड़ जाति प्राचीन विश्व की अत्यन्त सुसभ्य जाति थी और भारत में जो सभ्यता का वास्तविक आरम्भ इसी जाति ने किया था।

दिनकर जी ने आर्य-द्राविड़ समस्याओं पर हुए मत-मनान्तरों के समाधान के लिए स्वामी विवेकानन्द के इस तर्क का सहारा लिया है कि ये सारी बातें निराधार है कि दक्षिण भारत में मनुष्यों की एक खास प्रजाति रहती थी जिसका नाम द्रविड़ था और वह उत्तर भारत में रहनेवाली आर्य नामक प्रजाति से सर्वथा भिन्न थी। इन्होंने आर्य और आर्येत्तर संस्कृति के मिलन को एक युगान्तरकारी एतिहासिक घटना माना है। वैदिक संस्कृति के विवेचन में दिनकर जी ने पाणिनी के श्रमण-ब्राह्मण संघर्ष, निगम और आगम पर आधारित पौराणिक हिन्दू धर्म, अथर्व-वेद के काल में इतिहास-पुराणों के सृजन पर विंहगम दृष्टि डालते हुए डॉ॰ मंगलदेव शास्त्री ने इस कथन को रेखांकित किया है कि भारतीय संस्कृति में जो कई विरोधी 'युग्म' हैं उनका भी कारण यही है कि भारतीय संस्कृति आरम्भ से ही सामाजिक रही है। अत्यन्त प्राचीन काल से भारत की मानसिकता दो धाराओं में विभक्त रही है कि जीवन सत्य है और हमारा कर्तव्य है कि बाधाओं पर विजय प्राप्त करके जीवन में जय-लाभ प्राप्त करें। किन्तु दूसरी धारा है कि जीवन नाशवान

है।... इस धारा के अनुसार मनुष्य को घर-बार छोड़कर संन्यास ले लेना चाहिए और देह-दंडनपूर्वक वह मार्ग अपना लेना चाहिए जिससे आवागमन छूट जाए। सत्य और नश्वर पर विचार करते हुए दिनकर जी ने यह देखा कि भारतीय आध्यात्मशात्र में कर्म की अपेक्षा संन्यास का अधिक आग्रह रहा है। परन्तु वे कहते हैं कि पराक्रमी मनुष्य संन्यास की अपेक्षा कर्म को अधिक महत्व देते है, दु:खों में भाग खड़ा होने से पहले वह डटकर उसका सामना करता है। अत: ऋग्वेद के आधार पर उन्होंने यह मानना युक्तिसंगत समझा है कि आर्य पराक्रमी मनुष्य थे। दिनकर जी ने आर्य-द्रविड़ सम्बन्ध और आर्य-द्रविड़ भाषाओं के विवेचन के क्रम में यह ठीक ही कहा है कि 'संस्कृत साहित्य पर जितना ऋण उत्तरवालों उतना ही ऋण दक्षिणात्यों का भी है। उत्तर-दक्षिण का प्रश्न तो हाल में उठा है। प्राचीन भारत में संस्कृत को ही अपनी साहित्य-भाषा मानता था। उन्होंने इस संदर्भ में अपनी यह स्थापना भी रखी है कि उत्तर भारत की सभी भाषाएँ संस्कृत से निकलकर विकसित हुई हैं। ये भी परस्पर भिन्न हैं, किन्तु संस्कृत ने हिन्दी को एक खास ढंग से विकसित करके उत्तर भारत को एक ऐसी भाषा दी है, जो थोड़ी-बहुत सभी भाषा-क्षेत्रों में समझ ली जाती। इसी प्रकरण में उन्होंने वर्णभेद, जातिभेद, वैष्णव धर्म, रामकथा, रामकथा की प्राचीनता और राम को लेकर समन्वय हिन्दू नाम का इतिहास तथा हिन्दू संस्कृति पर विस्तारपूर्वक विचार किया है। पुस्तक के द्वितीय अध्याय में प्राचीन हिन्दुत्व से विद्रोह, वैदिक बनाम बौद्धमत, प्राचीन भारत और बाह्य विश्व और बौद्ध आन्दोलन के सामाजिक प्रसंग का अत्यन्त सूक्ष्म और गम्भीर अध्ययन प्रस्तुत करते हुए दिनकर इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि 'बौद्ध-दर्शन में चिन्तन बहुत उच्च कोटि का हुआ था, किन्तु वह ऐसा नहीं था जिससे जन-सामान्य की जिज्ञासाओं का समाधान होता। दिनकर जी यह मानते हैं कि बुद्धदेव कदाचित उपनिषत्कालीन हिन्दुओं में सर्वश्रेष्ठ थे। इसलिए उनकी ओर जनता वेग से दौड़ी, यहाँ तक कि हिन्दुओं ने उन्हें विष्णु का अवतार मान लिया किन्तु बाद में जब बौद्ध साधु शराबियों, व्यभचारियों एवं औघड़ों के समान आचरण करने लगे, तब जनता उनके विरुद्ध हो गई।

हिन्दू संस्कृति और इस्लाम पर केन्द्रित इस पुस्तक के तृतीय अध्याय में दिनकर जी ने प्रकारान्तर से यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि हिन्दुत्व पर इस्लाम ने जो प्रभाव डाला, उससे अधिक प्रभाव उसने हिन्दुत्व स्वयं ग्रहण किया। उनकी मान्यता है कि किसी सुसंस्कृत देश को जीतकर जब कोई विजेता जाति वहाँ बस जाती है, तब वह वहां की संस्कृति को ही अपनी संस्कृति बना लेती है–जिसके अपवाद मुसलमान नहीं थे। उनकी यह टिप्पणी तो ठीक ही है कि 'पाठानों के समय एक ओर जहाँ हिन्दुओं के दमन के उदाहरण मिलते हैं, वहां दूसरी ओर हम यह भी देखते हैं कि अमीर खुसरो, कबीरदास, जायसी, कुतबन, मंझन ये सब कवि मुसलमान थे। इन तमाम तर्कों के बावजूद दिनकर ने इस सत्य को स्वीकार किया है कि हिन्दुत्व और इस्लाम ने एक-दूसरे को प्रभावित तो किया, किन्तु यह प्रभाव सतह से नीचे नहीं पहुँच सका। अत: हिन्दुओं ने सामाजिक आचरण में मुसलमानों की उदारता का अनुकरण नहीं किया न मुसलमानों ने हिन्दुओं से यह सीखने का प्रयास किया कि हमें दूसरे धर्मों का उतना ही सम्मान करना चाहिए जितना हम अपने धर्म का करते हैं।

इस पुस्तक का चतुर्थ अध्याय "भारतीय संस्कृति और यूरोप" जिसमें पुर्तगाल, हॉलैंड, फ्रांस, अंग्रेजों के आगमन का संक्षिप्त विवरण देने के बाद, भारत में इसाइयत के प्रचार-प्रसार के बारे में विचार करते हुए दिनकर जी ने लिखा है कि मनुष्य सामान्यत: यह बर्दाश्त नहीं कर सकता कि उसका कोई भी धर्मबंधु अपने धर्म को छोड़कर कोई अन्य धर्म स्वीकार करे। इस दृष्टि से ईसायत का प्रचार भारत में भी लोकप्रिय नहीं हो सका। किन्तु ईसाई धर्म प्रचारकों ने भारत की नयी भाषाओं की जो सेवा की वह भूलने लायक नहीं है।.. जब उन्होंने देखा कि फारसी-मिश्रित हिन्दी से उनका काम

नहीं चलता, तो वे संस्कृत निष्ठ हिन्दी अथवा साधु हिन्दी का प्रयोग करने लगे।

अंग्रेज जब व्यापारिक लाभ के उद्देश्य से शासन पर नियंत्रण करने लगे तो वे 1912 में अपनी राजधानी कलकत्ते से दिल्ली ले गए। दिनकर जी इस संदर्भ में अकबर इलाहाबादी के एक शेर को उदृत किया है, जो काफी दिलचस्प है–

'कदम अंग्रेज कलकत्ते से अब दिल्ली में धरते हैं।
तिजारत देख ली, देखें, हुकूमत कैसे करते हैं।'

इस अध्याय के दूसरे प्रकरण में शिक्षा में क्रान्ति को शामिल किया गया है जो एक ऐसा दुर्लभ दस्तावेज है जिसमें कम्पनी सरकार की उदार शिक्षा नीति के पराजय तथा चार्ल्स ब्रांट और मैकाले जैसे कुछ ब्रिटिश अधिकारियों के उस भाषायी षड्यंत्र की विजय का पर्दाफाश किया गया है। ईसाई मिशनरी स्कूलों के माध्यम से अंग्रेजी भाषा का प्रचार बढ़ा तथा ईसाई धर्म प्रचारक हिन्दू धर्म की निन्दा करते थे जिसके कारण नवशिक्षित वर्ग अपनी श्रेष्ठ धार्मिक एवं सामाजिक परम्परा को तिलांजलि देकर नए रंग में रंग गए। राजा राममोहन राय ज्ञान-विज्ञान के लिए अंग्रेजी शिक्षा को आवश्यक मानते थे। दिनकर जी ने उन्हें हिन्दू नवोत्थान का नेता माना है लेकिन यह भी कहा है कि राजा राममोहन राय की संस्था ब्रह्म समाज तथा इसी संस्था से विलग 'नव विधान सभा' ने हिन्दू समाज की कुरीतियों को दूर कर इसके उत्थान की कोशिश तो जरूर की लेकिन बाद में ब्रह्म समाज सर्व धर्म समन्वय तथा नव विधान सभा यहूदी और ईसाई धर्म की ओर उन्मुख होने लगा। इसी दौरान रानाडे, आगरकर, गोखले, तिलक आदि मराठी विचारकों ने हिन्दू उत्थान में जो महत्वपूर्ण योगदान दिया, उसका दिनकर जी ने विस्तृत विश्लेषण किया है।

दिनकर जी ने आर्य समाज को देश के नवोत्थान आन्दोलन का सशक्त प्रणेता मानते हुए यह कहा है कि राजा राममोहन राय, रानाडे हिन्दुत्व के लिए रक्षात्मक संघर्ष कर रहे थे जबकि दयानन्द सरस्वती ने आक्रामक रवैया अपनाया। उन्होंने 'सत्यार्थ प्रकाश में न सिर्फ हिन्दुत्व के शास्वत वैदिक रूप की व्याख्या की बल्कि ईसाइयत और इस्लाम की आलोचना भी की। लेकिन उन्होंने दयानन्द को इस अंधविश्वास के लिए जिम्मेदार भी ठहराया है कि वेद के बाहर कुछ भी नहीं है। इसके अतिरिक्त चूंकि दयानन्द के आर्यावर्त की सीमा विंध्याचल में समाप्त हो जाती थी, इसलिए दक्षिण भारत में आर्य विरोधी आन्दोलन उठ खडे हुए।

भारतीय नवोत्थान को दिनकर ने अतीतजीवी माना है लेकिन रामकृष्ण परमहंस को धर्म की साकार प्रतिमा बताते हुए स्वामी विवेकानन्द को सांस्कृतिक नवोत्थान का उन्नायक और इस्लाम के प्रति द्वेषमुक्त संन्यासी माना है। उनकी मान्यता है बालगंगाधर तिलक तथा गोपालकृष्ण गोखले ने राष्ट्रीयता को हिन्दू पुनरुत्थान का रूप प्रदान किया। दिनकर जी इस अध्याय में भारत राष्ट्र के निर्माण में स्वर्ग का भूमिकरण: महायोगी अरविन्द और भूमि का स्वर्गीकरण महात्मा के प्रयोग, विश्वदर्शन के प्रवर्तक सर्वपल्ली राधाकृष्ण के योगदान पर विचार किया। मुस्लिम नवोत्थान पर विचार करते हुए दिनकर जी ने इस्लाम के अन्तर्राष्ट्रीय प्रसार का विस्तृत विवेचन किया है तथा बहावी आन्दोलन को गैर साम्प्रदायिक मानते हुए इसे आम जनता का आन्दोलन माना है। दिनकर जी ने मुसलमानों को आधुनिक बनाने में सर सैयद अहमद के योगदान की तो प्रशंसा की है लेकिन इस तथ्य को भी उजागर किया है कि सर सैयद अहमद ने मुसलमानों को अंग्रेजी में शिक्षित-दीक्षित कर यह प्रयास किया था 1857 में मुस्लिम सम्प्रदाय के प्रति अंग्रेजों के मन में जो दुर्भाव पैदा हुआ था, वह समाप्त हो जाए। इसीलिए अलीगढ़ में मोहम्मद एंग्लो-ओरिएंटल कॉलेज की स्थापना के समय उन्होंने कहा था कि "इस संस्था का उद्देश्य मुसलमानों को ब्रिटिश सरकार की सुयोग्य प्रजा बनाना है।" दिनकर जी अपने प्रिय कवि इकबाल के बारे में भी स्पष्ट

शब्दों में लिखा है कि "इकबाल का भारतीय प्रजातंत्र पर विश्वास नहीं था। चूंकि मुसलमान पूरे विश्व में फैले हुए थे, अत: उन्होंने ऐसी राष्ट्रीयता की कल्पना कर ली जिसका आधार देश नहीं धर्म था। इकबाल ने इस्लाम को सर्वश्रेष्ठ धर्म, मुसलमान को सर्वश्रेष्ठ मानव और इस्लामी बंधुत्व को सर्वश्रेष्ठ राष्ट्रीयता माना। यह उल्लेखनीय है अंग्रेजों ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के विरोध में मुसलमानों को भड़काने के लिए जिन्ना के नेतृत्व में मुस्लिम लीग की स्थापना को समर्थन देकर 'फूट डालो और शासन करो' की नीति पर हिन्दुस्तान को सदा के लिए गुलाम बनाए रखने का षडयंत्र किया था। दिनकर जी ने यह समझाने का प्रयास किया है कि इस्लाम शब्द का अर्थ शांति धर्म है। इसके साथ उन्होंने हिन्दुओं से मुसलमानों के उन अत्याचारों और अपराधों को भूलने की सलाह दी है जो किन्हीं विशेष परिस्थितियों के फलस्वरूप होता रहा। उनकी मान्यता है कि जिन लोगों ने इस्लाम के नाम पर भारत में अनाचार और अत्याचार किया वे शुद्ध इस्लाम के प्रतिनिधि नहीं थे। दिनकर जी ने राष्ट्रवादी मुसलमानों की इस बात के लिए प्रशंसा की है कि वे धर्म को राष्ट्रीयता और स्वतंत्रता का बाधक नहीं मानते थे।

संस्कृति के चार अध्याय के प्रकाशन (मार्च १९५६) के पश्चात् सुधी समीक्षकों, विद्वान आलोचकों और गम्भीर पाठकों ने इस ग्रंथ के बारे में अपने-अपने विचार व्यक्त किए तथा स्वत: दिनकर जी ने पुस्तक में जिन बातों को उल्लेख करना आवश्यक समझा उन्हें १९६२ में प्रकाशित तृतीय संस्करण में शमिल किया गया है। दिनकर जी अन्य संशोधनों एवं संवर्धनों के अलावा "बौद्ध साधना पर शास्वत प्रभाव, इस्लाम खण्ड, कम्पनी सरकार की भाषा नीति को इस संस्करण में नए रूप में प्रस्तुत किया है। एक सबसे महत्वपूर्ण अंश 'उपसंहार' के रूप में जोड़ा है जिसमें भारत के मूल निवासी जैसे पेंचीदे सवाल से लेकर, जैन-बौद्ध धर्मों, हिन्दुत्व पर इस्लाम के प्रभाव, मुसलमान कवियों की हिन्दी सेवा, भारत में यूरोप के आगमन, ईसायत और बुद्धिवाद, भारत में नव जागरण और स्वतंत्रता संग्राम, धार्मिक एवं जातीय भेदभाव, मुसलमानों और हिन्दुओं के सामाजिक चरित्र, भाषा विवाद, प्रांतवाद, गोत्रवाद, दलबन्दी तथा भारतीय जन-सामान्य की आस्था और उनके सोचने के ढंग पर सार-संक्षेप प्रस्तुत किया गया है।

इस पुस्तक के उपसंहार में विज्ञान के अभ्युदय के बाद अतीत तथा वर्तमान के संग्राम पर विचार करते हुए दिनकर जी ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि "अधिकांश देशों में आज अतीत पराजित और वर्तमान सत्तासीन है। केवल भारत ही एक देश है, जहाँ अतीत आज भी युद्ध कर रहा है। यह संग्राम भारत के पिछले डेढ़ सौ वर्षों से चल रहा है। लेकिन भारत का अतीत आज भी न तो दुर्बल है, न कलान्त। भारत का अतीत हमेशा वर्तमान को अपनी बाहों में समेटकर भविष्य की ओर चलने का आदी रहा है। सच पूछिए तो दिनकर की इतिहास दृष्टि भी अतीत और वर्तमान में समन्वय कर भविष्य का मार्ग प्रशस्त करने पर केन्द्रित रही है। इसी बात को संस्कृति के चार अध्याय की भूमिका में पं॰ जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है कि "इतिहास के अन्दर हम दो सिद्धान्तों को काम करते देखते हैं। एक तो सातव्य का सिद्धांत और दूसरा परिवर्तन का। ये दोनों सिद्धांत परस्पर विरोधी से लगते हैं, परंन्तु ये विरोधी हैं नहीं। सातव्य के भीतर भी परिवर्तन का अंश है। इसी प्रकार परिवर्तन भी अपने भीतर सातत्य का कुछ अंश लिए रहता है।"

अत: जहाँ दिनकर की इतिहास दृष्टि भारत के अतीत, वर्तमान और भविष्य पर केन्द्रित रही हैं वहीं उनका सांस्कृतिक सरोकर सातत्य, निरन्तरता और परिवर्तन के आधार पर एक सजीव, गतिशील सामाजिक, सांस्कृतिक एवं समावेशी राष्ट्र निर्माण के लिए प्रयत्नशील और संघर्षरत है।

संपर्क : बी-30, मानस अपार्टमेंट, मयूर विहार,
फेस-1, नई दिल्ली-110091

संस्कृति के चार अध्याय : दिनकर का दायित्व बोध

कविता नन्दन 'अमित'

संस्कृति के चार अध्याय' ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर साहित्यिक सहजता के साथ सांस्कृतिक मंतव्यों हेतु एक प्रबुद्ध दार्शनिक की वैचारिक मंत्रणा है। कृति, कृतित्व और कृतिकार, परस्पर सम्बन्ध होते हैं, यहीं सम्बद्धता 'संस्कृति के चार अध्याय', उसकी विषयवस्तु में निहित दृष्टिकोण और दिनकर के दायित्व-बोध में है, जिसने संस्कृत के चार अध्याय को कालजयी, दिनकर को महान विचारक बना दिया। एक सच्चा साहित्यकार, अपने अतीत से ऊर्जा लेकर वर्तमान में सृजन और भविष्य के लिए दिशा निर्धारण का कार्य करता है।

दिनकर का दायित्वबोध? व्यक्ति एक ईकाई है परिवार, वंश, समुदाय, सम्प्रदाय, जाति, धर्म, राज्य, राष्ट्र और वैश्विक धरातल पर पूरी मानवता का। प्रत्येक की संस्कृति का एक इतिहास होता है। व्यक्ति अपनी संस्कृति, इतिहास, वर्तमान और भविष्य के प्रति उत्तरदायी होता है। उत्तरदायित्व कभी भी समाप्त नहीं होता, हाँ! हस्तांतरित अवश्य होता है। ऐसे में दिनकर का दायित्व-बोध से परे होना कैसे सम्भव है। दिनकर कोई आम व्यक्ति नहीं है, जिनकी जिम्मेदारी आम नागरिक जितनी ही हो! उन्हें राष्ट्र ने राष्ट्रकवि का सम्मानजनक पद दिया है, पद की गरिमा उनकी जिम्मेदारी को और बढ़ा देती है। तभी तो वह 'राष्ट्रकवि' के दायित्व को परिभाषित करते हुए कहते हैं-

'राष्ट्रकवि उसे कहना चाहिए, जो अपने देश की प्रत्येक संस्कृति को अपने में समो लेता है, जो देश के प्रत्येक वर्ग का अपने को प्रतिनिधि समझता है और सभी सम्प्रदायों के बीच जो देशगत ऐक्य है, उसे मुखर बनाता है। इसी प्रकार विश्वकवि उसे कहना चाहिए, जो दुनिया के हर देश के भीतर जो अन्तर्राष्ट्रीय तत्व है, उसे वाणी दे। विश्वकवि बनने की पहली शर्त यह है कि कवि 'राष्ट्रकवि' हो। जो राष्ट्र के विभिन्न अवयवों का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता, वह विश्व के विभिन्न देशों का प्रतिनिधित्व कैसे करेगा? और भारत में जो भी राष्ट्रकवि होगा, उसे विश्वकवि ही समझना चाहिए क्योंकि भारत छोटे पैमाने पर, सारा संसार ही है। जैसे प्रत्येक राष्ट्र अपनी अभिव्यक्ति के लिए लालायित रहता है, उसी प्रकार देश का भी प्रत्येक सम्प्रदाय अपनी अभिव्यक्ति खोजता है। राष्ट्रपुरुष और राष्ट्रकवि बनना समान रूप से कठिन कार्य है। दोनों के लिए असीम धैर्य और अपरिमित उदारता की आवश्यकता है।' दिनकर की यह व्याख्या क्या गलत है? और यदि सत्य है तो क्या दिनकर ने इस कसौटी पर अपने साहित्यिक जीवन को नहीं कसा? दिनकर अपनी परिभाषा, व्यख्या पर शत-प्रतिशत खरे हैं। एक कवि के स्तर पर उनकी राष्ट्रीय कविताएँ स्वयं उन्हें वह सम्मान देती हैं जिसके वे अधिकारी हैं, उनका गद्य साहित्य उनके दायित्व बोध से पूर्ण है। संस्कृति के चार अध्याय उनके इसी दायित्व बोध का विस्तार है।

कोई भी व्यक्ति अपने परिवेश और काल से बचकर भाग नहीं सकता, प्रभावित हुए बिना रह पाना असम्भव है। व्यक्ति अपने उद्देश्य के उत्तुंग शिखर तक जाना चाहे तो पहले उसे परिवेश और काल के सागर को पार करना ही पड़ता है, हाँ इस सागर में उतरने के पश्चात कभी-कभी उद्देश्य ही बदल जाता है। कितने साहित्यकार हैं जो अपनी अभिलाषाएँ, महत्वकांक्षाओं को परे रखकर ईमानदारी से साहित्य-सृजन में लगते हैं?

दिनकर का विपुल-साहित्य स्वयं उनका निजि न होकर राष्ट्र का साहित्य है, बल्कि सही मायने में राष्ट्र की धरोहर है। बारदोली-विजय (1928) से लेकर रश्मिलोक (1974) तक की साहित्यिक-यात्रा में से यदि चार-छः काव्य-कृतियों को, जो उन्होंने हृदय की संवेदना, अन्तर्मन की

सहज अनुगूँज के अनुरूप रचा था, छोड़ दें, तो हम देखते हैं कि उनका सम्पूर्ण साहित्य-संसार, राष्ट्रीयतावादी, मानवतावादी एवं सांस्कृतिक-सामाजिक दृष्टिकोण से सम्पूरित है। बारदोली-विजय से पूर्व उनकी कविताएँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो रही थीं, जिनका लक्ष्य अर्थाभाव को समाप्त करना नहीं, बल्कि एक सजग नागरिक की हैसियत से गुलाम देश की जनता को स्वतंत्रता के लिए प्रेरित करना था। यह वही समय है जब गांधी जी ने अंग्रेजों के विरूद्ध 'असहयोग आन्दोलन' को पूरे देश में छेंड रखा था, उस आन्दोलन में दिनकर की भी हिस्सेदारी थी। यह वही समय है जब देश का नौजवान, भगत सिंह, आजाद, सुखदेव से प्ररेणा ले रहा था। कांति को रूपायित कर दिनकर साहित्य के माध्यम से सामाजिक-राष्ट्रीय-चेतना का दायित्व यथा-सम्भव निभा रहे थे। देश के लिए भगत सिंह महत्वपूर्ण हैं, तो दिनकर भी महत्व में कम नहीं। भगत सिंह क्रांतिकारी थे, दिनकर क्रांति के प्रेरणा। दिनकर की रचनाओं की तीक्ष्णता को इस बात से मापा जा सकता है कि कभी-कभी उन्हें अपनी कविताओं को अपने नाम से प्रकाशित न करा कर छद्म नाम का सहारा लेना पड़ता था, उनका एक छद्म नाम 'अमिताभ' भी था।

दिनकर का सम्पूर्ण साहित्य उनके अनूठे व्यक्तित्व को रूपायित करता है। उनकी राष्ट्रीय-चेतना का विशिष्ट व्यक्तित्व ही उनके पाठकों, साहित्यिकों और मनीषियों पर इतनी गहराई तक पैठ चुका है कि उनकी संवेदनात्मक, कोमल भावनाओं वाली रचनाओं को पाठक उनसे अलग करके ही उसका आकलन करता है। नील-कुसुम, रसवन्ती, उर्वशी, हारे को हरिनाम उनकी प्रसिद्ध रचनाओं के नाम हैं, लेकिन दिनकर का पाठक उन्हें हुंकार, रेणुका, कुरुक्षेत्र, रश्मिरथी, दिल्ली, बापू जैसी रचनाओं के सन्दर्भ में ही याद रखता है। सामाजिक-सांस्कृतिक-राष्ट्रीय चेतना से अभिभूत उनकी कृतियों की सफलता की पराकाष्ठा का सहज अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि उस राष्ट्र की विशाल जनसंख्या वाली जनता ने उन्हें राष्ट्रकवि के रूप में सम्मानित किया, स्वीकार किया। विशाल जनसंख्या वाली जनता से अभिप्राय मात्र इतना है कि जिसे देख कर राजनीतिज्ञ और मनीषी घबराते हुए न जाने कब से कहते आ रहे हैं कि 'भारत अनेकता में एकता' वाला राष्ट्र है, क्योंकि भिन्न-भिन्न समुदायों, सम्प्रदायों और धर्मों के लोग इस देश में रहते आ रहे हैं और आज तक राष्ट्रीय पैमाने पर एक होने के नाम से ही संवेदनशील हो जाते हैं, सो सारे मिलकर एक व्यक्ति को अपना 'राष्ट्रकवि' कैसे सहर्ष स्वीकार कर लेते हैं, आश्चर्य की बात तो है ही। दिनकर अपने दायित्व-बोध को निभाने में कहीं कोताही नहीं बरतते, इसीलिए वे पूरे राष्ट्र के 'राष्ट्रकवि' हैं। यों तो 'साहित्य' परखने का गढ़ विद्वत-मंडली या फिर विश्वविद्यालयों को माना जाता है जहाँ शोधार्थी विषयवस्तु को ऑपरेट कर निष्कर्ष निकालते है, सकारात्मक निष्कर्षों वाला साहित्य सम्मान पाता है, शोध, समालोचना के माध्यम से जीवन्त बना रहता है और जिस साहित्य का कोई सकारात्मक सामाजिक सरोकार नहीं होता आलोचना का शिकार बनकर गर्त में चला जाता है। समान्यतया किसी भी साहित्यकार के साहित्य का मूल्यांकन, आलोचना-समालोचना के रूप में उसके जीवन-काल में होने लगता है, लेकिन शोध उसके निष्प्राण (दिवगंत) होने के बाद ही होता है, ताकि रचनाकार को अनुमानित टिप्पणियों पर आपत्ति न हो। ऐसा नियम तो नहीं है, सामान्यतया होता ऐसा ही है। दिनकर पर शोध प्रक्रिया उनके जीवन काल में ही प्रारम्भ हो गई, 1965 में गुजरात विश्वविद्यालय से पीएच॰ डी॰ के लिए पहला शोध-प्रबन्ध 'राष्ट्रकवि दिनकर और उनकी काव्यकला' डॉ. शेखर चन्द्र जैन द्वारा प्रस्तुत किया गया था। यह शोध-प्रबन्ध जयपुर पुस्तक सदन, जयपुर से 1973 में प्रकाशित हुआ। इसी शोध-प्रबन्ध के सन्दर्भ में दिनकर ने डा॰ शेखर चन्द्र जैन को 5.1.1973 को, पटना से पत्र लिखा था। यदि इस घटना का मूल्यांकन किया जाए तो यह बात सहजता से समझी जा सकती है कि दिनकर और उनके साहित्य का व्यक्तित्व कितना विराट है। उनकी साहित्यिक सफलता के पीछे जो सबसे महत्वपूर्ण बात है वह यह कि साहित्य की रचना दिनकर ने सोद्देश्य किया, समाज, संस्कृति, राष्ट्रीय-एकता के प्रति अपने दायित्व को पूरा करने का उद्देश्य!

संस्कृति के चार अध्याय, भारत की विशाल जनता, जिसमें अनेकों धर्म-जाति, समुदाय और संस्कृतियों का सम्मिश्रण है, के समक्ष दिनकर का आत्मोत्सर्ग है। स्वतंत्रता के पश्चात राष्ट्रीय पैमाने पर जो अलगाववाद की

राजनीति आई जिनमें भाषायिक, साम्प्रदायिक, क्षेत्रीयतावाद जैसी समस्याओं ने सिर उठाया, उससे विभाजन के दंश का जहर और उससे उठने वाली पीड़ा, इतनी बढ़ गई कि राष्ट्रीय एकता पर खतरा मंडराने लगा। सामासिक संस्कृति वाले देश में समन्वयवादी दृष्टिकोण वाले राष्ट्रीय-राजनीतिज्ञों के सिद्धांत छू-मंतर हो गए। गांधी, नेहरू, विवेकानन्द, दयानन्द, अरविन्द जैसे विचारकों के सारे समाधान और सिद्धांतों के गढ़ ध्वस्त हो गए। ऐसे में दिनकर जैसे प्रबुद्ध विचारक, साहित्यकार के पास एक ही जादुई छड़ी थी, वह थी साहित्य और संस्कृति की छड़ी। दिनकर की समझ में यही आ रहा था कि इतनी बड़ी जनसंख्या वाले देश को अगर अतीत में ले जाकर सूत्रबद्ध कर दिया जाए तो सम्भव है कि अपनी सांस्कृतिक-एकता को वे खण्डित न करना चाहें। उनका यह दृष्टिकोण कत्तई गलत नहीं था। दिनकर संस्कृति के चार अध्याय में लिखते हैं ''मैंने जो इस काम में हाथ डाला, वह इस कारण नहीं कि मैं इतिहास की सेवा करना चाहता था, बल्कि, इसलिए कि स्वतंत्रता के बाद से देश में संस्कृति के नारे बड़े जोर से लगाए जा रहे हैं, किन्तु, जनसाधारण के सामने ऐसी सामग्री का प्राय: अभाव है, जिससे वह यह समझ सके कि भारत की संस्कृति क्या है, कैसे-कैसे वह बढ़ती आई है और आगे वह कौन रूप ले सकती है।'' इसी भूमिका में वे पहले ही कह चुके हैं ''इसके मुख्य पाठक जनसाधारण होंगे, ऐसी मेरी कामना है।'' दिनकर ने इस ग्रंथ का जो संस्करण निकाला था वह जनसाधारण की पहुँच में था लेकिन आज पूँजीवादी व्यवस्था ने संस्करण के जो मूल्य रखे हैं वह जनसाधारण के लिए नही बल्कि **असाधारण** के लिए ही सम्भव है, मजेदार बात यह कि इस असाधारण के पास ऐसे ग्रंथों के लिए समयाभाव है। सरकारी योजनाओं के तहत ऐसे ग्रंथों का मुफ्त वितरण, नहीं तो कोई न्यूनतम मूल्य वाला संस्करण वितरित होना चाहिए, जिससे ग्रंथ और ग्रंथकार का उद्देश्य सफल हो सके।

दिनकर ने प्राक-वैदिक काल से लेकर बीसवीं शती के पूर्वार्द्ध (भारत के स्वतंत्रता तक) के बीच भारतीय परिवेश में आए परिवर्तन को 'संस्कृति के चार अध्याय' में चार बड़ी क्रांतियों के रूप में देखा है। यह वह क्रांतियाँ हैं जिन्होंने भारत में सामासिक संस्कृति का निर्माण किया, जिसके फल-कु-फल और सुफल की विस्तृत विवेचना दिनकर जी ने निष्पक्ष भाव से, मनोयोग से किया है। इस ग्रन्थ में उन सभी घटनाओं पर गहन विचार करते हुए उनकी सम्यक व्याख्या की है, जिन पर इतिहास के क्षेत्र में धुँधलका छाया हुआ है। आर्य और आर्येतर जातियों के आपसी संघर्ष की जो कथा अब तक के इतिहास में मिलती है, उसे उन्होंने नई दृष्टि से देखा हैं, आर्य और द्रविड़ों के युद्ध अथवा संघर्ष की कथा उन्हें हजम नहीं हो पाती है। उन्होंने हिन्दुओं के सनातन धर्म और उससे आर्यों के सम्बन्ध की जो व्याख्या की हैं। इसे जानकर बहुत सारे इतिहासकारों के माथे पर बल पड़ जायेगा।

संस्कृति के चार अध्याय का पहला अध्याय 'भारतीय जनता की रचना और हिन्दू संस्कृति का आविर्भाव शीर्षक से तीन उपभागों में विभाजित है। पहले उपभाग 'भारतीय जनता की रचना' जिसमें भारत में पहले-पहल मनुष्य कहाँ जन्मा होगा, इसकी तलाश है जिसकी वैज्ञानिक दृष्टिकोण के साथ दिनकर ने विवेचना की है। दिनकर का मानना है के भारत-भूमि पर 'आदि-मानव' की उत्पत्ति दक्षिण भारत अथवा शिवालिक पर्वत के पास हुई होगी। नीग्रिटो और औष्ट्रिक लोगों के बारे में उन्हें कोई प्रमाणिक तथ्य नहीं मिलता। भारतीय सनातन धर्म के मूल्य से द्रविड़ों का सम्बन्ध स्पष्ट है, इसीलिए उन्हें लगता है कि द्रविड़ इस देश के मूल निवासी हैं। आर्य बाहर से यहाँ आए, यह तो निश्चित ही है। दूसरे उपभाग 'आर्य-द्रविड़ समस्याएँ' शीर्षक से उन गुत्थियों को सुलझाने का प्रयत्न किया है जिसे साहित्यकारों तक ने बताने में लापरवाही करते हुए पाठकों को गुमराह किया और इतिहासकारों ने तो अपनी जिम्मेदारी यों निभाई है कि हमें इतिहास समझने के लिए पुरातत्व और जीवाश्म विज्ञान का ही सहारा लेना पड़ेगा। इस अध्याय का तीसरा उपभाग 'आर्य और आर्येतर संस्कृतियों का मिलन' है जिसमें वैदिक संस्कृति के साथ आर्य-द्रविड़ संस्कृति के सम्बन्ध और उनके संक्रमण से उत्पन्न वृहत परिवर्तन की सकारात्मक विवेचना की गई है।

इतिहासकारों में आर्यों और द्रविड़ों को लेकर लम्बे समय से विवाद चलता आ रहा है कि आर्य भारत में मध्य एशिया की ओर से आए या आर्य और द्रविड़, नीग्रिटो, औष्ट्रिको की भाँति भारत के मूल निवासी नहीं थे। आर्य-द्रविड़ विवाद की विस्तृत चर्चा करते हुए दिनकर का मानना है कि आर्य भारत के मूल निवासी नहीं थे। उनका कहना है कि 'बहुत

अधिक सम्भावना यह है कि द्रविड़ इस देश के मूल निवासी हैं और जिसे हम भारत का सनातन धर्म कहते हैं उसका मूल द्रविड़ो के गहनतम प्राचीन इतिहास में है। जब आर्य आए उन्होंने यहाँ की संस्कृति में अपने उद्याम आशावाद का पुट डाला। किन्तु, उपनिषदों का काल आते-आते आर्य स्वयं ही इस देश की सनातन परंपरा में डूब गए और उनके प्रवृत्तिमार्गी विचारों पर भारत की सनातन निवृत्तिवादी भावना का पूरा रंग चढ़ गया।'' आर्यों की भाषा संस्कृत का जन्म माना जाता है कि वह मध्य-एशिया से ही भारत आई तथा जिसके विकास में उत्तर और दक्षिण भारत का विशेष योगदान रहा, यह और बात है कि समय बीतने के साथ-साथ दक्षिण भारत के लोगों ने संस्कृत भाषा के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इस मिली-जुली संस्कृति ने अहिंसा और सहिष्णुता जैसे मानवीय मूल्यों का विकास किया जो द्रविड़ों के प्रभाव को दर्शाती है। ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर संस्कृत भाषी आर्य आरम्भ में विन्ध्य के उत्तर तक ही सीमित थे, वे दक्षिण भारत तक आने में बहुत समय लगाए, तमिल साहित्य में उन्हें 'उत्तरवाला' ही कहा जाता है जबकि ऐतिहासिक दृष्टि से जो तथ्य सामने आता है वह द्रविड़ों का दक्षिण-भारत में आर्यों से पूर्व होना सिद्ध करता है। दिनकर मानते हैं कि एक-दूसरे की संस्कृतियाँ आर्य और द्रविड़ों ने धीरे-धीरे अपना लिया और धर्म, भाव-भाषा, संस्कारों में एक जैसे हो गए।

संस्कृति के चार अध्याय में, दिनकर दूसरी बड़ी क्रांति की चर्चा करते हैं। यह क्रांति है 'हिन्दू-धर्म के विघटन की प्रक्रिया। ग्रन्थ का दूसरा अध्याय 'प्राचीन हिन्दुत्व से विद्रोह' है जिसे दिनकर ने सात भागों में विभाजित किया है। बुद्ध से पूर्व हिन्दुत्व के स्वरूप, विघटनकारी घटकों, धर्म में आए ह्रास, जैन और बौद्ध धर्म का उदय, धार्मिक, सामाजिक बदलाव से सम्बन्धित उनके प्रयासों की विवेचना है। बौद्धों के सामाजिक आन्दोलन से लेकर वेद-विरोधी प्रवृत्तियों की, संक्रमण तथा आडम्बर जनित उसके कार्य-कलापों से उसके लोप हो जाने की प्रक्रिया की दिनकर ने निष्पक्ष समीक्षा की है।

हिन्दू धर्म की गतिशीलता जब मंथर पड़ने लगी, आडम्बरों और जड़ता से युक्त हो गया, जनमानस में उसकी संकीर्णताओं के प्रति विद्रोह की भावना ने स्वाभाविक रूप से जन्म लेना प्रारम्भ कर दिया। वेद के निन्दकों में बृहस्पति और चर्वाक जो कि सम्भवत: लोकायत सम्प्रदाय से थे उन्होंने वेदों की कड़ी भर्त्सना की और वेदों को ठगो-प्रपंचियों की रचना कहा। पुरोहितों द्वारा धर्म को निजी हित का साधन बना लिए जाने से जिस संकीर्णता ने जन्म लिया उसने समाज में विद्रोह का स्वरूप ग्रहण कर लिया। वैदिक-धर्म में यज्ञों में होने वाली जीव-हत्याएँ धीरे-धीरे हिंसात्मक रूप ले चुकी थी, हिन्दुत्व के नाम पर होने वाले कर्म-काण्डों और हिंसापूर्ण यज्ञों ने सामाजिक वैमनस्य का वतावरण तैयार कर दिया जिसके प्रतिक्रिया स्वरूप समाज इनसे घृणा करने लगा और पूरे समाज में ब्राह्मणों के प्रति रोष की भावना प्रबल हो गई। हिन्दुत्व की संकीर्णता और दोहरे व्यक्तित्व के प्रति जो विद्रोह उठा उसमें जैन और बौद्ध सम्प्रदाय की महत्वपूर्ण भूमिका रही। 'महावीर और बुद्ध में दो विशेषताएँ थीं। एक तो यह कि वे ब्राह्मणों को ऊँचा पद देने को तैयार नहीं थे। दूसरी यह कि वे मनुष्य मात्र को समान समझते थे।' जैन धर्म ने अहिंसा और तप को प्रतिष्ठित किया। नाभिराम, 14 मनुओं में अंतिम मनु थे जिनके पुत्र ऋषभदेव अहिंसा और अनेकान्तवाद के प्रवर्तक थे। जैन-साहित्य के अनुसार ऋषभदेव ने ही क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जातियों की रचना की थी। ऋषभदेव के 'पुत्र 'भरत' के नाम पर हमारे देश का नाम भारत पड़ा। सामाजिक विकास में जैन सम्प्रदाय का महत्वपूर्ण योगदान रहा। जैनियों की तांत्रिक साधना, हठयोग जैसी समस्याओं ने उसे हिन्दुत्व से अलग नहीं होने दिया, इसी के परिणाम स्वरूप बोद्ध धर्म का विकास तेजी से हुआ। बौद्ध धर्म ने ऐसे वातावरण में क्रांतिकारी ढंग से सफलता पाई, जिसका मूल कारण यह था कि बौद्धों ने 'सम्प्रदाय' से ज्यादा 'सामाजिक विकास' के लिए प्रयास किया। उनके सामाजिक आंदोलन से समाज में सकारात्मक परिणाम निकले। वैदिक धर्म के आध्यात्मवाद, वर्णाश्रम और जाति-पाँति की ब्राह्मणों द्वारा आरोपित संकीर्ण पद्धति को बौद्धों ने लगातार खूब झिंझोड़ा। बौद्धो के ओन्दोलनों का परिणाम यह निकला कि ब्राह्मणों के वे असली शत्रु के रूप में पहचाने जाने लगे। बौद्धों ने अपने आपको ब्राह्मणों के पाखण्ड से अलग रखते हुए कट्टर-हिन्दुत्व से भी अलग हो ही गए। बौद्ध धर्म का भारतीय समाज में प्रसार होने का सबसे बड़ा कारण उसका सामाजिक आन्दोलन था। बुद्ध ने ईश्वरीय सत्ता के विषय में न

कहकर, मोक्ष और मानवता के उपदेश दिए थे। ब्राह्मण अचार्यों के वेद, यज्ञ से निषेध किए गए वे लोग जिन्हें ब्राह्मण हेय समझते थे, वे बुद्ध के उपदेश सुनकर उनकी शरण में आ गए। जब उपनिषदों और स्मृतियों की रचना हुई तो उस समय भी ब्राह्मणों ने शूद्रों और स्त्रियों को यह कहकर दूर रखा कि उपनिषद, स्मृतियाँ भी ब्रह्म ग्रन्थ है, ऐसे में वह बौद्ध धर्म जो चारों वर्णों और स्त्रियों को सम्मान देने वाला था, को प्रसार का अच्छा वातावरण मिला। बौद्ध धर्म का नाश तो तब होना शुरू हुआ जब दिवंगत हुए बुद्ध को उन्हीं के अनुयायियों ने ईश्वर बनाकर पूजना आरम्भ कर दिया। बुद्ध ने अपने उपदेशों में ईश्वर की सत्ता को कोई चुनौती तो नहीं दी थी लेकिन यह जरूर समझाया था कि ईश्वर मन्दिरों, मठों में नहीं बल्कि तुम्हारे भीतर है इसलिए करूणा और मैत्री की भावना का प्रसार करो। मानवतावाद के प्रबल पक्षधर बौद्ध धर्म की स्थिति तब और बिगड़ने लगी जब वे बुद्ध के महापरि- निर्वाण के बाद हिन्दुओं की संकीर्ण दार्शनिकता (ढोंग) को संघ में समाहित कर लिए। मोक्ष के लिए सन्यास ग्रहण करने की जो शर्ते थी उसे महायान और हीनयान ने इतना लचीला बना दिया कि बौद्ध धर्म की श्रेष्ठता, उच्छशृंखलता में परिवर्तित हो गई। गृहस्थों को भी मोक्ष मिल सकता है, भिक्षुक भी किन्हीं परिस्थतियों में समागम कर सकते है, बुद्ध देव हमारे ईश्वर हैं इत्यादि। इस तरह का लचीलापन बौद्ध धर्म के लिए घातक सिद्ध हुआ। यह सच है कि अगर बुद्ध नहीं होते तो इस देश में दादू और कबीर, नानक और हरिदास निरंजन में से कोई नहीं हुआ होता । बौद्धों ने जहाँ सामाजिक आन्दोलनों के माध्यम से देश-विदेश में खूब ख्याति पाई, वहीं भारत में इस्लाम के आक्रमण ने उनके बौद्ध-विहारों, संघो को नष्ट कर दिया, ब्राह्मणों के बोद्ध-विरोधी दुष्प्रचार और उनसे बचने के लिए संकीर्णता से भरे समाधानों ने बौद्ध-धर्म का अपने ही देश में प्राय: अन्त ही कर दिया।

दिनकर भारतीय परिवेश में तीसरी क्रांति के रूप में भारत में इस्लाम के आगमन को मानते हैं। ग्रंथ का तीसरा अध्याय 'हिन्दू संस्कृति और इस्लाम' शीर्षक से कुल 12 भागों में बाँटकर ईमानदार विचारक के रूप में सूक्ष्मता से भारतीय सामासिक संस्कृति की विवेचना की है। इस ग्रंथ के सभी अध्यायों को दिनकर ने काल और महत्व के हिसाब से ही क्रमबद्ध किया है। ग्रंथ का तीसरा अध्याय इसलिए और भी महत्वपूर्ण हो जाता है कि भारतीय परिवेश में हिन्दू-मुस्लिम, दो बड़ी जनसंख्या वाले धर्म जो कि सदियों से साथ-साथ रहते आ रहे हैं राष्ट्रीय-आस्मिता के लिए अब इतने संवेदनशील हो गए हैं कि उन्हें सम्हालना राष्ट्रीय-अस्तित्व का प्रश्न बन गया है। हिन्दु-मुस्लिम धर्म की सामासिक सांस्कृतिक-एकता ही अब एक मात्र समाधान है जिसको सही विवेचना का होना हमारी राष्ट्रीय-एकता के लिए अनिवार्य है। दिनकर का मानना है कि जो हिन्दू-मुस्लिम अलगवाद में कई भ्रांतियाँ कारक के रूप में भी निहित हैं। इस्लाम के प्रति हिन्दुओं में जो घृणा का भाव है और उनके प्रति जो अवधारण हिन्दूधर्म की जनता ने बना रखी है, उसका कारण न तो इस्लाम है और न ही मुसलमान। वह इस तथ्य को समझाने का प्रयास करते हैं कि जो आक्रमणकारी भारत आए, वे न तो इस्लाम के अनुयायी ही थे और न ही वे सब के सब मुसलमान। 'भारत में मुगल-वंश की नींव डालने वाला बाबर अपना सम्बन्ध मंगोल जाति से बतलाता है। ये मंगोल बड़े ही भयंकर वीर थे। इनका सबसे बड़ा नेता चिङ-हिर हान (1155 तक) हुआ, जो इतिहास में चंगेज खाँ के नाम से प्रसिद्ध है। हान या खान मंगोल भाषा में सम्मान-सूचक शब्द था।' 'तैमूर लङ (1369 ई॰) भी माँ की ओर से अपने को चंगेज खाँ का वंशज कहता था और बाबर भी इसी वंश की सन्तान था। कहते हैं, तैमूर के बाद उसके अत्तराधिकारी मार-काट को छोड़कर कला और विद्या की भी साधना करने लगे थे और मध्य-एशिया में एक समय तैमूर-रिनासाँ (सांस्कृतिक जागरण) भी चला था। बाबर इसी सांस्कृतिक जागरण में पला था, इसीलिए मुगल खानदान के लोग, भारत में भी सांस्कृतिक कार्य करने वाले हुए। बाबर माँ की ओर से चंगेज खाँ और बाप की ओर से तैमूर का वंशज था।' इस्लाम के बारे में दिनकर का मानना है कि 'वह धर्म सचमुच स्वच्छ धर्म था और उसके अनुयायी सच्चरित्र, दयालु, उदार और ईमानदार थे।' दिनकर इस बात पर अफसोस जताते हैं कि इतिहासकार हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्धों की सही समीक्षा नहीं करते हैं जिससे सही तस्वीर पर धूल पड़ी रहती है। हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्धों पर इतिहासकार डॉ. ताराचन्द्र की पूर्वाग्रह से ग्रसित पुस्तक Influences of Islam in Indian Culture तथा प्रोफेसर हुमायूँ कबीर की पुस्तक 'ऑवर

हेरिटेज' जो लिखी तो गई थी हिन्दू-मुस्लिम एकता के लक्ष्य से लेकिन सत्य की आड़ में भ्रांति फैलाती है, को दिनकर जी ने आपत्तिजनक माना है। डॉ. तारचन्द्र ने अपनी की गई गलतियों को अपनी दूसरी पुस्तक 'हिस्ट्री ऑव द फ्रीडम मूवमेण्ट' में सुधारा तो सही लेकिन दिनकर का कहना है कि उनकी पहली पुस्तक से जो गलत संदेश लोगों के बीच फैला, जिस पुस्तक को आधार मानकर नए इतिहास लिखे गये और लिखे जा रहे है, उन विडम्बनाओं से देश और समाज को कौन उबारेगा? 'संस्कृत के चार अध्याय' में दिनकर के सूक्ष्म पर्यवेक्षण को आप इस दृष्टिकोण से देखे तो समझ आएगा कि यह ग्रन्थ क्यों पढ़ा जाना और प्रसारित किया जाना महत्वपूर्ण है। ''पठानों के बारे में डॉ. ऑबिद हूसैन ने एक जगह तो यह लिखा है कि ''वे अन्तर्राष्ट्रीय संस्कृति के प्रतिनिधि थे'' और दूसरी जगह वे यह भी लिख गए हैं कि ''पठानों के पास कोई सांस्कृतिक पृष्ठभूमि थी ही नहीं।'' इसी प्रकार तुलसीदास और कबीर, दोनों को रामानन्द का शिष्य बताकर उन्होंने उन्हें समकालीन बना दिया है, जो बिल्कुल गलत बात है। कबीर साहब की मृत्यु सन् 1518 ई॰ में हुई और तुलसीदास जी सन 1532 ई॰ में जन्में थे।'' साहित्य, इतिहास और दर्शन जैसे विषय बुद्धि-विलास या लफ्फाजी करने के नहीं बल्कि बुद्धिजीवियों, विचारकों के गहन चिन्तन के लिए है, नैतिक मूल्य और दायित्व-बोध इनकी मेरूदण्ड हैं जिस पर किसी भी समाज, राष्ट्र का अस्तित्व और भविष्य दृढ़ होता है।

हिन्दू-मुस्लिम एकता की बात पर दिनकर के समक्ष तीन बड़े नाम 'कबीर, अकबर और महात्मा गांधी हैं। गांधी जी के दृष्टि में कोई भी धर्म छोटा नहीं है, उनकी आसक्ति सभी धर्मों पर समान है, किसी जाति के प्रति कोई दुर्भावना नहीं है इसीलिए उन्होंने अछूतों को 'हरिजन' कहकर पुकारा और सभी को समरसता, समानता का उपदेश देते है। अकबर की दृष्टि में कोई भी धर्म सम्पूर्ण नहीं है, इसीलिए सभी धर्मों से अच्छाई चुनकर एक नए धर्म का निर्माण करना चाहिए। 'लेकिन कबीर अपने इन दोनों उत्तराधिकारियों से बिल्कुल भिन्न रहे। उन्होंने यह नहीं कहा कि हिन्दुत्व और इस्लाम दोनों के दोनों अच्छे धर्म हैं, अतएव हिन्दुओं और मुसलमानों को आपस में मिलकर रहना चाहिए। उलटे, इस बात की खुली घोषणा की कि हिन्दुत्व और इस्लाम, दोनो के दोनो अधूरे धर्म हैं। असली धर्म वह है जिस पर रहस्यवादी आरूढ़ होता है। अतएव, उचित है कि हिन्दू और मुसलमान इस सूक्ष्म आत्म-धर्म के धरातल तक उठने की कोशिश करें, जहाँ पहुँचने पर मन्दिर और मस्जिद दोनों बेकार हो जाते हैं।'

हिन्दू-मुस्लिम के संदर्भ में दिनकर जी को कबीर की भूमिका क्यों पसन्द आती है? सबसे बड़ा कारण है कि कबीर को आज भी हिन्दू और मुसलमान प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से अपना मानते है। कबीर न तो ब्राह्मण है और न ही पठान। वे जुलाहे हैं। मजेदार बात यह है कि दोनों ही सम्प्रदायों में जुलाहे होते हैं, कबीर के बारे में कोई प्रामाणिक साक्ष्य उपलब्ध न हो पाने की समस्या इन दोनों को कबीर के निकटस्थ करती है। कबीर ऐसे संत, विचारक है जिनकी विचारधारा आम जनता में गेयता के साथ उसी तरह विलीन हो गई है जैसे रक्त में जल विलेय है। कबीर के सभी शिष्य न तो एक धर्म के थे और न ही उनमें कोई ब्राह्मण था, कबीर की विचारधारा को उनके घुमक्कड़-फक्कड़ शिष्यों ने पूरे देश में ऐसे फैला दिया कि कोई भी शासक आए, युग आए, कबीर वाणी के अमरतत्व को चुनौती नहीं दे सकता। इसीलिए दिनकर का मानना है कि 'हिन्दुत्व पर इस्लाम का यात्किञ्चित प्रभाव कबीर के बाद से पड़ने लगा। लेकिन हिन्दुत्व पर इस्लाम ने जो प्रभाव डाला, उससे अधिक प्रभाव उसने हिन्दुत्व से ग्रहण किया है।'

भारत में इस्लाम का आगमन अब तक के विदेशी आक्रमणकारियों भिन्न रहा। भारत में आर्यों से लेकर शक, हूण जातियों के लोग, मुगलों से बिल्कुल भिन्न थे। सभी विदेशी आक्रमणकारी भारत में आए, लूटे, चले गए, या फिर बसे तो यहीं की संस्कृति में घुल-मिल गए, जिसे यहाँ की हिन्दू-संस्कृति ने आसानी से हजम भी कर लिया। मुगलों से पहले आने वाले विदेशियों ने न तो कभी अपनी सत्ता बनाई और न ही हिन्दुत्व पर कभी हावी होने पाए। यह एक बड़ा कारण है जो कि उन विदेशी लोगों को कभी भी हिन्दुओं ने हिन्दुत्व या अपनी संस्कृति के लिए खतरा नहीं माना। मुगलों के साथ ऐसा नहीं हुआ था। दिनकर जी की विवेचना का सार समझा जाए तो पता चलता है कि मुगल यहाँ व्यापार करने के उद्देश्य से नहीं आए थे और न ही उनका मकसद लूट-पाट करके वापिस चले जाने का था। वे भारत में आए, पूरे छः सौ वर्षों तक के लिए

हिन्दुओं के हाथ से सत्ता छीन ली, उन्हें अपनी रियाया बनाकर रखा, उनकी संस्कृति को हमेशा चुनौती देते रहे। मुगलों ने या तो तलवार के बल पर कभी हिन्दुओं को मुसलमान बना लिया या हिन्दू किन्हीं कारणों से चाहे ब्राह्मणवाद ही कारण रहा हो मुसलमान बन गए। राजनैतिक सत्ता का बल-पूर्वक हस्तांतरण, संस्कृति का संक्रमण निश्चित रूप से हिन्दुओं की मानसिकता पर गहरा आघात पहुँचता रहा है, जिसके कारण भारतीय हिन्दू मुसलमानों के साथ रहकर भी उन्हें अपना नहीं सके। आठ सौ वर्ष तक इस धरती पर रहकर भी मुसलमान, भारत को अपनी जमीन नहीं मान पाए। हिन्दु-मुस्लिम एकता के लिए जब तक इन दानों धर्मों के बीच ताल-मेल नहीं बैठ जाता तब तक हिन्दू-मुस्लिम सामासिक संस्कृति का टकराव यथावत बना रहेगा। फिर भी, यह सच है कि इतनी सदियों के बीत जाने के बाद उनमें व्यवहारिक बदलाव आए हैं। इन दोनों धर्मों ने धीरे-धीरे खान-पान, रहन-सहन, पहनना-ओढ़ना त्योहार यहाँ तक कि पूजा-पाठ, माथा टेकने जैसे न जाने कितने कार्यकलापों को अपना लिया है। दिनकर का मानना है कि हिन्दुओं को अपनी छुआ-छुत की भावना को त्याग देना चाहिए और मुसलमानों को भी चाहिए कि हिन्दुओं की तरह वैचारिक धरातल के साथ-साथ धर्म के मुद्दे पर भी उदार बने, धर्म-प्रेम की तरह ही राष्ट्र-प्रेम को भी महत्व हैं। दिनकर जी कहते हैं कि जिस प्रकार सामाजिक आन्दोलनों के चलते हिन्दुओं में अदारता और बौद्धिकता वाद ने उसकी सामाजिक संकीर्णताओं को जिस प्रकार कमजोर किया है, उसी प्रकार मुस्लिमों को भी कट्टर पंथी दारूल-हरब के खोखले सिद्धांतो की समझ आने लगी है। हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रश्न दिनकर को भी सर्वथा मंथता रहा है। असम और पंजाब से उठने वाली प्रान्तीय समस्याओं ने राष्ट्रीय धरातल पर आकर हमारी एकता और अखण्डता के विच्छिन्न होने का खतरा बढ़ा दिया है। राष्ट्रीय एकता के संदर्भ में **दिनकर का मानना है कि स्वतंत्रता के पश्चात सरकार अपने काम में लगी है लेकिन राष्ट्रीय एकता और हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए चाहिए कि बुद्धिजीवी, कलाकार और साहित्यकार वर्ग, लोगों को एक दूसरे के करीब लाने में, विश्वास दिलाने में और प्रेरणा देने हाथ बटाए। यदि ऐसा हो जाए तो हमारी राष्ट्रीय-सांस्कृतिक-एकता को एक विकासधारा मिल जाएगी।**

दिनकर का मानना है कि 'यदि हिन्दुओं ने मुसलमानों को अछूत नहीं समझा होता, यदि हिन्दुओं ने मुसलमानों के साथ वही समानता बरती होती जिसे वे अपने सवर्ण धर्म-बन्धुओं के साथ बरता करते हैं तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि आज हिन्दू-मुस्लिम- समस्या का रूप कुछ और होता और दानों जातियों के लोग, धर्म के धरातल पर अलग रहते हुए भी, समाज और संस्कृति के धरातल पर एक हो गए होते।'

दिनकर भारतीय संस्कृति के संदर्भ में जिसे चौथी क्रांति मानते हैं वह यूरोप के आगमन के पश्चात सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनैतिक क्षरण से लेकर शैक्षिक क्रांति ईसाई धर्म का भारतीय जनता के साथ संक्रमण, हिन्दू-धर्म में नवोत्थान की क्रांति, ब्रह्म-समाज की सामाजिक भूमिका, गोविन्द रानाडे, आगरकर, तिलक गोखले, जैसे समाज सुधारकों, विचारकों के प्रयास, स्वामी दयानन्द के आर्य समाज की उपलब्धियाँ, ऐनी बेसेन्ट जैसी विदुषी महिला की भारत भक्ति, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, महात्मा गांधी, अरविन्द, राधाकृष्णन, मुस्लिम नवोत्थान में सर सैय्यद अहमद खाँ, मौलाना हाली, मौलाना शिबली नोमानी के सामाजिक कार्यों एवं राजनैतिक कार्यों, सर मुहम्मद इकबाल की राष्ट्रीयता, अंग्रेजों की बरगालने की नीति को, परखते हुए विश्लेषित किया है।

दिनकर की दृष्टि में चौथी बड़ी क्रांति 'भारत में यूरोप का आगमन है। संस्कृति के चार अध्याय के पहले, दूसरे और तीसरे अध्याय में भारत की सामासिक-संस्कृति पर सकारात्मक, नकारात्मक प्रभाव और परिणाम की जो विवेचना उन्होंने की है, उसी सन्दर्भ में यूरोप के आगमन को वह मिलाकर देखते हैं। ग्रंथ के चौथे अध्याय का शीर्षक 'भारतीय संस्कृति और यूरोप' कई उप-शीर्षक में विभाजित कर इसे एक समाजशास्त्री की भूमिका से उन्होंने परखने का यत्न किया है। ई॰ पू॰ चौथी शताब्दी में भारत-यूरोप के बीच बौद्धिक एवं व्यापारिक सम्बन्ध रहे जो सिकन्दर के आक्रमण के पश्चात और भी घनिष्ठ हो गए, लेकिन मुगलसत्ता कायम होने के बाद इनके सम्बन्धों में क्षीणता आई। पूर्तगालियों ने 1510 ई॰ में ही गोआ में अपना किला बना लिया, और ईसाईयत का प्रचार कर रहे थे। पूर्तगाली लालची, अत्याचारी और दुराचारी प्रवृत्ति के थे।

पूर्तगालियों के बाद भारत में डच और फ्रांसीसी भी आए और इनके पीछे-पीछे अंग्रेज भी आ गए। फ्रांसीसी, पूर्तगालियों से कहीं ज्यादा व्यावहारिक थे, वे भारतीय जनता मे बदनाम नहीं हुए। टॉमस स्टीफेन्स पहला अंग्रेज था जो 1579 ई॰ में ईसाईयत का प्रचार करने के उद्देश्य से भारत आकर गोआ में बसा। ईस्ट-इण्डिया कम्पनी की स्थापना 1600 ई॰ हुई। 'अंग्रेजो की राजधानी कलकत्ते में थी। वे राजा नहीं व्यापारी थे और समुद्र के किनारे राजधानी रखने में उनके व्यापार को लाभ था।

'17वीं सदी का भारत मुगलों का भारत था, जो सोने चमचमा रहा था।' भारत में यूरोप के आगमन के पश्चात आर्थिक व्यवस्था और सांस्कृतिक अवस्था दोनों में ही बड़े पैमाने पर उथल-पुथल हुई, जिसका परिणाम यह हुआ कि विघटनकारी शक्तियों ने स्वतंत्रता के पश्चात धार्मिक, सांस्कृतिक और भाषायिक घटकों ने सिर उठाना प्रारम्भ कर दिया। विभाजन के बाद इन घटकों ने साम्प्रदायिकता का वेश धारण कर लिया जो राष्ट्रीय एकता जैसे मुद्दे के समक्ष प्रश्न चिह्न बनकर उपस्थित हुए।

ऐसे महत्वपूर्ण मुद्दे पर साहित्यकार, इतिहासकार समाजशास्त्री सभी पूर्वाग्रहों से ग्रस्त हैं जिसके कारण भारत की आम जनता अंधेरे में सिर मार रही है। स्वतंत्रता के पश्चात राष्ट्र की जिम्मेदारी जिन लोगों पर थी दिनकर को लगता है वे लोग अपने दायित्व-बोध से भटक रहे हैं।

दिनकर 'यूरोप आगमन की समीक्षा करते हुए बताते हैं कि लूटने के साथ-साथ यूरोपियों ने भारत को सकारात्मक मुद्दो पर भी प्रभावित किया। उन्होंने हमें प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष कुछ ऐसे लाभ भी पहुँचाए जिनकी हमारे देश को नितान्त आवश्यकता थी। मकई, केला, आम, टमाटर, आलू, गोभी, इत्यादि। तम्बाकू भी यूरोप से ही आया था जिसके उपयोग के लिए शाहजहाँ ने मना भी किया, लेकिन मानता कौन है! गोआ में पहला छापाखाना यूरोप की देन थी। भारतीयों की यूरोपीय सैन्य-शिक्षा फ्रांसीसियों ने सबसे पहले दी थी। 'ईसाई धर्म प्रचारकों ने भारत की नई भाषाओं की जो सेवा की वह भूलने की चीज नहीं है। आवश्कता तो उनकी अपनी थी कि यहाँ की भाषाओं को सीखकर लोगों को अपनी बात समझाएँ, किन्तु यह कार्य उन्होंने बड़े मनोयोग से किया। प्राय: प्रत्येक भाषा के उन्होंने प्राथमिक व्याकरण लिखे; प्राय: प्रत्येक भाषा के अक्षरों के उन्होंने टाइप ढलवाए और प्राय: प्रत्येक के भाषा के गद्य को उन्होंने आगे बढ़ाया।' अंग्रेज भारत में व्यापार करने के लिए आए थे, लाभ कमाने और धन उगाहने का विस्तृत क्षेत्रफल वाला देश देखकर वे लोभ में अन्धे हो गए। यहाँ से कच्चा माल लेकर वे उन्हें अपयोगी वस्तुओं में तब्दील कर बहुत महंगे दामों पर यहीं के लोगों को बेचते और बड़ा मुनाफा कमाते। स्वतंत्रता के पश्चात भी व्यापार का कारोबार बन्द नहीं हुआ है।

दिनकर का मानना है कि 1947 में देश का विभाजन करते समय अंग्रेजों ने सत्ता और अधिकार उनके हाथों में सौंपा जो अंग्रेजी जानते थे। सत्ता में बैठे लोग अगर यह नहीं समझे कि भारत अंग्रेज और अंग्रेजियत से परे एक बहुभाषी जनता का राष्ट्र है जिनके बीच अंग्रेजी नहीं अपनी भाषाओं को पाने की चाह है, और अंग्रेजी न सीख पाने से वे सत्ता और अधिकार तथा अच्छे पदों से वंचित हो रहे हैं तो यही उपेक्षा, वंचना जनता को अंग्रेजी दा लोगों के विरूद्ध खड़ा कर देगी। **'स्वेच्छया उन्होंने जनता के साथ न्याय नहीं किया तो एक दिन वह भी आने वाला है जब जनता अंग्रेजी और अंग्रेजियत में फँसे साहबों की गद्दी छीन लेगी।'** भारत की प्राचीन सभ्यता और संस्कृति का हवाला देते हुए दिनकर ने स्पष्ट किया है कि दबाव में आकर भारत को अमेरिका या यूरोप बनाने का प्रयास नहीं होना चाहिए। भारतीय जनता ने जो स्वाधीनता के लिए राममोहन, विवेकानन्द, दयानन्द, तिलक, रविन्द्र और गाँधी का साथ दिया था, उसके पीछे कारण यही था कि जनता उनमें विश्वास करती है। आज के शासकों को भी ऐतिहासिक और वर्तमान सन्दर्भों का पूरा-पूरा ध्यान होना चाहिए और उसी सन्दर्भ में ही कार्यान्वयन की प्रक्रिया और संचालन भी। दिनकर में उनके प्रति असन्तोष की भावना है।

'संस्कृति के चार अध्याय' राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता हेतु दिनकर के दायित्व-बोध का प्रतिनिधित्व करती कालजयी रचना है, जिसकी प्रासंगिकता भारत जैसे राष्ट्र में कभी भी अप्रासांगिक नहीं होगी।

कविता नन्दन 'अमित'
131, पेरियार छात्रावास, जे॰एन॰यू॰,
नई दिल्ली - 110067
सम्पर्क : 9868805273

संस्कृति के चार अध्याय

मनीषियों के विचार

स्वर्गीय आचार्य शिवपूजन सहाय, पटना

'संस्कृति के चार अध्याय' का प्रत्येक अध्याय स्वाध्यायशील लेखक के गहन चिन्तन-मनन का प्रत्यक्ष प्रमाण है। यह जैसा ज्ञानवर्द्धक है, वैसा ही रोचक भी। इतिहास और उपन्यास की तरह आकर्षक और मनोरंजक प्रतीत होता है। हिन्दी में ऐसा ग्रंथ अब तक मैंने नहीं पढ़ा था। हिन्दी संसार में यह बिहार का गौरव बढ़ाने वाला सिद्ध होगा।

पंडित सुमित्रानन्दन पंत, इलाहाबाद

आपने इस युग में फिर से सागर-मंथन करके रख दिया, जिसकी बड़ी आवश्यकता थी। मैं तो कहूँगा कि इसे पढ़े बिना हिन्दी के सामान्य पाठकों का अध्ययन ही अधूरा रह जायेगा। आपने भारतीय मानव का युग-युग-व्यापी विस्तार, उसकी गहराई, ऊँचाई और उसका उद्वेलन एवं उत्थान-पतन, इन पृष्ठों में बाँधकर हिन्दी जगत के अतिरिक्त समस्त देश की इस बहुभाषी देश की बड़ी सेवा की है।

पंडित इलाचन्द्र जोशी, इन्दौर

ग्रन्थ की प्रशंसा के लिए मैं उपयुक्त विशेषण नहीं खोज पा रहा हूँ। इस विषय पर बड़े-बड़े विद्वानों की बड़ी-बड़ी पुस्तकें मैंने पढ़ी पर जैसी प्रांजल शैली, जो उदात्त आदर्श और जैसा विराट विजन 'संस्कृति के चार अध्याय' में प्रस्फुटित हुआ है, वैसा कहीं अन्यत्र देखने को नहीं मिला। आदि से अन्त तक संपूर्ण ग्रन्थ गहन-गंभीर और खोजपूर्ण तथ्यों से भरा होने पर भी सरसता और रोचकता में कहीं तनिक भी कमी नहीं आने पायी है। यह कला कितनी असाधारण है, अनुभवी ही बता सकते हैं।

श्री मोटूरी सत्यनारायण, मद्रास

इस ग्रन्थ का नाम वास्तव में 'संस्कृति-सरिता-सागर' होना चाहिए था। इस सारे ग्रन्थ में समग्र दृष्टि से आपने जो विचार-मंथन किया है, उसका फल अद्वितीय निकला। संस्कृति से संबंधित कई पुस्तकों को पढ़ने का मुझे अवसर मिला। उन्हें एकांगी तथा सर्वांगीण दृष्टि से भी मैंने अध्ययन करने का प्रयत्न किया था लेकिन भारतीय संस्कृति को मानवता के विकास की दृष्टि से समझने और इस ग्रन्थ में प्रस्तुत करने का जो प्रयत्न आपने किया है, वह भारतीय साहित्य में पहला ही प्रयत्न कहा जा सकता है।

डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, काशी

कई दिनों से सोच रहा था कि आपके द्वारा उपस्थापित, दीर्घकालीन भारतीय संस्कृति की धारावाहिक परंपरा के इस सुन्दर चित्रण को किस शब्द के द्वारा प्रकट करूँ। मैं ठीक शब्द नहीं पा सका हूँ, पर इसे मैं भारतीय संस्कृति की मोहिनी मूर्ति कहने की ओर ही प्रलुब्ध हूँ। आपकी यह पुस्तक इतिहास की तथ्य-परीक्षा मात्र नहीं है। मेरी दृष्टि में यह एक प्राणवती मानवीय प्रयत्न धारा की मोहिनी मूर्ति है। मोहिनी अर्थात् मुग्ध कर देने वाली। अनेक दुर्दिनों, विपत्तियों, संपत्तियों के भीतर से भारतीय संस्कृति ने जो विचित्र, वैभवमयी मूर्ति धारण की है, वह आपकी पुस्तक से प्रत्यक्ष हो उठती है।

डॉ. रामप्रसाद त्रिपाठी, भू. पू. वाइस चान्सलर, सागर विश्वविद्यालय

Such a useful and able contribution is not available in a readable and convenient form even in English. Of course, it is the first attempt in any Indian language to narrate the long and varied story of our culture in an effective and interesing style in one volume.

डॉ. के. के. दत्त, प्राध्यापक इतिहास, पटना विश्वविद्यालय

You have rendered immense service to us by unfolding a picture of Indian culture and social life on the basis of various sources. Your references from literature are highly inspiring, because the true history of a country can not be understood property without a study of its literature. Literature is, indeed, the most ruthless mirror of a nation's life. I consider your volume to be a creative work of great value and extend to you my heartiest congratulations for this excellent performance.

पंडित नरेन्द्र शर्मा, दिल्ली

जाग्रत भारत की भैरवी, यह पुस्तक 'संस्कृति के चार अध्याय' 'सूर्यादय वेला' की प्रथम किरण के समान ही अभिनन्दनीय है। पाठक के प्रति अन्त में यही कहना शेष है कि भारत का सच्चा नागरिक बनना चाहता है तो उसके लिए यह अनिवार्य है कि वह भारतीय संस्कृति का दिग्दर्शन कराने वाले इस ग्रन्थ का अवश्य अध्ययन करे।

स्वर्गीय पंडित वेंकटेशनारायण तिवारी, दिल्ली

ऐसे ग्रन्थ की हिन्दी में नितान्त आवश्यकता थी और मुझे पूर्ण विश्वास है कि जो पाठक इसे आदि से अन्त तक पढ़ेंगे, उन्हें भारत की सामासिक संस्कृति के वास्तविक रूप का सच्चा बोध हो जायेगा। मेरी यह कामना है कि इस पुस्तक का घर-घर में प्रचार हो। इतना ही नही, मेरी यह भी कामना है कि इस अनमोल ग्रन्थ का भारत की अन्य तेरह क्षेत्रीय भाषाओं में अनुवाद होकर देश भर में इसका प्रचार किया जाय। भारतीय एकता की शृंखला को मजबूत बनाने में यह ग्रन्थ उपयोगी सिद्ध होगा। आपने इस ग्रन्थ को लिखकर जो काम किया है, उसकी जितनी भी प्रशंसा की जाय, थोड़ी होगी। चिर काल तक हम सब आपके इसके लिए ऋणी रहेंगे।

श्री भगवान सहाय, आई. सी. एस. (नेपाल में भारत के राजदूत)

भारतीय संस्कृति के विषय में सैकड़ों प्रश्न मेरे मस्तिष्क में जमा होते रहे हैं। हर प्रश्न का उत्तर भी मैं सही या गलत मानता रहा हूँ। परन्तु भारत के ज्ञान के लिए उनका भिन-भिन क्या महत्व है, इससे मैं अनभिज्ञ था। इस पुस्तक ने उन प्रश्नों को एक बड़े साँचें में बिठला दिया और इससे मानने योग्य एक तस्वीर निकल आयी। हिन्दी में तो क्या विश्व के समस्त साहित्य में यह पुस्तक बहुमूल्य समझी जायेगी।

स्वर्गीय श्री बालगंगाधर खेर, बम्बई

श्री जवाहर लाल नेहरू ने इसकी प्रस्तावना लिखी है, जो पुस्तक की शोभा वैसे ही बढ़ाती है, जैसे रत्न कांचन की। सत्य-स्वरूप दिनकर-किरणों की प्रभा से भारतीय संस्कृति उज्ज्वलतर हो और उसका प्रकाश मानव समाज का मार्गदर्शन करे, यह मेरी हार्दिक प्रार्थना है।

श्री बालकृष्ण राव, इलाहाबाद

आपने बहुत ही ठोस और सुन्दर चीज दी है। इसके लिए आप हमारे साधुवाद के अधिकारी तो हैं ही, आने वाली पीढ़ी को भी आभार-अवनत होना पड़ेगा।

श्री रंगनाथ दिवाकर, राज्यपाल, बिहार

आपका प्रयत्न बहुत बड़ा है और शायद हिन्दी में सबसे बड़ा है।

डॉ. बालकृष्णकेसकर, मंत्री, भारत-सरकार, नई दिल्ली

यह दिनकर जी ने एक बिल्कुल नये और अनोखे ढंग की पुस्तक हिन्दी में लिखी है। दिनकर जी का प्रयत्न अत्यन्त सराहनीय है और जिस परिश्रम से उन्होंने इस काम को किया है, वह हिन्दी साहित्य में एक नया अध्याय शुरू करता है।

नई धारा, पटना

इस पुस्तक को हम अपने देश के किसी कोने के किसी भी देश भाई के हाथ में अर्पित कर अपने लिए, अपनी भाषा के लिए गर्व अनुभव कर सकते हैं। एक अच्छा कवि, अच्छा गद्य लेखक भी हो, यह विरल है। किन्तु वह इस क्षेत्र में कुछ ऐसा कमाल कर दे कि इस क्षेत्र के धुरंधर आचार्यों को भी कुछ सोचने-समझने को बाध्य होना पड़े, यह सबसे बड़ी बात है।

हिन्दी के ऊपर एक जिम्मेवारी आ गई है, उसे भारत की सांस्कृतिक एकता की भाषा बनना है। अतः दिनकर ने हिन्दी में इस पुस्तक को लिखकर उसकी जिम्मेवारी निभायी है। हम कह सकते हैं कि राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी ने यह प्रथम पुस्तक देश को अर्पित की है, जिसमें देश अपने संपूण रूप की झलक पा सकता है।

धर्मयुग, बम्बई

श्री दिनकर ने इस ग्रन्थ की रचना कर देश और दुनिया की मूल्यवान सेवा की है। यह पुस्तक उनके कृतित्व का एक ज्योतिर्मान स्तम्भ बनकर सदा जीवित रहेगी। इसे लिखकर उन्होंने अपनी आत्मा को अपने देश की युगान्तर-गामिनी जनता की प्रगतिशील आत्मा के साथ तदाकार किया है। दिनकर की कीर्ति शायद उनके काव्य से भी अधिक उनके इस ग्रन्थ में अमर होकर रहेगी।

राष्ट्रवाणी, पटना

लोग अक्सर राष्ट्रभाषा हिन्दी की श्रीहीनता पर ऊँगली उठाते हैं। मानो, उसी चुनौती को कबूलकर हिन्दी ने अपनी ओर से भारतीय साहित्य को यह देन दी है। यह भारतीय वाङ्मय का गौरव-ग्रन्थ माना जायेगा। अंग्रेजी भाषा और साहित्य पर आसक्त भारतीयों को, विशेषकर शासन के कर्णधारों को, मंत्रिगण तथा आई॰ सी॰ एस॰ और आई॰ ए॰ एस॰ अधिकारी वर्ग को, जिनके हाथों में देश-रचना का सूत्र है, अपने बुक सेल्फ में इस पुस्तक को आदर की जगह देनी चाहिए और वे देखेंगे कि यह उसकी शोभा बढ़ाती है और उनका उचित दिशा निर्देश करती है।

हिन्दी में यह पुस्तक पहले आयी, यह उचित ही था। लेकिन, समय की आवश्यकता तो अब पूरी होगी, जब इसका अनुवाद अंग्रेजी समेत देश की अन्य तेरह भाषाओं में अविलंब हो जाये।

लीडर, प्रयाग

To say that Shri Ramdhari Singh Dinkar's SANSKRITI KE CHAR ADHYAY is a compendium of interesting as well as valuable information respecting the rise and development of Indian culture would amount to telling the truth, but it will not amount to the whole truth. The book is much more than a mere compendium. Dinkar has rendered a valuable national service by producing his book at such a time as the present and the fact that the book is in Hindi, is perhaps, not merely an addition to the treasure-house of Hindi alone, but a happy sign of the increasing awareness of the Hindi writer of his responsibility to the entire nation.

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि संस्कृति के चार अध्याय भारतीय मनोभूमि का भूगोल है, जिसे जाने बिना हम भारत की आत्मा का दर्शन नहीं पा सकते। भारत की आत्मा को समझने के लिए इस पुस्तक का आदि से अन्त तक पाठ कर जाना अत्यन्त आवश्यक है। वर्तमान समय में हमें इस ग्रन्थ के अध्ययन की आवश्यकता इसलिए भी प्रतीत होती है कि सदियों से गुलाम रहने के बाद देश, हाल में ही स्वाधीन हुआ है। हम अपनी खोई सम्पत्ति और परम्परा को पुनः प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। इसके लिए हमें अपने अतीत को जानना, उसे पहचानना आवश्यक है। तभी हमारी परम्परा सुदृढ़ भित्ति पर कायम हो सकती है, जिसका आधार होगा भारतीय संस्कृति का वह मूल रूप जिसका सदा हमें गर्व रहा है और जो अनेक आपदाओं को झेलती हुई आज भी उसी प्रकार बनी हुई है।

प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना कर दिनकर जी ने हिन्दी भाषा का ही नहीं, अपितु भारतीय समाज का बहुत बड़ा उपकार किया है। इस ग्रन्थ के पढ़ने से केवल नये ज्ञान का संचय ही नहीं होता बल्कि उससे मन में एक हलचल पैदा होती है और जिज्ञासा की प्रवृत्ति जाग्रत होती है। भारतीय संस्कृति पर अपने ढंग का यह पहला ग्रन्थ है। हिन्दी या अंग्रेजी किसी भी भाषा में अभी तक इस तरह का ग्रन्थ प्रस्तुत नहीं हो सका है, जहाँ इतनी सारी सामग्री, आलोचनात्मक ढंक से एक स्थान पर संग्रहित हो। साधारण पाठक, जो खोजपूर्ण ग्रन्थों के जंजाल में पड़ना नहीं चाहते, जो खोज-ग्रन्थों की नीरस भाषा से घबराते हों, उनके लिए यह ग्रन्थ नितान्त उपादेय है।

आजकल, दिल्ली

इस पुस्तक को भारतीय संस्कृति का एक विश्वकोष कहना अत्युक्ति न होगा। पुस्तक के प्रतिपाद्य विषय से कोई सहमत हो या न हो, इस पुस्तक में जो सामग्री भारत की संस्कृति और इतिहास के सम्बन्ध में एकत्र करके रख दी गयी है, वह इतनी विशद और विचित्र है तथा सैकड़ों पुस्तकों से बूँद-बूँद करके चुआई हुई है कि संस्कृति या इतिहास का कोई भी गंभीर विद्यार्थी इसकी अवज्ञा नहीं कर सकता। मुझे तो पता नहीं कि किसी भारतीय भाषा में इतनी ठोस सामग्री कहीं एकत्र भी है।

योगी, पटना

आलोच्य ग्रन्थ, अपनी व्याख्या में, हिन्दी के लिए सर्वथा प्रथम कहा जाएगा। ग्रन्थकार ने बड़े अध्यवसाय, धैर्य और उदारता के साथ संस्कृति पर अपना ऐतिहासिक तथा साहित्यिक अध्ययन उपस्थित किया है। 'संस्कृति के चार अध्याय' न केवल हिन्दी साहित्य बल्कि कुछ हद तक भारतीय साहित्य में भी विशिष्ट अवतरण के रूप में मान्यता प्राप्त करने वाला स्पृहणीय ग्रन्थ है।

साप्ताहिक हिन्दुस्तान, नई दिल्ली

इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय संस्कृति के इस इतिहास को लिखने में दिनकर जी ने बहुत परिश्रम किया है। इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ के लिए दिनकर जी सचमुच गर्व अनुभव करने के अधिकारी हैं।

संस्कृति का विषय बहुत जटिल है। स्वराज्य के बाद भारतीय संस्कृति के स्वरूप और विकास का परिज्ञान बहुत महत्व की बात हो गयी है।

दिनकर जी ने यह पुस्तक इस उद्देश्य से लिखी है कि भारत के सर्वसाधारण लोगों को भारतीय संस्कृति के स्वरूप व विकास के सम्बन्ध में आवश्यक जानकारी प्राप्त हो जाय। इसके अनेक प्रकरणों में साहित्यिक निबन्धों का रस विद्यमान है और पाठक उन्हें अवश्य रुचिपूर्वक पढ़ेंगे।

Indian Nation, Patna

Dinkar writes concrete and virile prose, shorn a verbiage and nonsense and his prose works are taught in the highest classes of the Universities.

In nearly seven hundred pages, the author goes back almost to creation itself and comes to the present day, travelling though the winding paths of history of floating on the waves of the subtlest philosophical thoughts of relishing the literacy flavour of centuries through which Indian culture has maintained continuous streams. There are many new things which people, not familiar with the subject, can learn from this educative volume.

The book is a contribution not only to Hindi language, but to Indian literature as such.

स्मृतियों में...

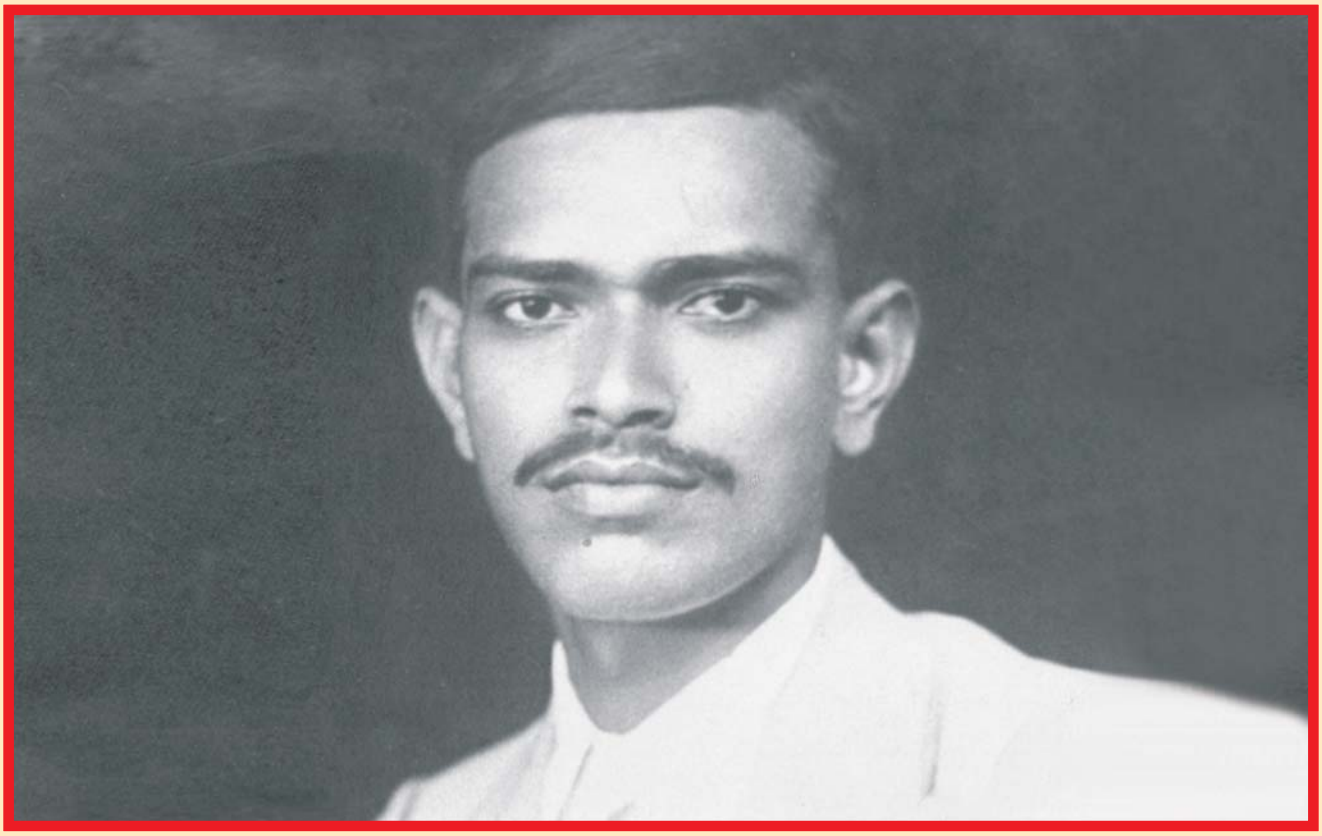

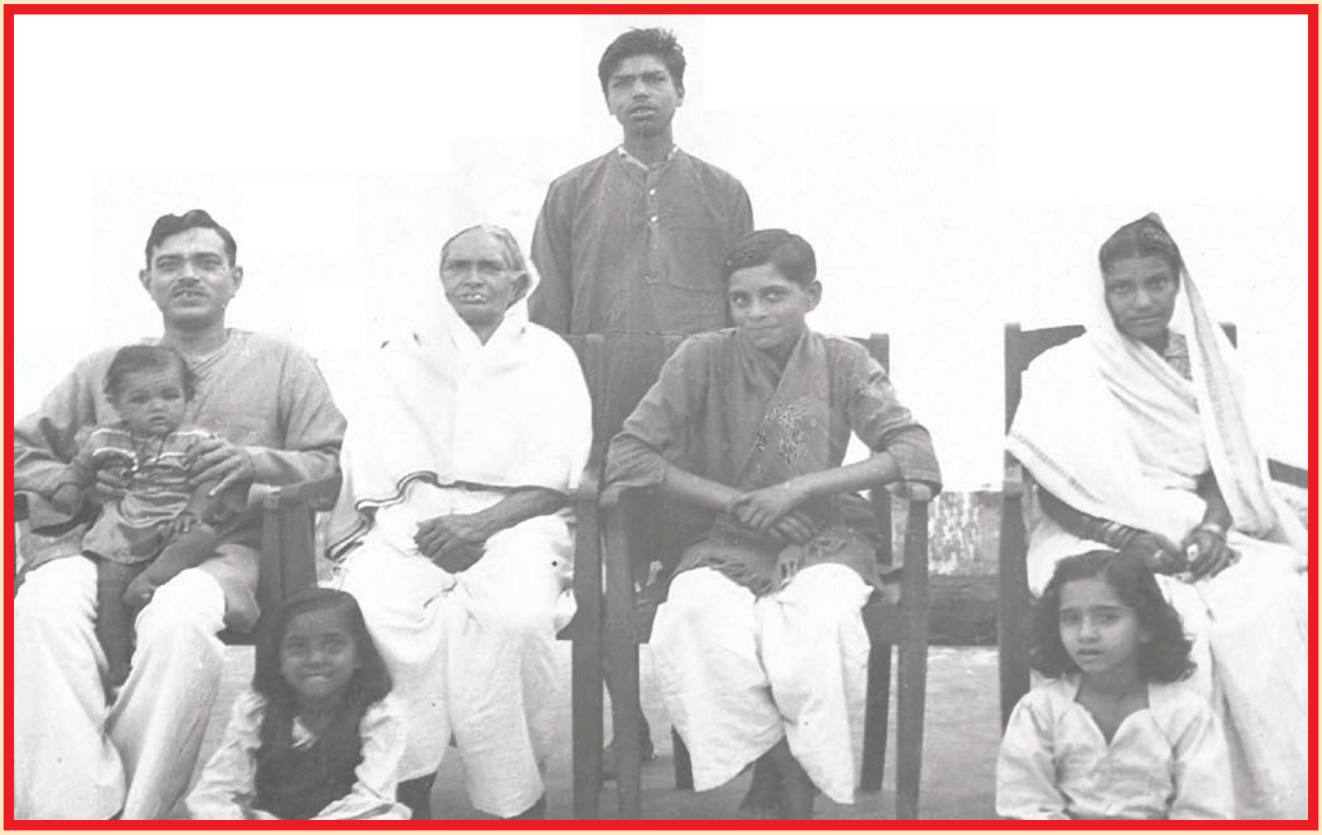

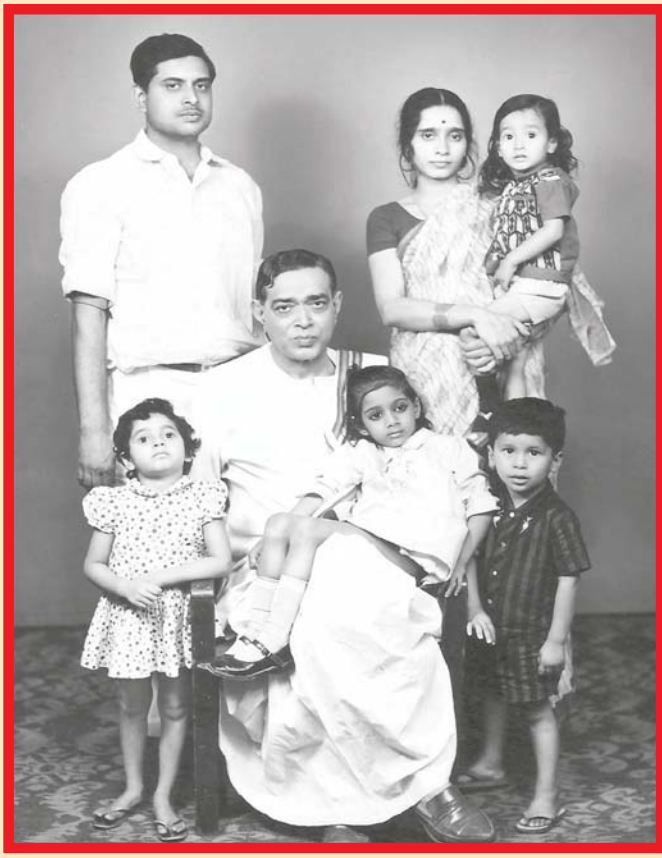

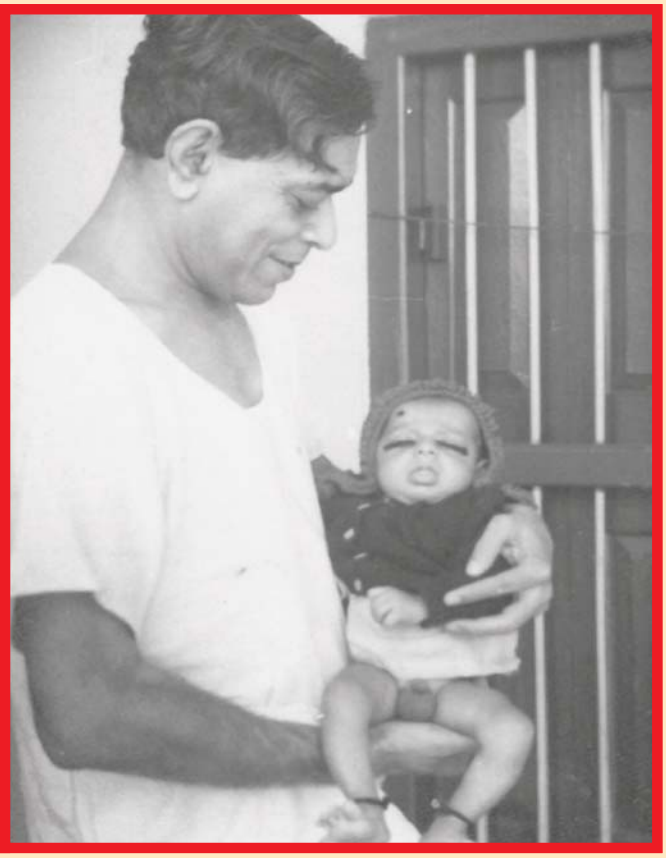

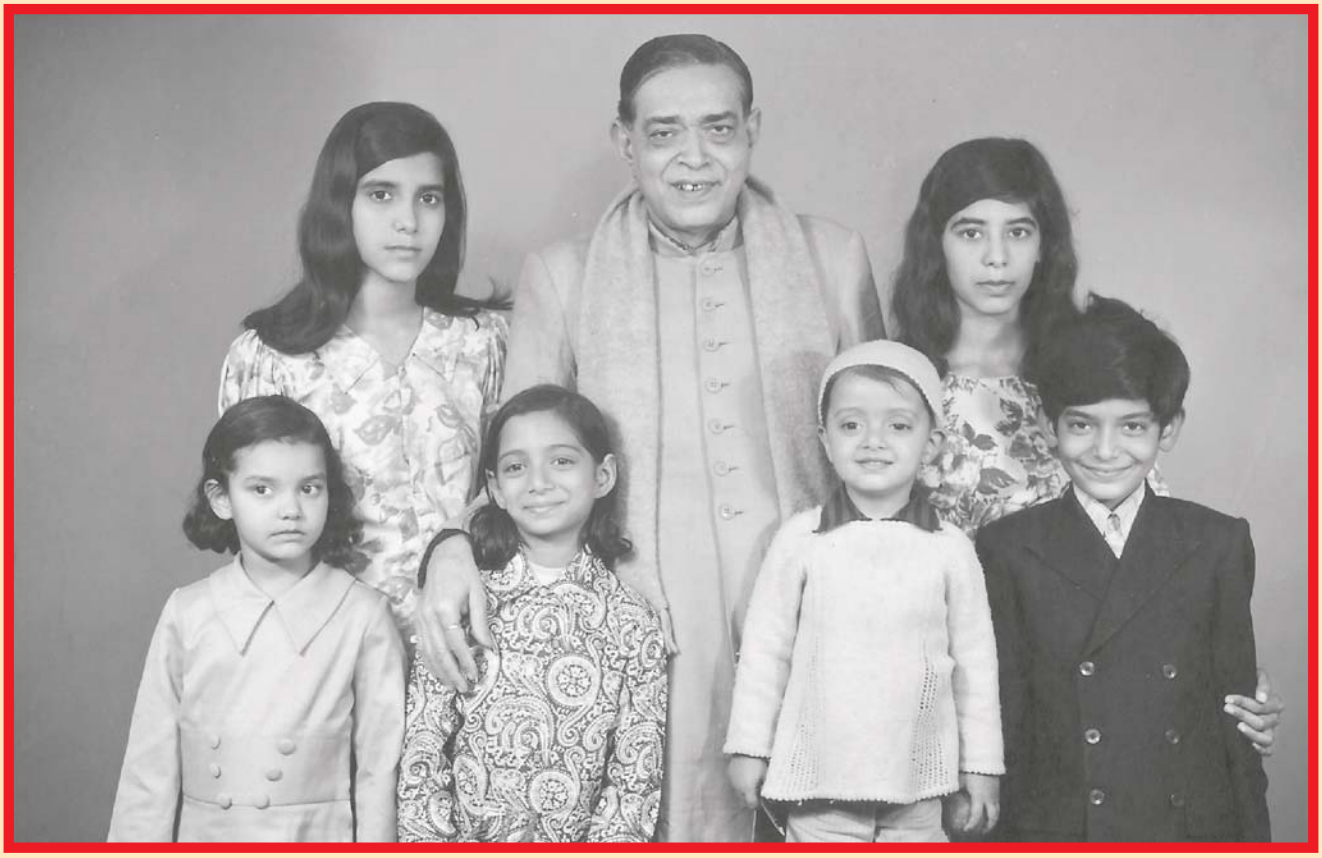

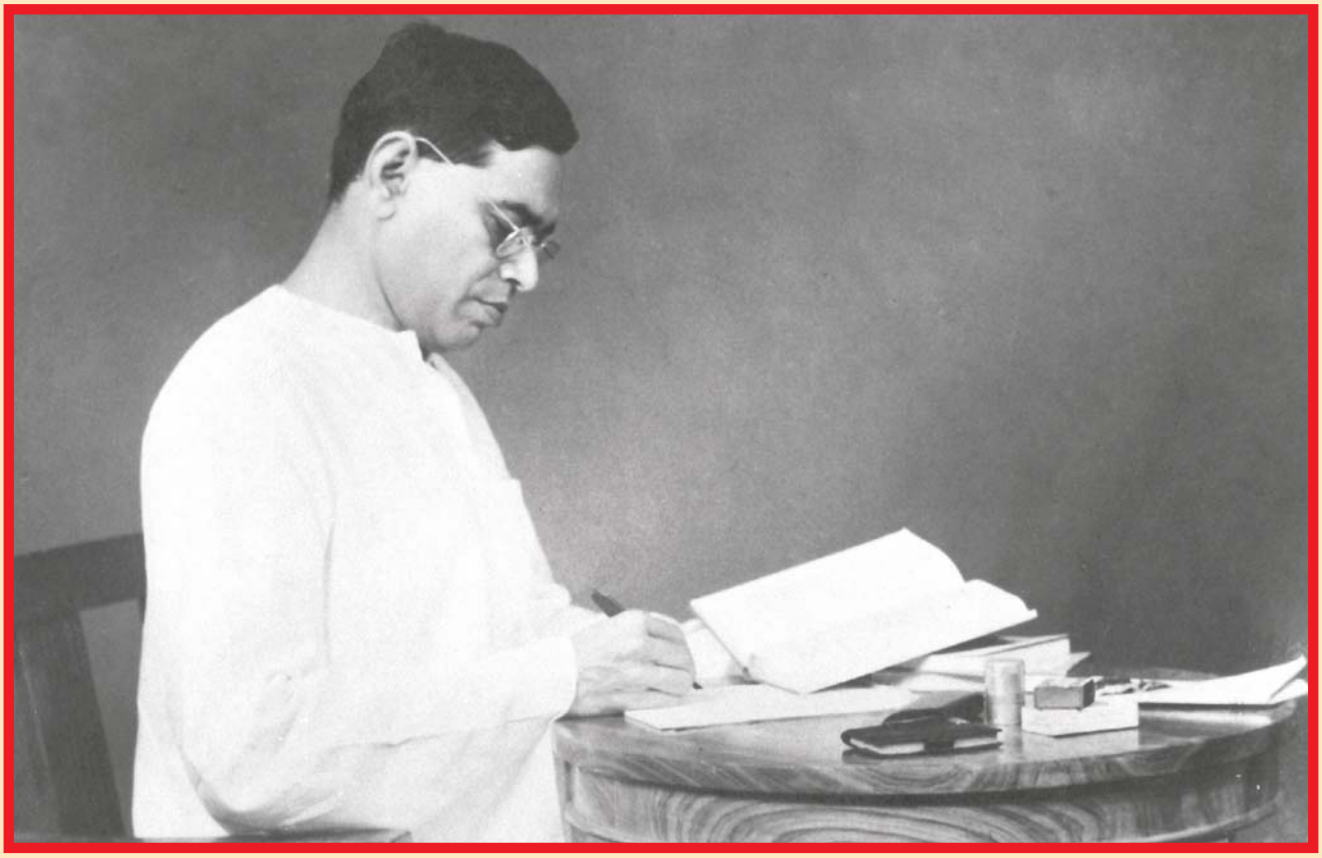

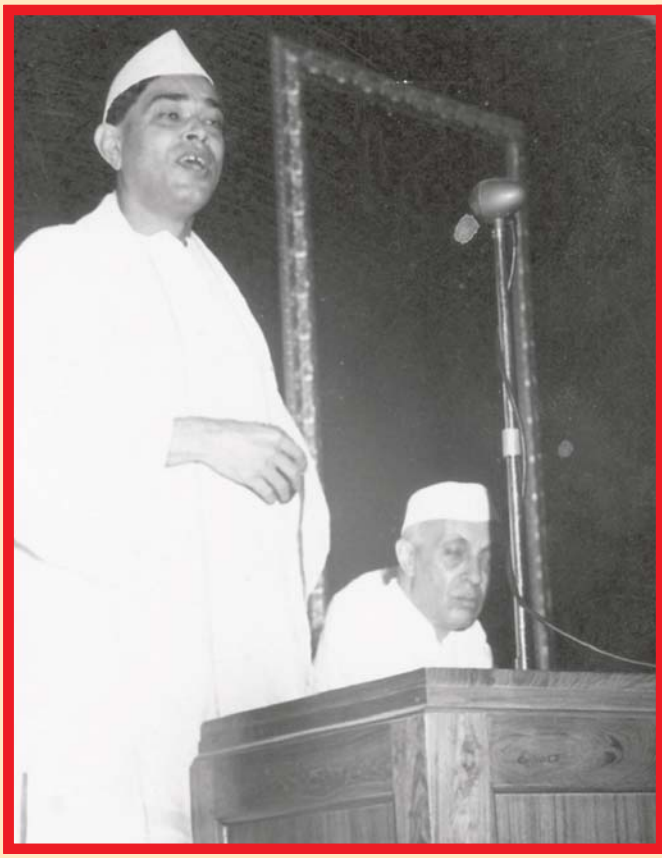

INDIA RADIO STATION

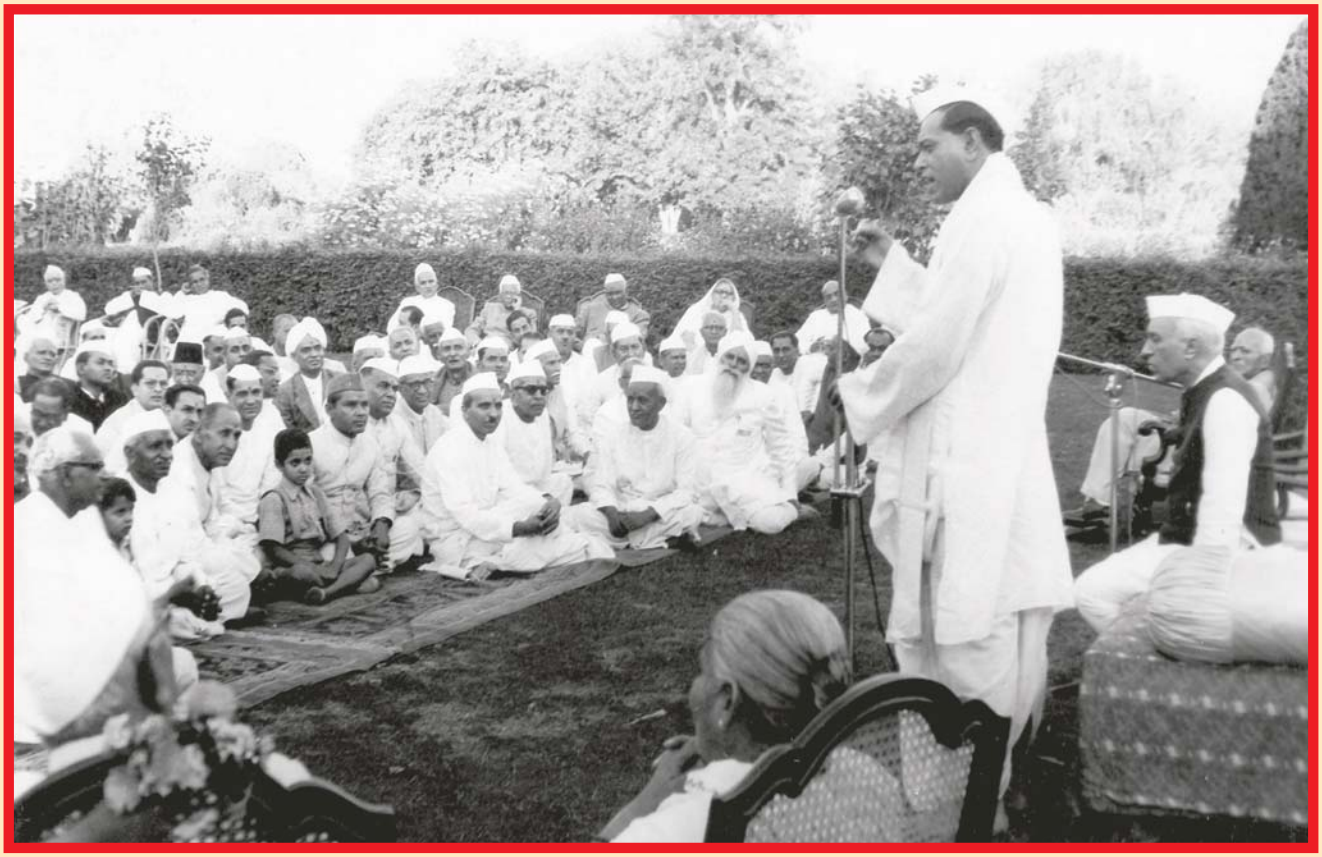

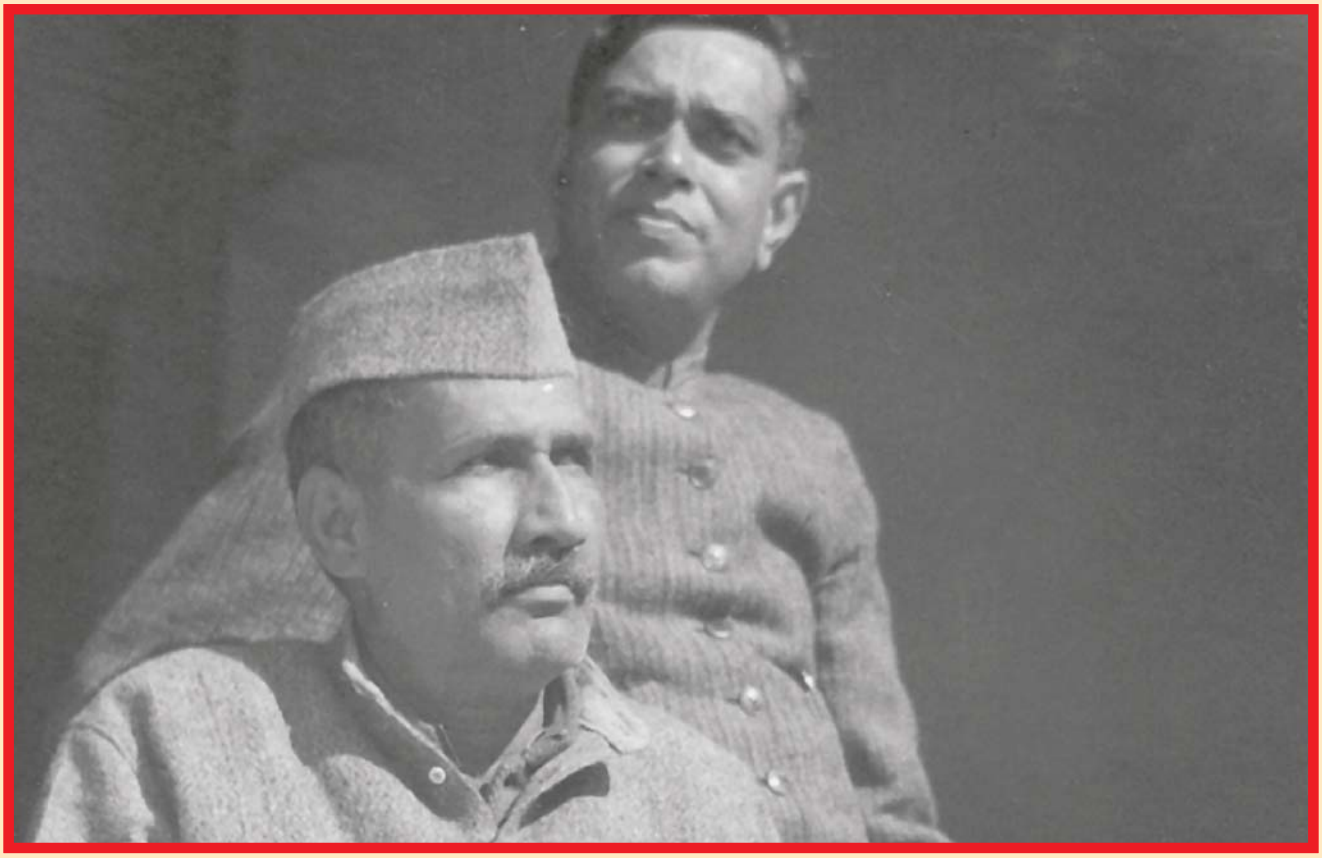

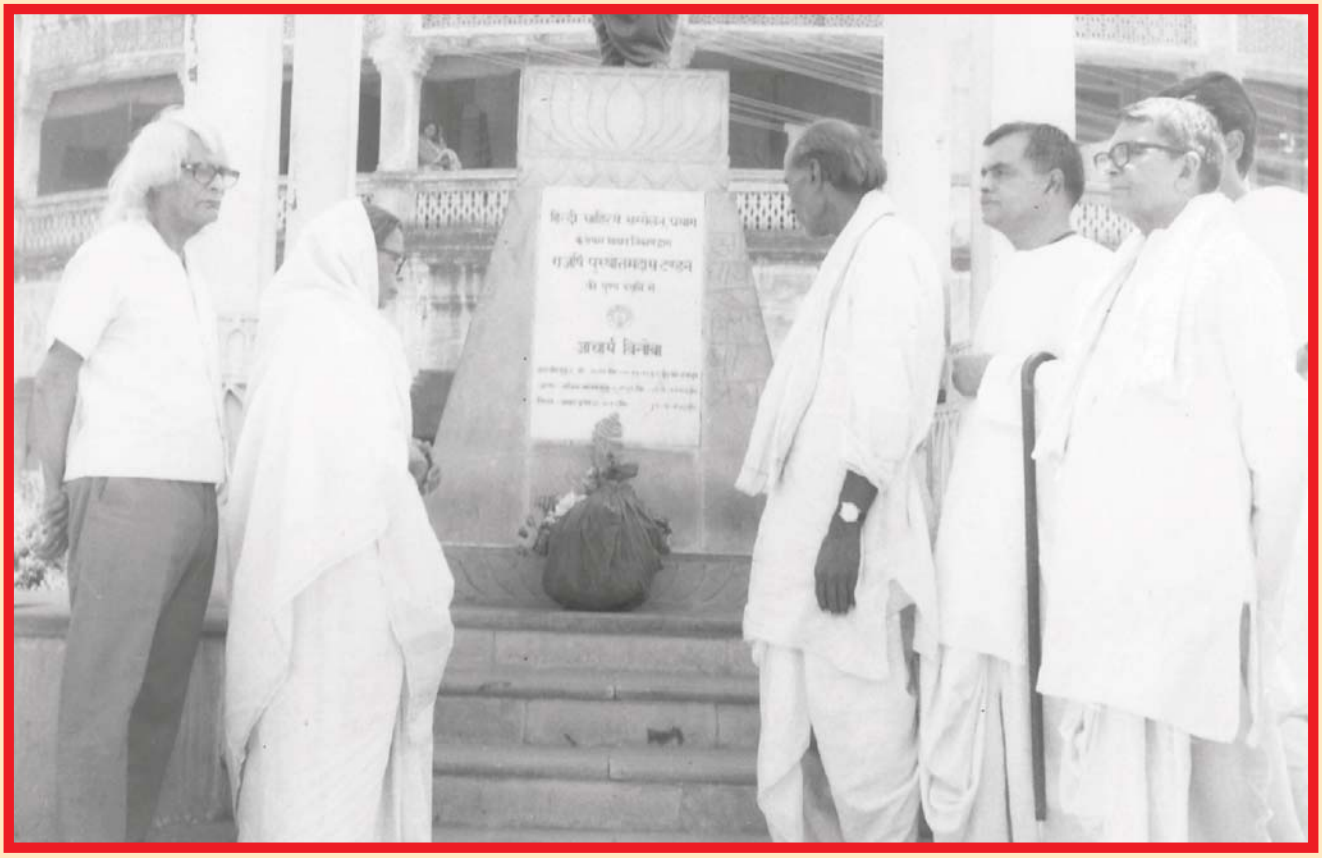

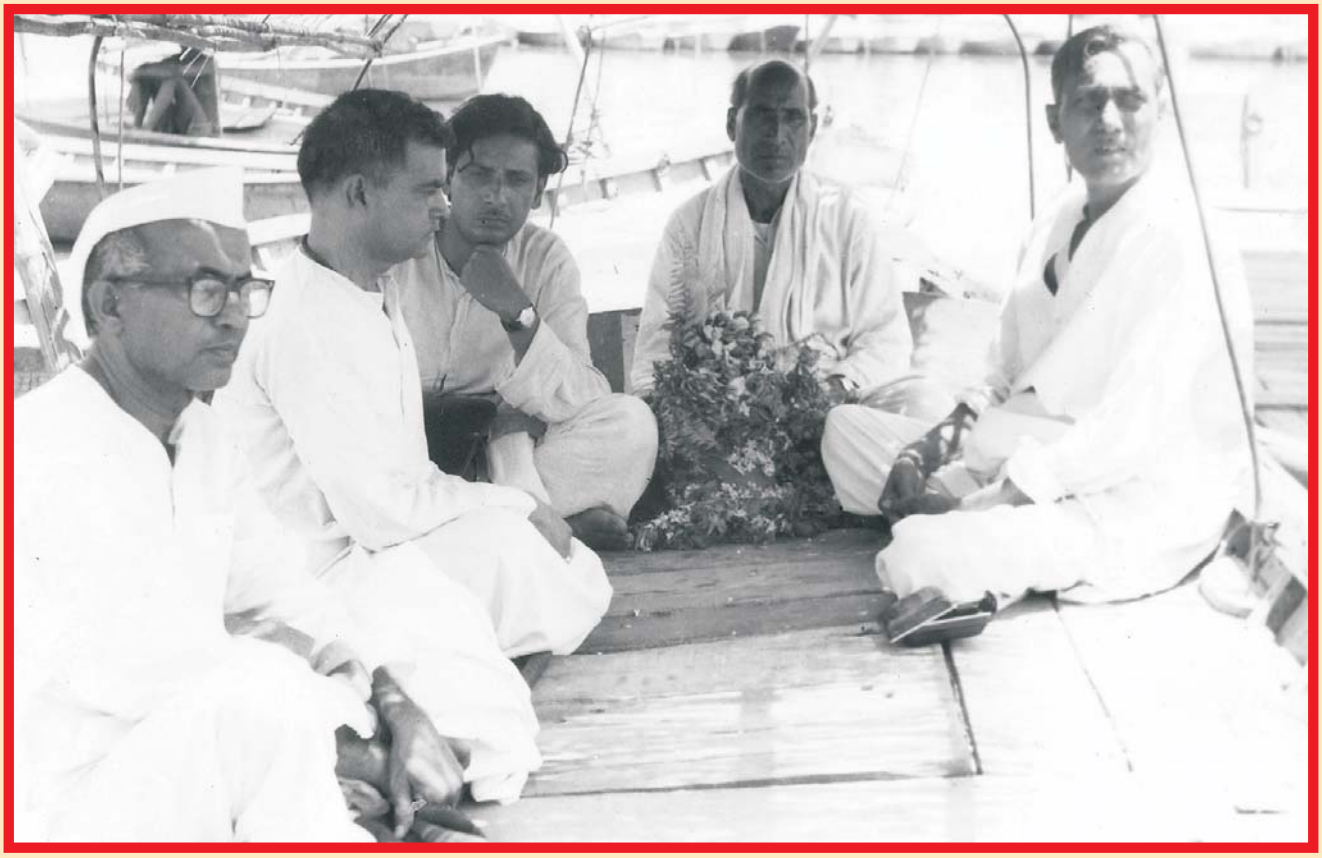

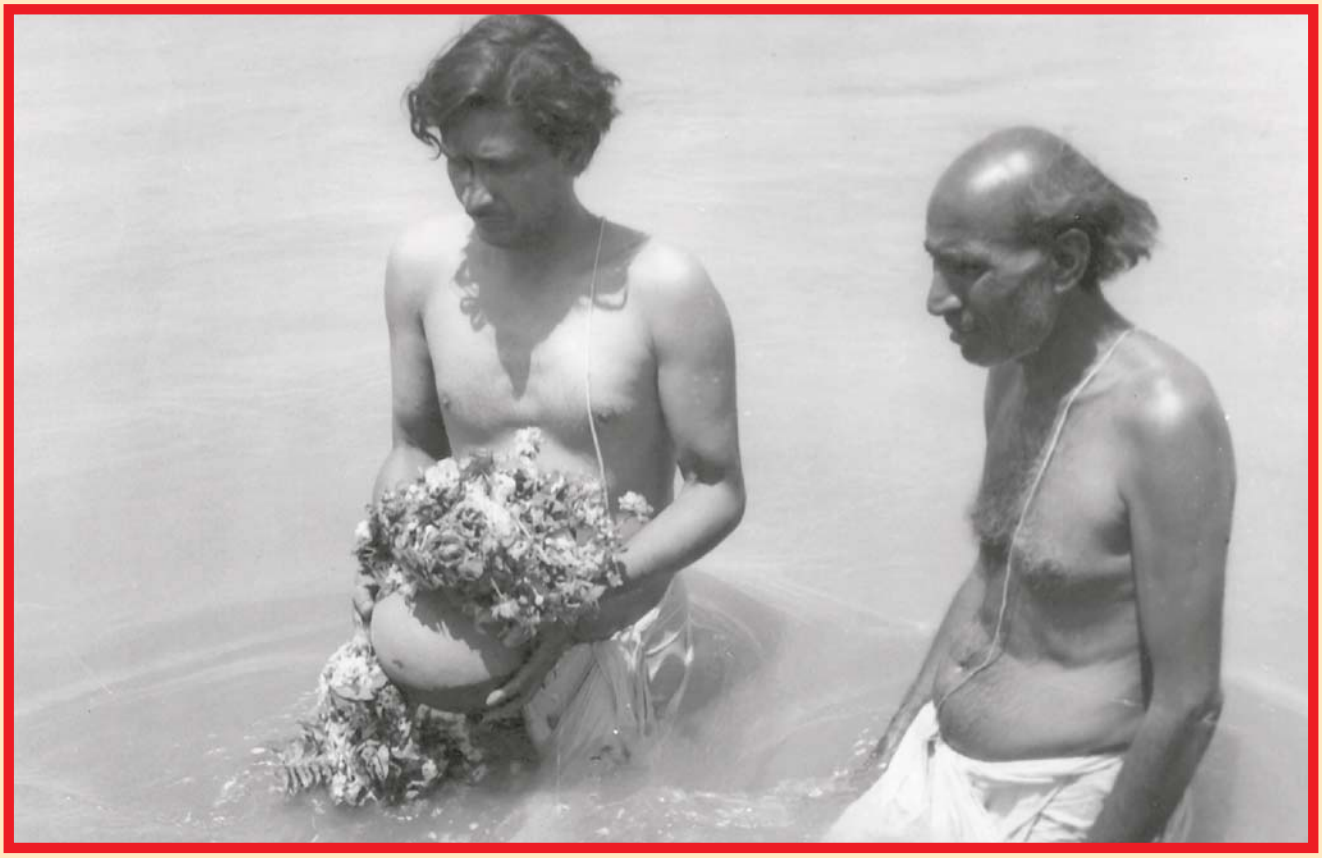

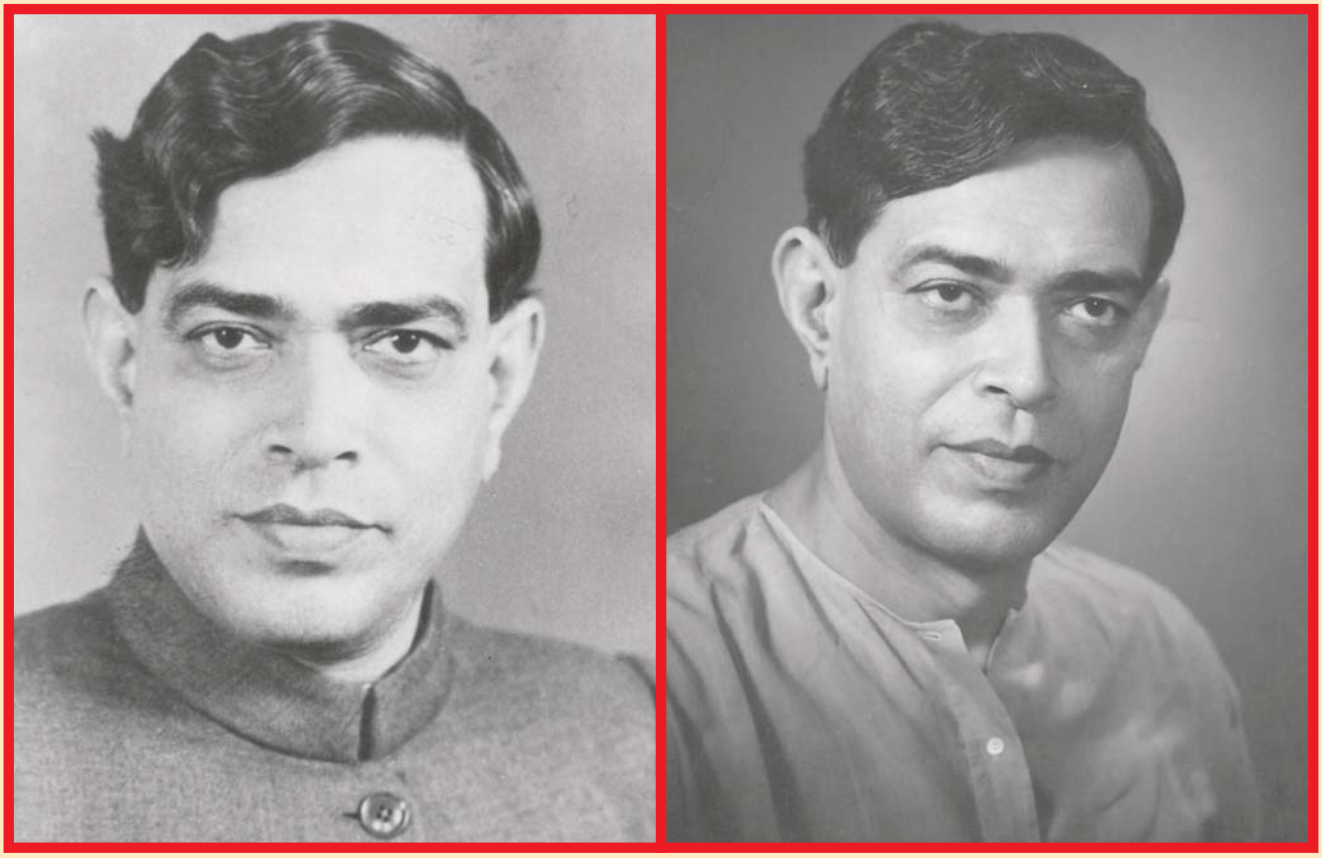

न्यास के सुनहरे पल...

राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' जन्मशताब्दी समारोह
स्थान : मावलंकर सभागार, रफी मार्ग, नई दिल्ली

वि रामधारी सिंह 'दिनकर' जन्मशताब्दी समारोह

स्थान : मावलंकर सभागार,
दिनांक : 21 सितम्ब

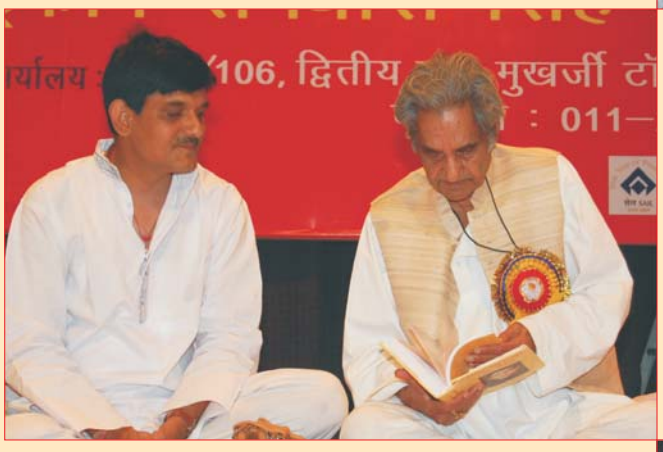
106, द्वितीय
मुखर्जी

राष्ट्रकवि
105/106, द्वितीय तल, मुखर्जी

राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दि
प्रधान
105/106
तल, मुख
वर, डॉ
दूरभाष :
27654

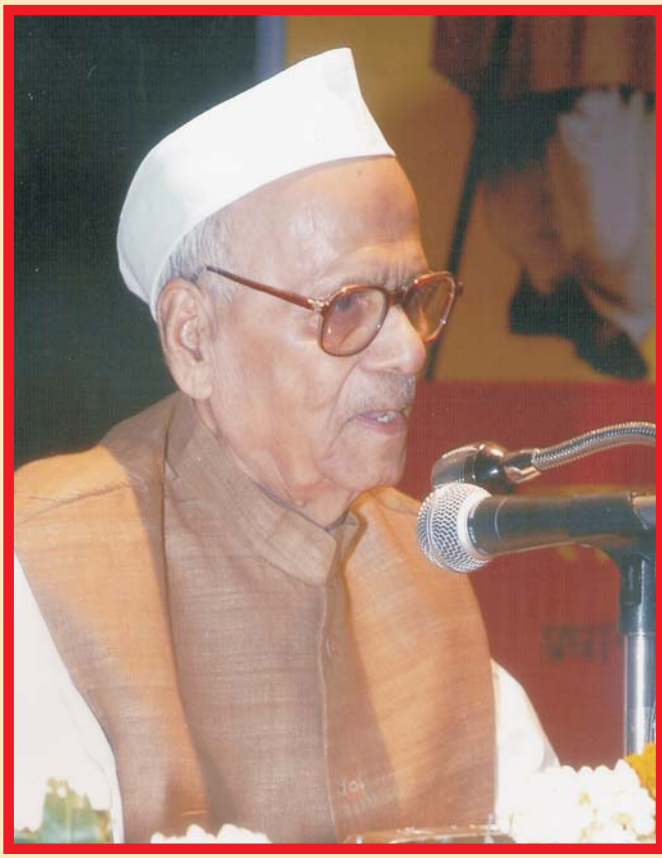

राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर'
के सुअवसर पर
अखिल भारतीय कवि सम्मेलन
स्थान : मावलंकर सभागार, रफी मार्ग, नई दिल्ली
दिनांक : 21 सितम्बर 2008, रविवार
आयोजक
राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' स्मृति न्यास
105/106, द्वितीय तल, मुखर्जी टॉवर, डॉ. मुखर्जी नगर, दिल्ली–110009
दूरभाष : 011–27654262, 47027661

4 नवम्बर 2008,

ल्ली–110009